जनवरी 2015 ❑ मूल्य: 25 रुपए

सामयिक वार्ता

मर्मों के धर्मी

अशोक सेकसरिया स्मृति अंक

अशोक सेकसरिया की कविताएँ

अशोक सेकसरिया की डायरियों में जहाँ-तहाँ बेतरतीबी से कविताएँ लिखी हुई मिलीं जिन्हें वे 'अपने से भी अधिक' छुपाकर रखते रहे। कुछ कविताओं में शीर्षक उन्होंने लगाए जरूर हैं लेकिन अधिकांश कविताएँ शीर्षक बिना हैं। जल्दबाजी में उनमें से चुनकर कुछ कविताएँ यहाँ छापी जा रही हैं।

एक भयंकर शोर में
डूबती है मेरी आवाज
डूबते हुए मैं मुक्त हो जाता हूँ
विलीन हो जाता हूँ
चला जाता हूँ रसातल में
जहाँ शांति है।

वे कितने झूठ लिख-बोल सकते हैं
यह मैं सोच भी नहीं सकता था—
मैं उन्हें पढ़ता हूँ तो
लगता है मैं अब कभी सोच भी न पाऊँगा
एक बिना सोच की दुनिया में
रहना ही मेरे भाग्य में बदा होगा
जीवन क्या मैं इतना सा
सत्य जानने के लिए जीया?

मैंने सोचा कविता लिखूँगा
सोचते ही हाल में पढ़ी एक कविता
याद आई
उसकी स्मृति का आभास अभी है
लेकिन उसमें दम नहीं है
कविता, लगता है निरर्थकता को
परास्त करने की एक कोशिश है
यह क्या कविता की परिभाषा बनेगी?

रोज लगता है मैं नहीं समझता
इस संसार का जटिलतर व्यापार
जो समझता हूँ, वह न समझता
तो शायद ज्यादा समझता
पर समझे बिना नहीं रहता

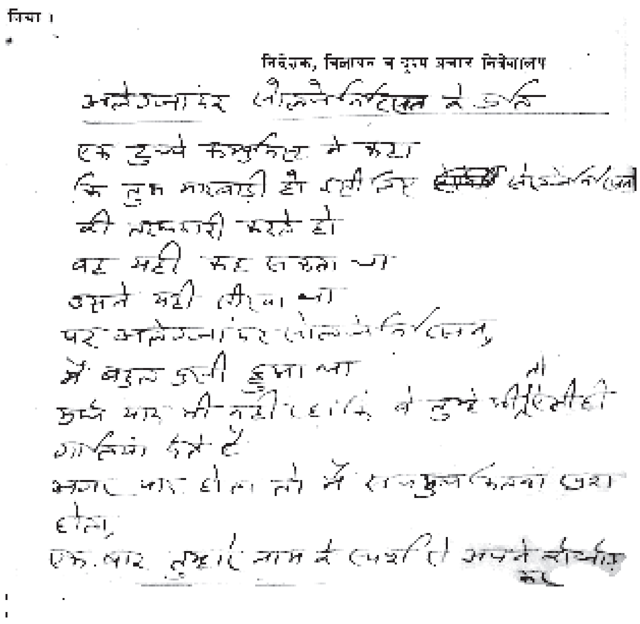

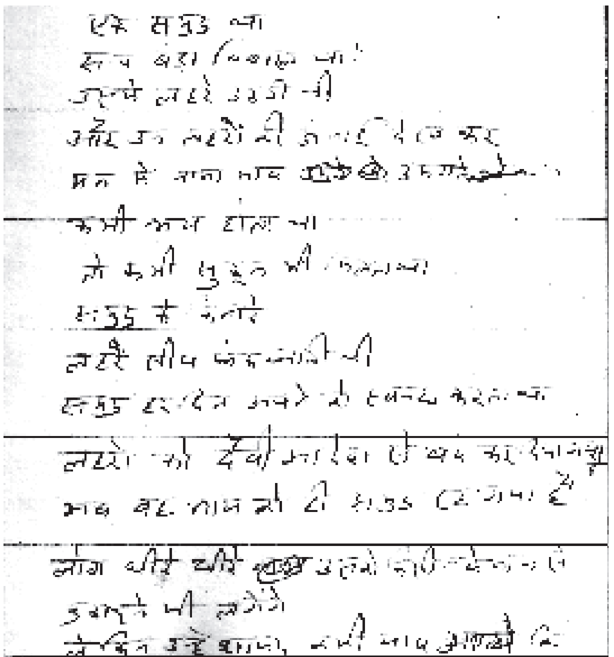

(कुछ कविताएँ तीसरे कवर पर)

सामयिक वार्ता

जनवरी 2015 वर्ष 38 अंक 5-6

संस्थापक संपादक
किशन पटनायक

संपादक मंडल
सच्चिदानंद सिन्हा (अध्यक्ष)
कमल बनर्जी, अफलातून, बाबा मायाराम,
संजय भारती, चंचल मुखर्जी (संयोजक)

संपादन सहयोग
लोलार्क द्विवेदी, संजय गौतम, प्रियदर्शन,
अरविंद मोहन, हरिमोहन, राजेंद्र राजन,
अरुण कुमार त्रिपाठी, मेधा, चंदन श्रीवास्तव

परामर्श मंडल
योगेंद्र यादव,
स्मिता, कश्मीर उप्पल

अतिथि संपादक
अलका सरावगी

अक्षर संयोजन
अंजलि मंडल

कार्यालय
द्वारा मुखर्जी बुक डिपो
पांडेय हवेली, वाराणसी-221005
फोन: 08004085923 (संपादन)
08765811730 (प्रबंध)
e-mail-varta3@gmail.com

सदस्यता शुल्क
वार्षिक शुल्क : 150/-, संस्थागत वार्षिक शुल्क: 200/-
पाँच वर्षीय शुल्क : 600/-, आजीवन शुल्क : 2000/-

खाता नाम - सामयिक वार्ता
या Samayik Varta
बैंक ऑफ बड़ौदा (Bank of Baroda)
शाखा- सोनारपुरा, वाराणसी
(Sonarpura, Varanasi (UP)
खाता संख्या 40170100005458
IFSC Code : BARB0SONARP
(यहाँ दूसरे B के बाद जीरो है, ओ नहीं।
S के बाद O(ओ)है)
MICR Code : 221012030
यहाँ खाता में पैसा जमा करने की सूचना ई-मेल
varta3@gmail.com अथवा मोबाइल
08765811730, 08004085923 पर अवश्य दें।

अशोक सेकसरिया स्मृति अंक

6 एक संत लेखक का जाना
सच्चिदानंद सिन्हा

8 चुप हो गई एक सत्याग्रही की आवाज
कृष्ण बिहारी मिश्र

10 मेरे शहर का एक दरवेश
कृष्ण बिहारी मिश्र

13 एक स्मरणांजलि
रमेशचंद्र शाह

16 अपना दर्द छिपा करते रहे सेवा
शिवानंद तिवारी

18 साठ साल की सहयात्रा
प्रयाग शुक्ल

22 मेरे ताऊजी
गौरव सेकसरिया

23 पारस पत्थर का गुम हो जाना
पुष्पेश पंत

25 उनकी उपस्थिति का आभास हमेशा बना रहेगा
कुँवर नारायण

26 हमारे 'लीविंग लीजेंड'
निर्मला शर्मा

28 सबके मर्मों का धर्मी
जवाहर गोयल

33 अपरिग्रही दाता
चंद्रभूषण चौधरी

34 मानस पटल पर एक जीवंत चित्र
रणजीत राय

35 कहानी-संग्रह की कहानी
अरविंद मोहन

37 संपादन-साधना
कश्मीर उप्पल

40 दूसरे के गुण निकालने का गुणी
विद्यासागर गुप्त

41 अशोकजी की चुहल
हरीश त्रिवेदी

44 भाई साहब, बिहार आंदोलन और वार्ता
बजरंग सिंह

48 जमीन पर धरना देता परमहंस
विजय बहादुर सिंह

49 मद्धिम आँचवाली मुस्कान
निशांत

51 दीनबंधु
बालेश्वर राय

55 अशोकांत
अशोक वाजपेयी

56 प्रिय अशोकजी
स्मिता

57 वह अस्त-व्यस्त खुला हुआ कमरा
अमित जालान

58 दया का दरिया
नवीन

60 जहाँ तलाश खत्म हो जाती है
अलका सरावगी

62 सादे से भी कम सादा कमरा
उदयन वाजपेयी

63 ड्रॉप आउट : अशोक सेकसरिया
मनोहर श्याम जोशी

64 बाबूजी
सुशीला राय

67 मेरे लिए भारत बदल गया
इमरै बंघा

68 परिष्कार का आसमान और मामूलियत की जमीन
शंपा शाह

70 मैंने अपने पिता को उनके मार्फत समझा
शर्मिला जालान

71 देवता क्या है हम नहीं जानते
बलाई चक्रवर्ती

72 सबके अपने अशोकजी
सुरेश शॉ

74 अशोकजी
विशाख राठी

75 हर-दिल अजीज
जसवीर अरोड़ा

76 अब किसे सुनाएँ अपनी कहानी
प्रीतीश आचार्य

79 मेरे दादाजी जैसा दुनिया में कोई नहीं
अवनींद्र कुमार राय

81 पिता से भी बड़े पिता
लालबिहारी मंडल

83 उन्हें जैसा जाना और समझा
प्रभा प्रसाद

84 हमारे गृह-देवता
यमुना केसवानी

85 सिगरेट के पैकेट पर लिखा पता
रत्नेश कुमार

87 बरगद समान विशाल हृदय
शिउली वनजा

88 कहीं गया नहीं हूँ मैं
संजय गौतम

90 कुछ यादें
प्रेमपाल शर्मा

92 एक महामानव का जाना
रामचंद्र राय

93 मेरी यादों में
अर्चना

94 वे नहीं होते, तो मैं क्या होता
गंगा प्रसाद

96 नानाजी की कहानी सच या झूठ
सारा भारती

अशोक सेकसरिया की दो कहानियाँ

97 किसी को भी मत बताना

100 दुखवा कासे कहूँ मोर सजनी

मूल्यांकन

104 वह जो समय और समाज था
प्रियदर्शन

106 'लेखकी' की कहानियों पर एक टिप्पणी
टी. विजयेंद्र

अशोक सेकसरिया : एक असमग्र छवि

अशोक सेकसरिया के लिए जीवन का धर्म उसके मर्म को जानना-समझना और बरतना रहा। उनके लिए राजनीति- संगीत -कला-साहित्य-संस्कृति, खेल-कूद और तरह-तरह के लोगों से उनके रिश्ते के केंद्र में हर क्षण यही बात रही। ये सभी क्षेत्र उनके लिए अलग-अलग नहीं बल्कि उस एक धूरी पर गुँथे हुए थे और इन सबके बीच एक नायाब सी ईमानदारी जिसके पार तक झाँका जा सकता था, उनके व्यक्तित्व का हिस्सा रही। 'ईमानदारी' वाली बात पर अशोकजी की एक बात का जिक्र करना वाजिब सा लगता है जिसे वे अक्सर कहा करते थे— मुहावरे में जो कहा गया है 'कथनी और करनी का अंतर', नए जमाने में यह मुहावरा पुराना पड़ गया है। अब अंतर 'कथनी और करनी' का नहीं 'सोचने और कहने' का है यानी आज का मनुष्य जो सोचता है वह कहता नहीं यानी वह जो कहता है दरअसल वैसा सोचता नहीं है।

अशोकजी अक्सर शब्दों के बिकाऊ होते जाने पर शोकग्रस्त होते थे। उनकी लपककर फर्श पर पड़ी 'डिक्शनरी' उठाकर बेचैन होकर सही अर्थ खोजने की छवि उनसे मिलनेवालों को मंजन करते हुए शीशे में दिखते अपने चेहरे की तरह याद होगी। लिखते हुए, संपादन करते और अनुवाद करते हुए उनकी 'हाड़तोड़' मेहनत का जिक्र आपको इस अंक में कई जगह मिलेगा। मुझे फोन कर इंटरनेट से देखकर अनेक प्रश्नों के उत्तर बताने के लिए फोन करते। उनकी ज्ञान-पिपासा असंभव, अपार और अथक थी।

अशोकजी का 'सादे से भी कुछ ज्यादा सादा' कमरा रेलवे के प्लेटफार्म की तरह सदा खुला था। जिसमें उनकी सुविधा-असुविधा की परवाह न करते हुए हम जैसे लोग जब-तब चले जाते थे। अशोकजी की तरफ से प्राथमिकता उसे मिलती थी,जो सबसे निरीह, जरूरतमंद या शोषित है। कई बार अपने को सबसे अंतिम पंक्ति में पाकर हुए क्षोभ की याद रत्नेश कुमार के लेख को पढ़ते हुए जब आई, तो मन ग्लानि से भर उठा। सच कहूँ तो आँसू आ गए। अब लग रहा है कि तीस सालों के सान्निध्य के बावजूद अशोकजी को समझना बाकी रह गया था। लेकिन यह सिर्फ इसलिए हुआ कि हम अशोकजी की तरह आत्मभर्त्सना की ईमानदारी कभी बरत नहीं सके, न उनकी तरह अहंरहित हो सके।

अशोकजी ऐसे ही थे। साधारण से साधारण बात पर ऐसी बालसुलभ उत्सुकता दिखाते, जैसे खुद एकदम 'घोंघाबसंत' हों। उनके सौजन्य और परदुखकातरता की मिसालें आपको इस अंक में जहाँ-तहाँ एक सूत्र की तरह मिलेंगी, पर कोई यह न समझले कि अशोकजी को 'चराया' जा सकता था। उनकी नितांत 'वेध्य और वध्य संवेदना'(रमेशचंद्र शाह), उनका बिलकुल निष्कवच होना सामनेवाले को भी उतना ही वध्य, वेध्य और निष्कवच बनाता था। उनके बिना कुछ कहे भी सामनेवाला भाँप लेता था कि यह शख्स बेहिसाब जिद्दी और कठोर आलोचक है। अशोकजी को उनके मूल्यबोध से कोई टस-से-मस नहीं कर सकता था—न उनकी अपनी तकलीफें और न किसी और की। इस फक्कड़-अवधूत-संत- 'ड्रॉप आउट'- सत्याग्रही को कोई किसी भी मूल्य पर खरीद नहीं सकता था। बस वह अपनी करुणा का मारा जरूर था। इसके कारण उसने अपने परिवार से लेकर साहित्यिक संस्थाओं और समाज का न जाने कितना अपमान सहा।

अशोकजी के पुराने मित्र विजयेंद्र ने उनकी कहानियों पर लिखी एक सारगर्भित टिप्पणी में उनके पूरी तरह गैर-रोमांटिक गद्य की बात कही है। वाकई अशोकजी की अपनी जीवनशैली की तरह ही उनका गद्य बिलकुल बिना लाग-लपेट का, छीला हुआ, अलंकार रहित गद्य है। किसी भी तरह की बनावट उसे असह्य है। बल्कि उसे हर वक्त यह डर है कि वह कुछ और न दिख जाए, जो दरअसल वह है नहीं। उसकी अथक चेष्टा है कि वह उतना ही दिखे, जितना वह है। न कम, न ज्यादा। ऐसे अशोकजी पर लिखना किसी के लिए बहुत आसान नहीं रहा होगा। वे तमाम लोग इसमें इसीलिए आने से रह गए हैं। अशोकजी की बड़ी-सी दुनिया में प्रखर बौद्धिक, संवेदनशील रचनाकार, जुझारू राजनीतिज्ञ, जीवन के संघर्ष में रोज पीटे जानेवाले बहुत से साधारण लोग और इन सब कामचलाऊ खाँचों में न अटनेवाले बहुतेरे लोग शामिल थे जिन सबके लिए उनके एक अपने अशोकजी रहे होंगे। उम्मीद है कि उन सबको किसी-न-किसी वाक्य को या शब्द को पढ़कर ऐसा लगेगा कि यह बात बिलकुल उसी तरह कही गई है, जैसा वे सोच रहे थे।

अशोकजी ने शब्दजीवी दुनिया में बहुत लोगों को बहुत कुछ बनाया। पर बनाने की जादुई कला उनक पास ऐसी थी कि न तो बनानेवाले को अहसास कि वह कुछ बना रहा है और न बननेवाले को, कि कोई उसे गढ़ रहा है। आँखवाले को देखने की आँख क्या सहज ही दी जा सकती है? कोई देखता तो यही लगता कि वे शिष्य हैं और सामनेवाला गुरु। इस अंक में आप पाएँगे कि वे किस तरह हम सबके प्रूफ पढ़ते रहे और किस तरह अपने-आप को सर्वसुलभ और सर्वदा सुलभ पाठक बनाए रहे।खुद उनका उपन्यास हमारी आशाओं के बावजूद न उनके जीते-जी लिखा गया न उनके मरने के बाद उनके कागजों में मिला। अलबत्ता उनका एक नया रूप जरूर प्रकट हुआ— कवि रूप। अशोकजी ने अपने को, अपने लिखे हुए को छुपाए रखने की निरंतर कोशिश की लेकिन फिर भी वे पूरी तरह न छुपा सके। अपनी कविताओं को छुपाने की उन्होंने शायद प्राणपण कोशिश की होगी। अभी तक मिली उनकी कविताओं में से कुछ को इस अंक में छापना उनको जाननेवालों के लिए एक ओझल संसार को सामने लाना है।

इस अंक में कुछ छोटी-छोटी टिप्पणियाँ शामिल की गई हैं, जिनको पढ़ने पर आप खुद समझ पाएँगे कि उनका महत्व क्या है। कृष्णा सोबती और मनोहर श्याम जोशी की टिप्पणियों का आस्वाद शाश्वत है। बेशक वार्ता का यह अंक अपने-आप में संपूर्ण नहीं है, पर अंक निकालने में अनपेक्षित देर होने के बावजूद समय के अभाव का अहसास बना रहा है।

कई साथियों के अशोकजी के प्रति हार्दिक और मार्मिक प्रेम, सहयोग और शुभेच्छा के बिना यह अंक बनाना असंभव था। अशोकजी की एक अप्रकाशित कहानी 'किसी को भी मत बताना' छापना अंक की उपलब्धि है।

— अलका सरावगी

एक संत लेखक का जाना

सच्चिदानंद सिन्हा

अशोक सेकसरिया का जाना एक ऐसी रिक्तता छोड़ गया है जिसकी असली गहराई निर्धारित कर पाना मुश्किल है। बचपन में मैंने स्वामी रामकृष्ण की एक तस्वीर देखी थी जिसमें वे कुत्ते आदि कुछ जीवों से घिरे, खाली बदन, निश्छल और आत्मीय भाव से उन्हें देख रहे हैं। अशोक सेकसरिया अपने व्यवहार में मुझे सदा रामकृष्ण की उस तस्वीर की याद दिलाते थे, अपने प्रति लापरवाह और जो सामने हो उसके प्रति सहानुभूति का भाव। अपने रहन-सहन और स्वास्थ्य के प्रति लापरवाह पर संपर्क में आनेवाले दूसरे लोगों की समस्याओं से बेचैन हो जानेवाले व्यक्ति। जो भी संभव लगता दूसरों के लिए करने को तैयार रहते। सबसे बढ़कर यह कि जो कुछ किया उसका प्रदर्शन करना या एहसास जताना उनकी कल्पना से बाहर था। व्यवहार की सरलता ऐसी थी कि सब पर अपना छाप छोड़ जाती थी। एक बार वे मुजफ्फरपुर में हम लोगों के साथ ठहरे थे। उनके जाते ही मेरी माँ ने चकित भाव से कहा कि वह तो एकदम बच्चों जैसे भोले-भाले हैं।

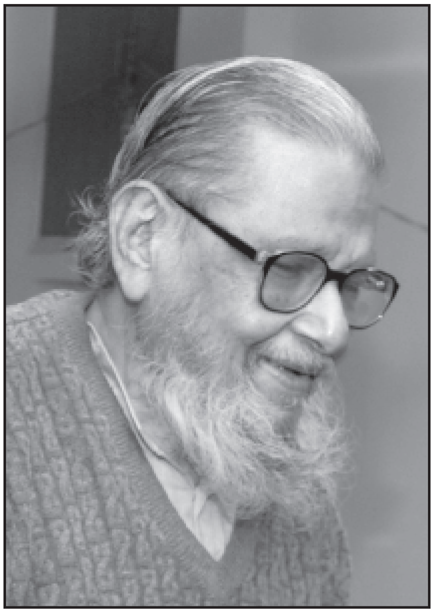

साहित्य के क्षेत्र में उनका लेखकीय योगदान महत्वपूर्ण रहा है। पर उन्होंने कितना काम किया है इसका अंदाज लगाना मुश्किल है क्योंकि उन्होंने जो कुछ किया उसे छिपाने की ही कोशिश की। इसलिए उनका लेखन चर्चा से बाहर रहा। उन्होंने कहानियाँ लिखी,क्रिकेट पर किताब लिखी, और विपुल मात्रा में गंभीर लेखों का अनुवाद किया। समसामयिक समस्याओं पर कुछ अत्यंत गंभीर लेख लिखे। वार्ता में कश्मीर समस्या पर उनका लंबा लेख इसका एक उदाहरण है लेकिन प्राय: लेखक और अनुवादक गुमनाम रहे।

प्रशंसा उन्हें कितना विचलित करती थी इसका एक उदाहरण मुझे अपनी ही एक किताब के संदर्भ में देखने को मिला। मेरी पुस्तक 'द अनार्म्ड प्रोफेट' की भूमिका में मैंने दो तीन वाक्य उनके संबंध में लिख दिया था। उनमें उनसे हुई चर्चा से चीजों को समझने में मदद का जिक्र था। इससे वे इतना विचलित हुए कि उन्होंने मुझसे कहा कि उनके लिए इन पंक्तियों को काटे बगैर उस पुस्तक को किसी को दिखाना मुश्किल होगा। उन्होंने आपातकाल पर मेरी पूरी पुस्तक 'एमर्जेंसी इन पर्सपेक्टिव' का अनुवाद 'वार्ता'के लिए कर दिया जो बाद में 'भारत में तानाशाही' नाम से पुस्तक रूप में भी छपी। लेकिन कहीं अनुवादक का नाम नहीं था। लेकिन यह तो सिर्फ एक अनुवाद की बात हुई। वे लगातार लोगों के लिखे को ऐसा ही बिना नाम बताए अनुवाद छपवाते रहे; और अनुवाद भी विलक्षण होते थे।

एक फ्रांसीसी कहावत है जिसका अर्थ है 'अनुवाद करना गुमराह करना है।' इस कहावत का तात्पर्य है कि अनुवाद में असली अर्थ प्राय: पकड़ से बाहर रह जाता है। इस संभावना को ध्यान में रख,रचना की मूल भावना को अधिक से अधिक ईमानदारी से व्यक्त कर पाने का वे हर संभव प्रयास करते रहे। मैंने उन्हें एक वाक्य का अनुवाद करने में, जिसका अर्थ पकड़ से बाहर लगता था, रात भर सिगरेट फूँकते जगे रहते देखा है। भाषा और भाव के प्रति अनुवादकों में ऐसी ईमानदारी शायद ही दिखाई देती है।

वे एक अच्छे कथाकार थे। लेकिन वर्षों तक उनके करीबी मित्र भी यह बात नहीं जान पाए थे, क्योंकि जो कहानियाँ छपती वे एक छद्म नाम 'गुणेंद्र सिंह कंपानी' के नाम से। इसका रहस्योदघाटन कैसे हुआ उसका एक रोचक वर्णन प्रख्यात लेखिका कृष्णा सोबती ने अपने एक संस्मरण में किया है। बाद में अरविंद मोहन ने उनकी कुछ कहानियों को ढूँढ़कर 'लेखकी' नाम से एक संकलन में छपवाया। लेकिन कहानियों से कहीं अधिक उनके विचार गंभीर लेखों में व्यक्त हुए हैं जिनकी संख्या का अंदाज लगाना मुश्किल है। क्योंकि अधिकांश बिना लेखक के नाम के छपे हैं। परिचितों को वे प्राय: लंबी चिट्ठियाँ लिखते थे और उनके विचार और उनकी चिंताएँ इनमें विस्तार से व्यक्त होती थीं। इन चिट्ठियों के संकलन और संपादन से एक बहुमूल्य साहित्य की उपलब्धि हो सकती है।

सामयिक वार्ता के दिल्ली से प्रकाशन की छोटी अवधि को छोड़कर अपने प्रकाशन की पूरी अवधि में उन्हीं की पत्रिका रही। हालाँकि घोषित रूप से इस दौर में वे संपादक का एक सदस्य भर रहे। इस काल में वे बहुत कुछ अनाम लिखते रहे।

उनके लेख भी अनोखे होते थे। प्रायः इन लेखों के अंत में वे एक-आध वाक्य ऐसा दे देते थे जिसमें लेखों का सारतत्व आलोकित हो जाता था। शायद यह गुण एक कहानीकार का था। उन्होंने वार्ता में एक लंबा लेख सिगरेट कंपनियों के विज्ञापन के तौर तरीकों और उन हथकंडों पर लिखा था जिनके जरिए ये कंपनियाँ लोगों को अपने जाल में फँसाती हैं। उस लंबे लेख के अंत में उन्होंने यह वाक्य जोड़ दिया : इस लेख को लिखने के क्रम में मैंने चालीस सिगरेट पी ली है। इस एक वाक्य से उन्होंने लोगों पर इन कंपनियों की पकड़ का एहसास नाटकीय ढंग से करा दिया और सिगरेट के प्रति अपनी कमजोरी का खुला ऐलान भी। अंग्रेजी साहित्य और अंग्रेजी अनुवाद के माध्यम से दूसरी भाषाओं के साहित्य का उन्होंने गंभीर अध्ययन किया था लेकिन उनको देखने या उनके व्यवहार से यह कभी जाहिर नहीं होता था कि इस आदमी ने इतना पढ़ा होगा जब तक आप उनसे किसी गंभीर चर्चा में नहीं उलझते। ऐसी चर्चा के दौरान ही आप को पता चलता कि जिन लेखकों या पुस्तकों के उद्धरण से आप इन्हें प्रभावित करना चाहते थे वे तो उन्हें मालूम ही थे और आप कुछ नया नहीं कह रहे हैं।

दिल्ली छोड़ अपने गाँव आ जाने के बाद तो वे लगभग अकेले आदमी थे जिनसे मैं किसी विषय पर राय लेता या बात करता। कुछ भी लिखकर अगर उन्हें दे देता तो निश्चिंत रहता कि इसमें जो त्रुटियाँ होंगी उन्हें वे ठीकठाक कर सँभाल लेंगे। उनके जाने से मेरा यह भरोसा खत्म हो गया है कि मेरी लेखकीय भूल सुधारनेवाला कोई बैठा है जो आसानी से उपलब्ध है।

ऐसी प्रतिभाओं को जो अवकाश के अभाव में कभी प्रकट नहीं हो पातीं, प्रोत्साहित कर आगे लाना तो जैसे उनका मिशन रहा हो। घरेलू काम करनेवाली एक महिला बेबी हालदार की आपबीती के हिंदी अनुवाद 'आलो आँधारि' को संपादित कर प्रकाशित करा उन्होंने एक उच्च स्तर का साहित्य हिंदी पाठकों को उपलब्ध कराया। इसी तरह प्रोत्साहन दे बिहार के एक पिछड़े समूह की ग्रामीण महिला, सुशीला की आपबीती को एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित करवाया। इसमें सतह के नीचे की ग्रामीण जिंदगी के अनछुए पहलू रोचक ढंग से उजागर हुए हैं। पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रोत्साहन एवं सहायता दे उन्होंने कितने लोगों को आगे बढ़ाया, यह बतलाना मुश्किल है। ऐसे उपकृत कितने लोग आज पत्रकारिता के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान कर रहे हैं। अब अलविदा कह ऐसे अनेक लोगों के संसार को उन्होंने सूना कर दिया है।

उस शाम कनाट प्लेस के गोलाकार आसमान पर काले बादलों का ग्रे शामियाना तना था। कजरारी बदलियाँ एक-दूसरे से होड़ लगाए थीं। देखते-देखते उमड़ते-घुमड़ते पनीले बादल गरजने लगे। बिजली कड़कने लगी। पैदल चलनेवाले पारपथों और ट्रैफिक से गहमती सड़कों को फुर्तीली चाल से मापने लगे।

हशमत हैमिल्टनवाले बरामदे में से निकलकर कुछ ही कदम आगे बढ़े थे कि बताशों की तरह मोटी-मोटी बूँदें टपकने लगीं। वैंगर्स के आगे कन्फेक्शनरी की चाकलेटी गरमीली गंध नथुनों से सिर पर लहराती होंठों को ललचाने लगी। मन हुआ, सीढ़ियाँ चढ़ टेबलों की भीड़ में जा मिलें। मगर नहीं—हमने तो दोस्तों से मिलने का वक्त 'वोल्गा' पर तय किया था।

ऑर्डर हुआ— चाय,कॉफी,सैंडविच, चीज़-पकौड़ा।

दोस्तों का गुच्छा— प्रयाग शुक्ल,अशोक सेकसरिया और प्रबोध कुमार।

कहानियों की चर्चा होने लगी। उन दिनों कहानी की राजनीति आज की-सी पेचीदा और बारीक नहीं थी। किसी कहानी-विशेष को अच्छा कहने से न कोई कतराता था और न कंधे सकुचाता था। न अहंकारी मुद्रा में सिर्फ मुँह बिचकाता। हम लोगों के लिए एक अच्छी कहानी लिखी जाना अभी भी साहित्यिक घटना थी। प्रतिद्वंद्विता में एक-दूसरे को सिर्फ मात देने का ही बहाना नहीं था। गुणेंद्र कंपानी की लंबी कहानी का जिक्र हुआ। कहानी पसंद की गई थी। उसके लिए हम लोगों में उत्साह था और शंसा थी। हमने पूछा—कौन साहिब हैं ये गुणेंद्र कंपानी!

प्रयाग चुपके-चुपके मुसकुराते रहे। फिर अशोक की ओर देखा और हमसे कहा—ध्यान से देखिए, क्या अशोक सेकसरिया कुछ-कुछ गुणेंद्र कंपानी नहीं लगते हैं।

हम अशोक सेकसरिया को देखने लगे और पसोपेश में पड़ गए। लगने से भला क्या मतलब। यार, इस गुत्थी को सुलझा डालिए।

अशोक अजीब सरकती-सी हँसी हँसने लगे।

चुप्पे प्रयाग नटखट हो बोले—किस्सा कोताह यह कि अशोक सेकसरिया ही गुणेंद्र कंपानी हैं।

ऐसा है तो परेशानी ही क्या है! इस कहानी की मार्फत हम एक अच्छे कहानीकार को स्वीकार करते हैं। इस हस्ताक्षर द्वारा लिखे गए को हम उत्सुकता से पढ़ेंगे। अशोक अपनी अन्य कहानियों के बारे में भी बताएँ।

– कृष्णा सोबती

'हम हशमत-2' में संकलित 'एक शाम पुरानी' से एक अंश

चुप हो गई एक सत्याग्रही की आवाज

कृष्ण बिहारी मिश्र

आठ दशक की लोकयात्रा पूरी कर ली थी अशोकजी ने। यानी बुढ़ौती तो आ ही गई थी। मगर अशोकजी की जीवनप्रियता और रचनात्मक सक्रियता पूरी तरह जवान थी। इसलिए उनका यकायक आँख मूँदकर सदा के लिए चुप हो जाना कदाचार के सघन तमस से निरंतर आहत दुनिया के निरुपाय लोगों के लिए असाधारण त्रासदी है जैसे एक बड़ा सहारा अदृश्य हो गया, जैसे सुरक्षा की आश्वस्ति का आत्मीय संबल टूट गया।

इधर युवा मित्र वार्ता-संपादक सुनील, जिनकी मृत्यु ने उन्हें भीतर से तोड़ दिया था और फिर ज्योत्स्ना मिलन का यकायक संसार छोड़ना,ज्येष्ठ बंधु कृती-संपादक नारायण दत्त जी की आकस्मिक मृत्यु अशोकजी के लिए बेहद त्रासद थी। पारिवारिक और सामाजिक परिदृश्य में मूल्यों का क्षरण उनको विक्षिप्त कर देता था। यातना असह्य हो जाती थी तो थोड़ी राहत के लिए बार-बार सोनेवाली टिकिया खाने लगते थे।

मूल्यों की गिरावट की गति जितनी तेज नजर आती थी, अशोकजी की पीड़ा उतनी ही गहराती थी और एक अजीब विक्षेप उनके स्नायुतंत्र को छिन्न-भिन्न कर उन्हें बुरी तरह से थका देता था। सिगरेट और सोनेवाली टिकिया एकमात्र उपचार थे उनके पास।

सुचेता कृपलानी और सुभाष बोस के अग्रज शरत् बोस की अशोकजी उच्छ्वसित कंठ से प्रशंसा करते थे तो उसके मूल में उनकी राजनीति नहीं, धवल चरित्र और दायित्व-निष्ठा थी। अशोकजी के मानस और जीवनदर्शन को समझने के लिए उन चरित्रों को सटीक कोण से समझना जरूरी है। जिनकी अक्सर वे प्रदूषित भीड़ से अलगाकर श्लाघा सहित चर्चा करते थे। समाजवादियों में जयप्रकाश नारायण की भद्रता-शालीनता की चर्चा करते वे थकते नहीं थे। जिस राजनीतिक दल से प्रतिबद्ध थे, उसके दार्शनिक थे राम मनोहर लोहिया और किशन पटनायक। किशन जी के आदर्श लोहिया थे, मगर अशोकजी किशनजी को अपना सजातीय मानते थे। लोहियाजी की किंचित अमर्यादित निजता पर जब तब अंतरंग लोगों के बीच तीखी टिप्पणी करते उनका नैसर्गिक संकोच उन्हें दबाता नहीं था। इसी प्रकार अज्ञेय और जयप्रकाश नारायण के आभिजात्य पर अन्यथा टिप्पणी करते फकीर मिजाज के अशोकजी को मैंने कभी नहीं सुना। अज्ञेय की समृद्ध कर्म-साधना और प्रातिभ उत्कर्ष के प्रति उनकी श्रद्धा का स्तर बहुत ऊँचा था। इसलिए उन पर फूहड़ कटाक्ष करनेवालों से उनके संस्कार को आघात लगता था। किसी नामवर पुरुष का चारित्रिक मूल्यांकन करते अशोकजी शील को वरीयता देते थे।

अज्ञेयजी से उनका नैकट्य नहीं था। शायद परिचय भी नहीं। अपनी साध एक बार मेरे सामने प्रकट की थी। 1986 में मैथिलीशरण गुप्त शताब्दी समारोह में अज्ञेयजी का बीज वक्तव्य सुनकर अशोकजी के मन में सहज इच्छा जगी थी कि अज्ञेयजी से मिलकर बताऊँ कि मैं आपके साहित्य का पाठक हूँ पर , संकोच इतना गहरा कि उनसे मिल कर इतनी सी बात कहना उनके लिए संभव न हो सका। अशोकजी को प्रसाद और अज्ञेय की कोटि का हिंदी में दूसरा कोई रचनाकार नहीं दिखता था। यद्यपि अपने समय के पांक्तेय लोगों से उनका अंतरंग रिश्ता था। मारवाड़ी समाज की विशिष्ट विभूति के रूप में जमनालाल बजाज और भागीरथ कानोडिया को अशोकजी अक्सर श्रद्धा सहित स्मरण करते थे, यद्यपि अपने पिता के प्रति उनके हृदय में गहरी श्रद्धा थी।

विशिष्ट बौद्धिक अशोक सेकसरिया सबसे अधिक तथाकथित बौद्धिकों से ही चिढ़ते-खीझते थे। जिसके हीन आचरण से चिढ़ते थे, उसके प्रति भी घृणा नहीं, उदासीनता का भाव रहता था। जिसे चित्त से उतारना कहते हैं कुछ वैसी मनोदशा और मुद्रा, मगर जिनको अपना समझते थे उनके हृदय में जिनके लिए प्रेम था, उनके शील का हल्का स्खलन उन्हें पागल बना देता था। और गहरी पीड़ा से स्वयं दहकने लगते थे। शायद यह उनकी नैसर्गिक प्रकृति थी या सत्याग्रही महात्मा गांधी की आत्मशुद्धि की अनुशासन-चर्या का प्रभाव था या स्वकीय जीवन-चर्चा। उनके अत्यंत प्रिय थे श्री योगेंद्रपाल सिंह, उनके राजनीतिक हमसफर, जिनकी परदुखकातरता और मानवीय गुणों की मुग्ध कंठ से प्रशंसा करते थे। मेरी कुटिया में, जिसे वे गहरे स्नेह से 'घोसला' कहते थे, उनकी आवाजाही शुरू हुई। अधिकारपूर्वक छोटे-मोटे दायित्व सौंपने लगे थे। 'बालेश्वरजी को व्याकरण का संस्कार करा दीजिए, आपके प्रति उसकी बड़ी श्रद्धा है, बड़ा संवेदनशील है, 'लालबिहारी मंडल को आपके पास भेज रहा हूँ,' 'मनजी पांडे की जरूरी सहायता कीजिए, अभावग्रस्त है। नाती को पोस रहे हैं' और मैंने सदा कोशिश की कि अशोकजी की संवेदना को मेरी ओर से धक्का न लगे और उनका आग्रह अनुत्तरित रहे। किसी असमर्थ आदमी को थोड़ा भी सहारा मिलते देखकर अशोकजी खिल जाते थे, और सहयोगी के प्रति कृतज्ञता से इतने विनीत हो उठते थे, जैसे उनकी आंतरिक साध किसी ने पूरी कर दी हो। इसी तरह अपने किसी खास और नामवर की हीनमन्यता तथा हल्के

चारित्रिक स्खलन को लक्ष्य कर खीझते हुए गहरी उदासी में डूब जाते थे, जो जितना करीब होता था अशोकजी की खिन्नता उतनी ही गहरी होती थी। जब-तब मेरे हल्के आचरण ने भी उनके मानस को खरोंचा था। मगर प्रेम इतना गहरा कि मेरे पक्ष में किसी बड़ी हस्ती को टोकते उन्हें संकोच नहीं होता था और दुर्नीति तथा अनौचित्य के प्रतिरोध में सत्याग्रह व्रत शुरू करते थे। अपने साथ खड़े होने के लिए हाँक लगाते थे। मेरे प्रति अशोकजी के भरोसे का यह स्तर था और उनका सहयात्री होना मेरी मूल्यवान उपलब्धि थी।

तथ्य है कि अशोकजी का सत्याग्रह कभी हारा नहीं। पूँजीतंत्र की अमानवीय लीला के प्रतिरोध में उनका सत्याग्रह सक्रिय था। यह उनके उज्ज्वल चरित्र का ही प्रताप था कि उनकी लड़ाई में उनके साथ सत्याग्रहियों की बड़ी संख्या खड़ी हो जाती थी। अपने सौम्य आचरण से अशोकजी अपने साथियों को सत्याग्रह का प्रशिक्षण देते थे। इसी प्रकार निरक्षर लोगों को विद्या-ज्योति के विरल आस्वाद से संपन्न करना कदाचित् एकमात्र धर्म था उनका। अपने धर्म के प्रति अशोकजी बेहद संवेदनशील थे। बेबी हालदार और सुशीला राय से उनके दु:ख-सुख की कथा लिखवाकर कठोर आयास से और उसे माँज-धोकर पुस्तक का रूप दे उन्होंने प्रकाशित कराई। अभावग्रस्त लोगों के दुर्भाग्य-मोचन के लिए वे कई भूमिकाओं पर सक्रिय थे।

किसी असमर्थ आदमी को थोड़ा भी सहारा मिलते देखकर अशोकजी खिल जाते थे, और सहयोगी के प्रति कृतज्ञता से इतने विनीत हो उठते थे, जैसे उनकी आंतरिक साध किसी ने पूरी कर दी हो।

संपादन-कला में अत्यंत दक्ष अशोकजी अपनी बड़ी दीदी पन्ना देवी पोद्दार के दो संस्मरण निबंध लिए मेरी कुटिया में एक दिन पहुँचे। दीदी के लेख हैं, इन्हें संपादित कर कहीं छपवा दीजिए। अशोकजी के प्रस्ताव ने मुझे चौंकाया था, आग्रह अशोकजी का था, जो मेरी ओर से अनुत्तरित नहीं रह सकता था और राँची की 'घर' पत्रिका में दीदी के लेख को प्रकाशित देखकर अशोकजी खिल उठे थे। फिर एक दिन गहरी पीड़ा के साथ बोले,'देखिए कृष्ण बिहारीजी, संवेदना का स्तर कितना गिर गया है, दीदी के लेख को न तो उसके घर में किसी ने पढ़ा, न ही बाबूजी के परिवार में किसी ने देखा'। उनकी पीड़ा उनके उदास चेहरे की रेखाओं पर मुखर थी और एक दिन अपराह्न में मेरे यहाँ पहुँचे। विशेष प्रयोजन से आए थे। कहने लगे 'दीदी आपसे मिलना चाहती है, किसी दिन समय निकालिए।' 'आप जब कहें चलें।' स्वनामधन्य पिता की ज्येष्ठ संतान होने के नाते श्रीमती पन्ना देवी पोद्दार को महात्मा गांधी, विश्व कवि रवींद्रनाथ ठाकुर, माता आनंदमयी, जमनालाल बजाज जैसे विश्वख्यात देश की शीर्ष विभूतियों के अंतरंग सानिध्य को जिसे सहज ही सौभाग्य मिला हो, उससे मिलने-बतियाने का मूल्यवान सुयोग कौन अभागा गँवाना चाहेगा! सो मैंने उल्लसित कंठ से कहा, 'जब आप कहें चलें।' आज आपको असुविधा न हो तो आज चलें और दीदी के घर हिंदुस्तान पार्क उसी दिन ले गए। मेरा सौभाग्य कि मुझसे मिल-बतियाकर दीदी प्रीत हुई और एक अंतराल के बाद अशोकजी दीदी के आदेश से विनोबा ग्रंथावली ढोकर मेरे यहाँ पहुँचाने लगे। दीदी का आशीर्वाद मुझ तक पहुँचाने अशोकजी को बस की भीड़ से धक्का खाते मेरे द्वार आना पड़ा था।

उनकी दुनिया के लोग इस प्रेरक तथ्य को जानते हैं कि उनकी दृष्टि में ब्राह्मण और हरिजन में कोई भेद नहीं था पर, सत्य यह भी है कि उनकी पक्षधरता नि:स्व और हरिजन से जुड़ी थी। उन्हीं के साथ खड़े होते थे। यह उनके शील और विवेक का स्वकीय पक्ष था और उनका सबसे बड़ा दु:ख था नारी जाति और शिशुओं की अवमानना। नारी जाति के प्रति अप्रतिम सम्मानशील अशोकजी भारतीय मर्यादा के प्रति अतिशय आग्रहशील थे। इस बिंदु पर वे महात्मा गांधी के पथनुगामी थे, समाजवादी नायक डॉ. लोहिया की जीवन-चर्या पूरी तरह स्वीकार्य नहीं थी उनके संस्कार को।भारतीय समाज के अनुशासन छंद के प्रति अशोकजी सदा सचेत-संवेदनशील रहते थे।

अपने कर्म-धन्य पिताजी श्री सीताराम सेकसरिया के प्रभाव-प्रताप तथा अपनी प्रतिभा और पुष्ट-शील के आधार पर अशोकजी उस ऊँची जमीन को सहज ही उपलब्ध कर सकते थे, जिसे हथियाने के लिए कैसे घिनौने आचरण करते हैं विद्या के सौदागर। मगर तब अशोकजी, अशोकजी न रह जाते, सामान्य और विशिष्ट श्रेणी के अपने संस्कारी मित्रों का भरोसा गँवा देते, रोशनी की तलाश में दिशाहारा वर्ग का कोई सरल मानुष उनके दरवाजे दस्तक देने न जाता। तब अशोकजी का परिवार सिकुड़ जाता। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। अशोकजी शेष-शेष तक अशोकजी बने रहे और बुढ़ौती के बावजूद सक्रिय बने रहे। उनके जागरूक विवेक ने उन्हें शुरू में ही सचेत कर दिया था कि अपने संसार का विश्वास गँवा देने पर आदमी जीने का भ्रम जीते हुए मर जाता है जितने सहज-सरल और सहृदय थे अशोकजी उतने विचक्षण थे। करीबी लोग जानते हैं कि अशोकजी लोगों की घिनौनी चतुराई और पाखंड को सटीक रूप में समझते थे।

जीवन के उपसंहार काल में गहरी थकान और उदासी में डूबे रहते थे। 'वार्ता' के अस्तित्व-रक्षा की चिंता में डूबे वय-विवेक छोड़कर सदा सक्रिय रहते थे।

बालेश्वर राय और उनके परिवार को अशाकजी ने अपना सहचर बना लिया था। बालेश्वरजी क पत्नी सुशीला जिस श्रद्धा भाव से बूढ़े अशोकजी की सेवा करती थी, केवल माँ से वह दुर्लभ छोह मिल सकता है, सुशीला की सेवा-साधना के प्रति मन में सहज ही श्रद्धा जगती है।

मेरे शहर का एक दरवेश

कृष्ण बिहारी मिश्र

(यह लेख अशोकजी के जीवनकाल में 'प्रभात खबर' में छपा था। संभवत: किसी ने उन पर लिखकर छपाने की हिम्मत पहली बार की थी।)

अपने बेटे की अपरिग्रही प्रकृति से किंचित् खीजते हुए सेकसरियाजी ने कहा था कि 'अशोक मेरी किताबें इधर-उधर कर देता है। लोगों को बाँटता रहता है। हैरान हो जाता हूँ जब कोई किताब पढ़ने की इच्छा होती है, मिलती ही नहीं। आपकी पुस्तक देखने की इच्छा हो रही थी। उपलब्ध कराइए।' मेरे लिए यह गर्व की बात थी कि मेरे ही नहीं, मेरी पूर्व पीढ़ी के श्रद्धाभाजन सीताराम सेकसरिया को मेरी पुस्तक पढ़ने की तलब है। अशोकजी की शराफत और सहज साधुता से जब मेरा अंतरंग परिचय नहीं हुआ था, उन्हें देखकर अजीब प्रतिक्रिया होती थी मन में कि समाज-विशिष्ट व्यक्ति का बेटा इस तरह क्यों जीता है? सुविधा-संपन्न परिवार में जन्मा, बुद्धिजीवियों की दुनिया से सक्रिय रूप में जुड़ा और बौद्धिक जागरूकता में अपनी पीढ़ी की अगली पंक्ति में दिखाई पड़ने वाला आदमी क्या सबसे अपने को विशिष्ट दिखाने के लिए इतनी सादी वेशभूषा में रहता है? सामान्यत: सुखी परिवार का आदमी गरीब आदमी की जीवन-शैली, अपने किसी आदर्श के आग्रह से अपनाता है तो लोग उसकी साधुता पर कटाक्ष करते हैं कि गरीबी का, सादगी का स्वांग कर रहा है। शुरु-शुरु में मेरे मन में भी अशोकजी के प्रति कुछ अन्यथा भाव था और उनका भी मेरे प्रति कोई आकर्षण-आग्रह नहीं था। उनके पिताजी के यहाँ विभिन्न विभाग के सैकड़ों लोग अपने प्रयोजन से आया करते थे। उसी भीड़ का एक आदमी अशोक जी मुझे मानते रहे होंगे और मेरे प्रति उनकी मुद्रा सदा उदासीन रही। मेरी दस्तक के जवाब में जब कभी अशोकजी दरवाजा खोलते, बड़ी सूखी मुद्रा में अपने पिताजी के कमरे की ओर इशारा कर के अपने कमरे में घुस जाते। बेहद बुरा लगता था उनका तरीका। नितांत अशालीन और मन ही मन में उनहें अरोचक वृत्ति का निहायत अहमन्य आादमी मानता था। बहुत दिनों तक हम एक-दूसरे को समझ नहीं पाए। मेरे स्व. मित्र डा. रमेशचंद्र सिंह ने अशोकजी का सही परिचय मुझे दिया था और मेरी पुस्तक 'हिंदी पत्रकारिता' ने अशोकजी को मेरी ओर सुमुख किया था। मेरी पात्रता में अशोकजी की रुचि बढ़ने लगी थी। राह-घाट में मुलाकात होने पर वे बोलने-बतियाने लगे थे।

अशोकजी के हमसफर रमेशचंद्र सिंह के असमय संसार छोड़ने का आघात मुझे भी लगा था। उज्ज्वल और अधीत चरित्र की संगति के लिए मन व्याकुल था। रमेशजी के प्रति मेरी श्रद्धांजलि अखबार में देखकर अशोकजी प्रसन्न हुए थे। मेरी अध्यक्षता में श्री योगेंद्र पाल सिंह और अशोकजी ने रमेशजी की स्मृति में श्रद्धांजलि सभा आयोजित की थी।

श्रीमंत कुल में जन्मे अशोक सेकसरिया की अति सामान्य जीवन-शैली को देखकर उनके समृद्ध ज्ञान-कोष और उनकी उच्छल मानवीय संवेदना का अंदाज लगाना कठिन है। अशोकजी रहते हैं पैतृक मकान में ही, पर परिवार से अनासंग, निहायत अदना आदमी की सादी जिंदगी जीते हुए। बालेश्वर उनका लीला-सहचर है जो अपनी रुचि के मुताबिक उनका भोजन बनाता है और अशोकजी जिसे मित्र का सम्मान और पुत्र की वत्सलता से हर क्षण समृद्ध करते रहते हैं। उसे बड़ी निष्ठा के साथ हिंदी पढ़ाते हैं। उसे लेखक बनाने के लिए व्याकुल रहते हैं। बालेश्वर अभिभावक की मानसिकता में रहता है। अशोकजी की सेवा भी करता है और उनकी बउड़म जीवन-शैली से चिढ़कर उन्हें डाँटता भी है जैसे माँ अपने नादान बच्चे को डाँटती हैं। बात-बात में टोकता रहता है, 'ठीक से खाइए, कुर्ते पर आम का रस गिर रहा है', 'सिगरेट आपको राख में मिला रही है, आप समझते ही नहीं।' ऋजु हँसी हँसकर अशोकजी सिगरेट सुलगा लेते हैं, मानो इस कमजोरी का कोई उपचारनहीं है उनके पास। अपने प्रति, अपने जीवन की बडी संभावना के प्रति जितने लापरवाह

भोजन के समय किसी जरूरी काम से यदि आपके यहाँ पहुँच जाएँ, लाख आग्रह कीजिए, भोजन नहीं करेंगे। कहते हैं, 'बिना पूर्व सूचना के भोजन करने पर गृहिणी को तकलीफ होती है। मैंने अपनी माँ की कठोर तत्परता देखी है। समय-असमय आनेवाले अपने पिताजी के मेहमानों के लिए माँ को जब तब चूल्हा जलाना पड़ता था। उसकी मूक तपस्या मुझे याद है। मुझे कहीं भोजन करने में संकोच होता है।'

हैं अशोकजी, उतने ही सजग-सक्रिय दूसरों की सुख-सुविधा और स्वाभिमान को अपेक्षित पोषण देने के प्रति। यह कतई जरूरी नहीं कि अशोकजी की जूठी थाली हर समय बालेश्वर धोएगा, बालेश्वर के जूठे बर्तन अशोकजी बिना किसी कुंठा के साफ करते हैं। यह उनकी सहज चर्या है। स्वयं अत्यंत साधारण खद्दर का कुर्ता-पाजामा पहनते हैं, पर बालेश्वर का परिधान स्तरीय रहना चाहिए, यह उन्हें चिंता रहती है। दोनों एक साथ एक आसन पर बैठकर भोजन करते हैं और उनकी यह जीवन-चर्या उन तमाम लोगों को तकलीफ देती है जो विशिष्टता-ग्रंथि से हर वक्त पीड़ित रहते हैं और अशोकजी को बालेश्वर के वर्ग का नहीं, अपने वर्ग का मानते हैं। लेकिन अशोकजी की राशि बालेश्वर से ही मिलती है, सामान्य भारतीय आदमी ही उन्हें अपने संस्कार और जाति का आदमी लगता है।

प्रसंगवश डा. रमेशचंद्र शाह ने एक बार अशोकजी की चर्चा की थी, ''अशोकजी हीरा आदमी हैं, पर अपने प्रति बेहद लापरवाह।'' मैंने उन्हें जवाब दिया था, 'हीरा नहीं, पारस है अशोकजी, जिनके संस्पर्श से असंख्य कुधातु सुवर्ण बन गए हैं।'' अपने को ''निहायत निकम्मा'' माननेवाले अशोकजी ने बालेश्वर की जाति के अनेक युवकों के जीवन को विद्या की पटरी पर चढ़ाया है, गति दी है, लेखक और पत्रकार बनाया है और संस्कार की ऊँचाई ऐसी कि अपने किए का कहीं हिसाब नहीं रखते। सही अर्थ में आदमी बनानेवाला आदमी अपने उपकार को याद नहीं रखता। इस कसौटी पर अशोकजी अव्वल दर्जे के आदमी हैं, जिन्हें काम का आदमी वे नहीं मानते जिनके समाज में उनका जन्म हुआ है यानी वह मारवाड़ी बिरादरी, जिनकी नजर में धनपति होना ही बड़ा होने का एकमात्र प्रमाण है। यह कसौटी आज वर्ग-विशेष तक सीमित नहीं रह गई है, पूरे भारतीय समाज की यही सामान्य मान्यता है कि धन-शक्ति ही एकमात्र शक्ति और आडंबरप्रियता ही बड़ा होने का लक्षण है। अशोकजी को विषण्ण बनाए रहती है यह प्रतीति कि अपने समय का उन्होंने कायदे से रचनात्मक उपयोग नहीं किया। तीव्र व्यर्थता बोध से अशोकजी प्राय: उन्मथित नजर आते हैं और ऐसी लहर की गिरफ्त में जब रहते हैं बार-बार सिगरेट सुलगाते हैं। शायद आत्मावलोचन की यह अशोकजी की निजी शैली है। अपने बारे में जब-तब कहते हैं, 'मैं निकम्मा आदमी हूँ।' यह उनका तकिया कलाम नहीं है, सच्ची पीड़ा है। और यह पीड़ा उन सबके मन में है जो अशोकजी की प्रतिभा से परिचित हैं। मनोहर श्याम जोशी ने बहुत पहले विशिष्ट रचनाकार के रूप में उनकी चर्चा की थी। कहानीकार के रूप में अशोकजी की अपनी विशिष्ट पहचान बन रही थी 'हिंदुस्तान' में काम करते अशोकजी ने अपनी पत्रकार-दक्षता का प्रमाण दिया था, 'चौरंगीवार्ता' के संपादन-प्रकाशन की गुरूतर जिम्मेदारी कठिन परिस्थिति में अशोकजी ने पूरी की थी और मित्रों के विशेष आग्रह से 'रविवार' और 'परिवर्तन' के संपादकीय विभाग से सक्रिय रूप से जुड़े थे। सचमुच अशोकजी की लेखन-विरति मेरी पीढ़ी की बड़ी क्षति है। जब स्वस्थ सत्वस्थ रहते हैं उनके विवेक की प्रखरता बड़े-बड़ों के लिए असह्य हो जाती है। उनके चारित्रिक ऊर्जा अनौचित्य पर प्रचंड वेग से आक्रमण करती हैं उनके स्वनामधन्य पिता को श्रद्धांजलि देते एक विद्वान व्यक्ति ने 'युग पुरुष' कह दिया। मंच से उतरते ही अशोकजी ने उनको पकड़ा ''बाबूजी को आपने किसे खुश करने के लिए 'युग पुरुष' कहा? आप जैसे लोग भी शब्दों का अर्थ जाने बिना ही उनका कहीं, किसी संदर्भ में प्रयोग करने लगेंगे तो आम आदमी से क्या उम्मीद की जाएगी? क्या आप नहीं जानते, युग पुरुष किसे कहा जाता है? कम से कम शब्दों का व्यापार करनेवालों को

शब्दों की ऐसी अवमानना नहीं करनी चाहिए। समाज में लोग आपको विद्वान कहते हैं। अशोकजी की शिकायत का उनके पास कोई जवाब नहीं था। खास सभाओं में अशोकजी श्रोता के रूप में उपस्थित होते हैं निहायत अंतरंग गोष्ठी में भी कभी मैंने उन्हें वक्ता की भूमिका में नहीं देखा है। कोई संकोच उन्हें मंचस्थ होने से विरत करता है। विशिष्ट बनने से बचने की जागरूक कोशिश ही उन्हें आम से अलग कर देती है। तीखा असंतोष भी अशोकजी मुलायम अंदाज में प्रकट करते हैं, यह उनके स्वभाव की पहचान है जो शायद पिता से विरासत में मिली है। धीमी आवाज में बोलने-बतियाने वाले अशोकजी को एक बार भरी सभा के बीच में चित्कार करते देखकर मैं चकित और किंचित् आतंकित हो गया था। अशोकजी बेहद गुस्से में थे। बहुतों को उत्तेजित करनेवाला प्रसंग यकायक पैदा

हो गया था। कहानी सम्मेलन का समापन- सत्र शेष हो रहा था, तभी विद्या व्यापार से जुड़े एक वय ज्येष्ठ व्यक्ति ने अनाहूत मंच पर पहुँचकर प्रस्ताव रखा कि समारोह के उद्योक्ता के प्रति उन्हें माला पहनाकर जैनेन्द्रजी कहानीकारों की ओर से कृतज्ञता ज्ञापित करे। सारी सभा स्तब्ध हो गई थी, मगर प्रस्तावक निर्लज्ज शैली में माइक पर अपनी बात कहे जा रहे थे। अशोकजी का क्रोध बेकाबू हो गया था,' प्रस्ताव आपका है। आप ही यह सद्‌कर्म पूरा कीजिए।' अशोकजी का ऐसा उग्र रूप मैंने कभी नहीं देखा है। सभा-कक्ष से उठकर अशोकजी बाहर निकल गए थे। बाहर निर्मल वर्मा से बतियाते सिगरेट से अपने क्रोध को जलाते दिखाई पड़े थे।

इस तरह के अशोभन प्रसंग अशोकजी को विक्षिप्त बना देते हैं। इतनी ही गहरी पीड़ा उन्हें होती है अशालीन व्यवहार और विद्या धरातल की ढाही को देखकर। एक दिन मद्रासी रेस्तरां में अपने मित्रों के साथ बैठे थे। मुझे देखा तो सबको छोड़कर मेरे पास आ गए। कहने लगे,' कई दिनों से आपको खोज रहा था। एक शब्द समझ में नहीं आ रहा है, पत्थरता का क्या अर्थ होता है?'' उन्होंने सीधे मतलब की बात कही। मैं असमंजस में पड़ गया। कहने लगे, ''विश्वविद्यालय के एक अध्यापक ने इस शब्द का प्रयोग किया है। क्या हो गया है विश्वविद्यालय की दुनिया को? नई पीढ़ी को ये जहन्नुम के घाट पर पहुँचाकर छोड़ेंगे। बालमुकुंद गुप्त, पराड़करजी और शिवपूजन जी ने विश्वविद्यालय का मुँह नहीं देखा था। शायद इसीलिए हिंदी गद्य का उत्कृष्ट रूप रच सके।' अशोकजी को अपनी पीड़ा प्रकट करनी थी, शब्द का अर्थ नहीं जानना था।

एक दिन बड़े आत्मीय अंदाज में अशोकजी ने मुझे पकड़ा प्रसन्न कंठ से कहने लगे, 'आपका बेटा विनयी और शालीन है। आपकी इज्जत करता है। आज की पीढ़ी पिता का सम्मान करना भूल गई है।'' अपने समाज-विशिष्ट पिता की कमजोरियों पर बेलाग टिप्पणी करनेवाले अशोकजी संस्कृते आचरण से प्रीत होते हैं, पिता पुत्र के पवित्र रिश्ते को आदर्शवादी की तरह अपेक्षित गुरुता देते हैं। अपने पिता के साथ उनकी खाट पर शिशु -मुद्रा में बैठे मैंने अशोकजी को देखा है और बड़ी दक्षता से अपने पिता की डायरी का उन्होंने संपादन किया है। पूरी तटस्थता के साथ पुस्तक की भूमिका लिखी है। एक दिन उनके कमरे में पहुँचा तो गुलेरी जी की कहानी पढ़ रहे थे। गुलेरीजी की आचार-शुचिता ने उनके हृदय को विगलित कर दिया था। कहने लगे, 'नागरी प्रचारिणी सभा का गुलेरीजी अपनी कन्या मानते थे। इसलिए बेटी के घर का जल तक नहीं ग्रहण करते थे, सभा की सेवा करते समय। इसे दकियानूसी ख्याल माननेवाले समझते नहीं कि ख्याल कितने पापाचार से बचाता था और मूल्यों की सुरक्षा में कितना सहायक था।

अशोकजी का एक निजी प्रसंग उनके साथी श्री नंदलाल शाह ने मुझे सुनाया था।अशोकजी के स्वास्थ्य के बारे में प्रसंगवश हम लोग बात कर रहे थे। नंदलालजी ने आत्मीय पीड़ा प्रकट की थी। ''अशोकजी'' के साथ बड़ी कठिनाई है कि अपनी सुविधा की बात सुनते ही नहीं। भोजन के समय किसी जरूरी काम से यदि आपके यहाँ पहुँच जाएँ, लाख आग्रह कीजिए, भोजन नहीं करेंगे। कहते हैं, 'बिना पूर्व सूचना के भोजन करने पर गृहिणी को तकलीफ होती है। मैंने अपनी माँ की कठोर तत्परता देखी है। समय-असमय आनेवाले अपने पिताजी के मेहमानों के लिए माँ को जब तब चूल्हा जलाना पड़ता था। उसकी मूक तपस्या मुझे याद है। मुझे कहीं भोजन करने में संकोच होता है।' पर स्वयं वैरागी जिंदगी जीनेवाले अशोकजी की रससिक्त अतिथि परायणता देखकर माँ के उच्छल छोह का स्वाद ताजा हो गया था। भोजन के बाद अशोकजी ने बालेश्वर को संकेत किया, 'कृष्णबिहारीजी को जब चाय पिलाएँगे।' उस दिन वे भरपेट बतियाने के लिए व्याकुल थे। ढेर सारे विषय थे बतकही के। शिवपूजन सहाय और गणेशशंकर विद्यार्थी का चरित्र-प्रसंग और विद्या-साधना उन्हें प्रेरणा-स्फूर्त करती है। प्रपंच- रत पाखंडी प्रोफेसर की करनी-करतूत को याद कर गुस्से में आ जाते हैं, श्रम-भीरू नई पीढ़ी का चरित्र उन्हें उदास बना देता है, और सभ्यता की नई रंगत के संघात से टूटते पति-पत्नी के अंतरंग रिश्ते कुंआरे अशोक सेकसरिया को बेचैन बना देते है। 'कहाँ जा रहा है समाज।' मुस्कुराती गृहस्थी देखते-देखते राख में मिल जाती है। मैं तो, गृहस्थी के टूटते छंद को देखकर सिहर जाता हूँ। बड़े उन्मथित चित्त से अशोकजी बोल रहे थे। उनकी समाज-संसक्ति और समाज की अधोगामी प्रवाह से हर क्षण आहत-उद्वेलित होने वाली उनकी मनोभूमि से परिचित होने पर उनके स्वास्थ्य के बारे में चिंता गहरी हो गई, सिगरेट नहीं, यह स्पर्श कातर संवेदना उनके स्वास्थ्य को खा-चबा रही है और मुझे यकायक लगा कि अपने शहर के एक दरवेश के पास बैठा हूँ, जिसकी चारित्रिक ऊष्मा अपनी उच्छल रोशनी से मेरे भीतर जीवन के प्रति भरोसा जगा रही है।

अशोकजी के छोह भरे आग्रह से एक दिन उनके यहाँ भोजन करने गया था। बारिश तेज हो गई थी। नौकरी की लाचारी के चलते मुझे घर लौटना था। अशोकजी अपने साथ रोकने के लिए आग्रहशील थे। पर मेरी विवशता का विचार कर वे छाता लेकर मुझे गाड़ी पर बैठाने निकले। भींगते-भागते टैक्सीवाले से आग्रह करते रहे। अंततः कभी जिस वाहन को अपनी सुविधा के लिए छूते तक नहीं, भाई की गाड़ी निरुपाय होकर मुझे घर तक पहुँचाने के लिए निकलवाई। मेरे लाख मना करने पर भी मुझे पहुँचाने चल दिए। गाड़ी में मेरी पत्नी के स्वास्थ्य के बारे में पूछा। मेरी जिस बेटी के विवाह में शरीक हुए थे, उसके कुशल-क्षेम में रुचि दिखाई, जमाता के शील-गुण को लेकर आत्मीय प्रश्न किए। उनकी सहृदयता की बात सोच रहा था अभिभूत मन से। तभी ध्यान आया कि सीताराम सेकसरिया के ज्येष्ठ पुत्र हैं अशोकजी।

एक स्मरणांजलि

रमेशचंद्र शाह

ऐसा बहुत, बहुत कम ही होता है कि किसी रचना को पढ़ते हुए आपके मन में उस रचनाकार के व्यक्तित्व को लेकर न केवल जबर्दस्त कुतूहल पैदा हो जाए, बल्कि उसकी एक अत्यंत आत्मीय और उजली छवि भी आपसे आप निर्मित हो जाए। इतना ही नहीं, कालांतर में जब उससे साक्षात् भेंट हो, तब वह व्यक्तित्व आपके मन में बनी उस छवि के समकक्ष ही नहीं, उससे भी ज्यादा उजला और आत्मीय निकल आए। यह सचमुच बहुत बिरली घटना है: कदापि आवश्यक नहीं रचना और रचनाकार के बीच ऐसा अ-द्वैत होना। अक्सर इसका विपरीत ही हमारे देखने में आता है और कायदे से, इससे बहैसियत रचनाकार—उसकी कदोकामत में कोई फर्क नहीं पड़ता। पड़ना भी नहीं चाहिए। यहाँ पर मुझे एक प्रसंग बेसाख्ता याद आ रहा है, जिसका जिक्र किए बिना मुझसे रहा नहीं जा रहा और मुझे यह भी याद आ रहा है कि स्वयं अशोक सेकसरिया से जब मैंने इसकी चर्चा की थी तो वे बड़े चकित और आह्लादित हुए थे।

प्रसंग वह 'एनकाउंटर' में प्रकाशित एक 'रिव्यू' का है। मारियन मूर नाम की अमरीकी कवयित्री के किसी संकलन की समीक्षा करते हुए सुविख्यात आलोचक जॉर्ज स्टाइनर ने कुछ इसी तरह के अनुभव का बखान किया था। लिखा था कि उनके अंत:करण पर जो पहली ही जबर्दस्त छाप मारियन की कविताओं की पड़ी थी- वह यही थी कि 'यह कवयित्री वास्तविक जीवन में एक अत्यंत निर्मल- नि:स्वार्थ, प्रेमी स्वभाववाली महिला होनी चाहिए और होगी ही। और, यह अहसास उसकी कविताओं के आंतरिक साक्ष्य से ही उनके सिर पर चढ़कर बोलता है। वास्तव में तो उससे कभी उनकी मुलाकात नहीं हुई है। देखा तक नहीं उसे उन्होंने कभी'।

जाहिर है कि यह कोई मानदंड या निरपवाद कसौटी नहीं हो सकती किसी के साहित्यिक कृतित्व के मूल्यांकन हेतु; स्वयं स्टाइनर का भी ऐसा कोई आशय नहीं था। किंतु ऐसा अनुभव अपनी अत्यधिक बिरलता के कारण ही एक ध्यानाकर्षक और कहीं बड़ी मूल्यवान और स्पृहणीय विशेषता की तरह रेखांकित करने योग्य तो है ही। मुझे स्मरण है, उक्त समीक्षा को पढ़कर मैं अचंभित हो गया था। इसलिए कि खुद मेरे मन की- मेरे अपने अनुभव की बात को एक ऐसी जगह से संपुष्टि मिल सकती है, वह भी जॉर्ज स्टाइनर सरीखे साहित्य-मर्मज्ञ के यहाँ—यह कमाल का संयोग था ही। उतने ही कमाल का, जितना यह संयोग, कि उन्हीं दिनों अशोक सेकसरिया की 'देश-विदेश' नाम की कहानी मेरे पढ़ने में आई थी—कहानी पत्रिका में। जिसे मैं 'कहानी' पत्रिका में ही छपे अपने एक लेख में रेखांकित करने को अंतर्विवश हुआ था। तब तक मैं इस व्यक्ति से साक्षात् परिचय की तो कौन कहे, उसकी लेखकीय करतूतों से भी लगभग अनभिज्ञ था। मध्य प्रदेश के एक दूरदराज के पिछड़े कस्बे में पड़े मुझ सरीखे 'लेटकमर' को तब दिल्लीवासी अशोक सेकसरिया और उनकी प्रसिद्ध मित्र मंडली की खबर लगती भी कैसे? हाँ गुणेंद्र सिंह कंपानी को जरूर पढ़ा था। पर बिना यह जाने, कि वे अशोक सेकसरिया के ही अवतार हैं। तभी अप्रत्याशित वरदान की तरह दिल्ली की यात्रा का—पहली बार दिल्ली जाने का मुहूर्त आ निकला-एक इंटरव्यू के निमित्त से। और वहाँ अपने प्रिय कवि-कथाकार प्रयाग शुक्ल तथा किसी जमाने में मेरे छात्र रह चुके पुष्पेश पंत से मिलने का संयोग बना और उनके माध्यम से ही अशोक सेकसरिया नाम की शख्सियत से भी 'सप्रूहाउस' में मुलाकात का। फिर तो बस एक सिलसिला ही शुरू हो गया। पहले चिट्ठी-पत्री और फिर साक्षात् भेटों का। एक जीवनव्यापी सिलसिला।

पर यह मैं कर क्या रहा हूँ? जीवनव्यापी वह अटूट क्रम कैसे टूट सकता है जबकि मैं तो अभी जीवित हूँ। किस कदर अर्नगल लग रही है मुझे अपनी यह हरकत? अशोक सेकसरिया संस्मरण के विषय कदापि नहीं हो सकते। अच्छा-बुरा जैसा जो

अशोक सेकसरिया बुद्धिजीवी से कहीं अधिक, बहुत अधिक एक 'आत्माजीवी' लेखक और मनुष्य थे। उनका लेखन ही नहीं, सामान्य वार्तालाप भी उनकी अंतरात्मा की धड़कनों के 'ग्राफ' और दस्तावेज सरीखा था। और वे धड़कनें इतनी तेज और अविराम होती थीं कि पाठक-या श्रोता अकुलाकर यह महसूस करने लगता कि ऐसी और इस कदर आत्मविद्ध, इस कदर वेध्य और वध्य संवेदना आप अपना कवच नहीं बन सकती।

कुछ भी इस जीवन में घटता रहा है, उसका सबसे पहला साझा तो उन्हीं के साथ होता रहा। साथ ही, 'जीने' के अलावा जो उस जीने को अर्थ देनेवाला जीवन व्यापी व्यसन रहा मेरा-यानी साहित्य नामकी विभूति का- उसका भी तो उतना ही प्रत्यक्ष और उतना ही दुर्निवार्य साझा उन्हीं के साथ होता रहा था। अब किसके साथ होगा? ''जॉनसन इज डेड। लैट अस गो टु दि नैक्स्ट बैस्ट। देयर इज़ नन'' एडमंड बर्क ने कहा था। डॉ. जॉनसन के देहावसान पर।

वही हालत मेरी ही क्यों, सैकड़ों-हजारों की होगी। ''देयर इज़ नन'' अर्थात् कोई नहीं, जो स्थान ले सके उसका। ऐसे व्यक्ति का, ऐसे सख्य का- क्या कोई विकल्प संभव है? कदापि, कदापि नहीं। इसी एक वर्ष के भीतर यह दूसरी मर्मान्तक घटना! पहली त्रासदी घटी तब किसका सहारा था? उसी का न, जो उसके भी उतने ही अंतरंग अपने थे, जितने मेरे। अब इस दूसरे मर्माघात से मुझे और कौन उबारेगा? एकमात्र मेरे खुद के सिवा?

असंभव लगता है ना, ऐसा अनूठा सख्य और साहचर्य-जो एक ओर तो जीने-महज़ जीने का भी भरपूर साझा करे, और दूसरी ओर उस जीने के भी प्रगाढ़तम अर्क सरीखी साहित्य नामकी विभूति के जीवनव्यापी व्यसन का भी? बरसों तक चला चिट्ठी-पत्री का सिलसिला जब अचानक एकबारगी थम गया, तब भी... हाँ, तब भी, मात्र फोनालाप से ही कैसे उस टेव की क्षतिपूर्ति हो जाती रही, समझ में नहीं आता। किंतु था तो ऐसा ही ना? मात्र इस प्रतीति, इस निष्ठा और विश्वास के बूते, कि वह औढरदानी सदा-सर्वदा और तुरंत-तत्काल तुम्हारी पहुँच के भीतर है। तुम जब चाहो तुरंत-तत्काल खुल सकते हो, खोल सकते हो अपने को उसके सामने! कितनी बड़ी नियामत थी यह एक अंधवधिर और अकारणद्रोही परिवेश-स्वयं इस तथाकथित साहित्यिक परिवेश-में भी!

अशोक सेकसरिया बुद्धिजीवी से कहीं अधिक, बहुत अधिक एक 'आत्माजीवी' लेखक और मनुष्य थे। उनका लेखन ही नहीं, सामान्य वार्तालाप भी उनकी अंतरात्मा की धड़कनों के 'ग्राफ' और दस्तावेज सरीखा था। और वे धड़कनें इतनी तेज और अविराम होती थीं कि पाठक-या श्रोता अकुलाकर यह महसूस करने लगता कि ऐसी और इस कदर आत्मविद्ध, इस कदर वेध्य और वध्य संवेदना आप अपना कवच नहीं बन सकती। अपनी ही अथाह-अछोर मनुष्यता की शर्तों पर जीते चले जाने की अंतरात्मिक जिद उसे अपने लेखकीय अहं—बेहद जरूरी अहं—की भी हिफाजत नहीं करने देगी। आत्मा या अंतरात्मा कोई यों ही, सेतमेत में मिली विरासत नहीं है। वह तो स्वयं अपने को तिल-तिल लगाकर अर्जित की जानेवाली विभूति है। बिरले ही मनुष्य होते है जो सचमुच आत्म-वान् बनते हैं—भले वही आत्म-ज्ञान और आत्मोपलाब्धि मानव-जीवन की चरम सार्थकता हो। जीवन में एक से एक प्रतिभाशाली लेखकों और विद्वानों का सान्निध्य पाने का सौभाग्य मिला है, किंतु अशोक सेकसरिया सरीखा निष्कवच निःस्व और निःस्पृह व्यक्ति तो अपवाद ही कहा जाएगा। संयोगवश, साहित्य-क्षेत्र में भी मेरी सहज-स्वाभाविक घनिष्ठता उनसे ही हुई जो अपने राजनैतिक विचार और कर्म में गांधी और समाजवादी आंदोलन से जुड़े थे। महत्वपूर्ण तथ्य यह, कि सार्वजनिक जीवन में, राजनीति में भी पूरे-पक्के आत्मदान के अलावा उन सभी में साहित्य की स्वायत्त गरिमा का भरपूर स्वीकार और सम्मान था: स्वातंत्र्य के सर्वोच्च मूल्य का भी गहरा स्वीकार और आग्रह, जो उन्हें अन्य समाजकर्मियों-खासकर कम्युनिस्टों से सर्वथा अलग पहचान का अधिकारी बनाता था। इसी कारण साहित्य में भी उनकी भूमिका निरपवाद रूप से तेजस्वी और रचनात्मक रही। मसलन, मेरे गुरुस्थानीय कवि-आलोचक विजयदेवनारायण साही की।

हिंदी में लेखक-प्रतिभा का नहीं, पाठक-प्रतिभा का अकाल है। अशोक सेकसरिया ने उतनी जोरदार शुरुआत करने के बाद क्यों एकबारगी लिखना छोड़ दिया—यह एक अबूझ सा रहस्य प्रतीत होता है। किंतु साहित्य के विलक्षण संवेदनशील पाठक के रूप में वे निरंतर जागरुक और प्रेरणादायी बने रहे। जाने कितने लेखक होंगे, जो उनके सत्संग से साहित्य में दीक्षित और प्रेरित हुए। बहुत कम लोग ऐसे होते हैं जिनका अर्जित पुण्य और प्रतिभा उन्हें नहीं उनके संसर्ग में आनेवालों को फलती है। उनकी यह स्फूर्तिदायी प्रतिभा युवतर प्रतिभाओं को ही नहीं, स्वयं उनके समकालीन समानशीलों को भी निरन्तर प्रभावित-प्रेरित करती रही। मैं स्वयं भी उन्हीं भाग्यशालियों में शामिल हूँ। मेरे उपन्यासों के, कहानियों के भी प्रथम पाठक वे ही रहे और उनकी रीझ-बूझ भरी प्रतिक्रियाएँ मेरे लिए कितनी उन्मेषदायी हुआ करती थीं- वह कोई कहने की बात नहीं। किंतु क्यों नही? हिंदी को सबसे ज्यादा जरुरत इसी की है और इसी का अभाव हमारी सबसे बड़ी विडंबना है।अशोक सेकसरिया सरीखे समानशील-समानधर्माओं का होना-महज होना-ही ऐसे कुंठाकारी और रागद्वेषग्रस्त परिवेश में एक दुर्लभ वरदान और अखंड सौभाग्य की तरह प्रतीत होता रहा था। साहित्येतर विषयों में भी उनकी रुचि और पैंठ गजब की हुआ करती थी-जैसे क्रिकेट आदि खेलों में, और राजनीति तथा समाजशास्त्र में। 'सामयिक वार्ता' में उन्होंने कई बार बड़े प्रेरक लेख लिखे तथा संवाद भी आयोजित किए। किशन पटनायक सरीखे मौलिक प्रतिभा और तेजस्विता से संपन्न राजनैतिक विचारक भी जहाँ एक ओर उनकी इसी संवाद-प्रतिभा के कायल थे, वहीं अनेकानेक युवा समाजवादी कर्मज्ञ भी। इसे हमारा सार्वजनिक दुर्भाग्य कहना चाहिए कि हमारे कुंठाग्रस्त और कृतघ्न परिवेश में उन्हीं की आवाज सबसे कम सुनी-गुनी जाती रही है जिनमें सचमुच हमारे

समाज का अंत:करण बनने की ही नहीं, उसे गढ़ने की भी नैसर्गिक और स्वार्जित क्षमता थी। कम लिखते थे वे अपेक्षाकृत, किंतु जितना भी साहित्येतर उन्होंने लिखा, उसका भी अलग से संचयन होना चाहिए।

उनका पत्र-संवाद भी अपना अलग ही चारित्रिक वैशिष्ट्य लिए हुए होता था। कई लोग होंगे जिनसे उनका अनवरत पत्राचार रहा। वह आवाज भी उनकी सँजोने-सहेजने योग्य है और अवश्य उपलभ्य होनी चाहिए। विशेषकर आज इस जमाने में, जब पत्र नाम की विधा ही लुप्त होने के कगार पर खड़ी है।

अशोक यात्रा भीरू थे: बहुत कम घर के बाहर निकलते थे। मेरे जन्मस्थान कुमाऊँ, खासकर अल्मोड़ा, के उल्लेख मात्र से वे इस कदर उत्तेजित उत्साहित हो उठते थे कि कुछ पूछिए मत। हालाँकि वे कभी वहाँ गए नहीं थे: अल्मोड़ा उनके लिए एक श्रुति, एक किंवदंती ही रहा आया। मेरे उस बाजार के कोलाहल से भरे, मामूली सुविधाओं से भी वंचित घर में ग्रीष्म-प्रवास के दौरान किसी लेखक-मित्र के स्वागत-सत्कार की गुंजाइश नहीं थी। तो भी तीन ही अपने निकट के लोगों को लेकर मुझे तीव्र लालसा रही आई कि वहाँ उस पहाड़ी परिवेश में मुझे उनके सान्निध्य का सुख और श्रेय नसीब हो। एक तो अज्ञेय, दूसरे मलयज और तीसरे अशोक सेकसरिया। वह मेरी लालसा मन की मन में ही रही आई: मात्र एक अज्ञेयजी ही वहाँ कुछ घंटों के लिए ही सही, पधार पाये। न मलयज, न ही अशोक सेकसरिया। परंतु एक दुराशा की तरह वह अभिलाषा मेरी ही तरह उनके साथ भी लगी-लिपटी रही।

भोपाल भी वे सिर्फ एक बार—महज एक बार—आए। तब, जब वे अपने समाजवादी पट्टशिष्य और अनूठे जीवनदानी समाजकर्मी सुनील के यहाँ केसला में कोई दो माह के प्रवास पर रहे थे। वहीं से भोपाल आए थे। क्या ही अद्‌भुत समागम था! अशोकजी की वह पहली और आखिरी यात्रा थी। मैं जरूर कोलकाता के प्रवास में कई -कई बार उन्हीं के साथ, उन्हीं के घर रहा। एक अपने घर को छोड़, दूसरा अपने घर जैसा घर तो मुझे वही लगता था। मेरे वेल्श कवि- मित्र डाविड राउलैण्ड्स से मिलने जब में कोलकाता गया तो जैसी सत्कारप्रवणता उसके प्रति अशोकजी ने दिखाई, वह अद्‌भुत थी। डाविड अपनी हर चिट्ठी में 'तुम्हारे उस दरवेश दोस्त' को याद करता रहा अंत तक। मेरी बेटी राजुला और दामाद अर्घ्य वसु जब पूना फिल्म इंस्टीट्यूट की अपनी प्राध्यापकी छोड़कर कोलकाता जा बसे तो मेरे मन में यही एक आश्वासन था कि उन्हें अशोकजी का सान्निध्य और संरक्षण सदा सुलभ है। अर्घ्य से भी उनकी उतनी ही गहरी छनती थी। वह किसी का मुरीद हो सकता है जी जान से, यह पहली बार देखा। दोनों के बंगला-संभाषण का मैं एक पुलकित श्रोता हुआ करता। परिवार के हर सदस्य से उनकी अंतरंगता थी: प्रत्येक से उसके अपने स्वभाव, अपने बौद्धिक और भाविक स्तर के अनुरुप। मेरी सिरेमिस्ट बेटी शंपा के साथ भी उनका उतना ही उत्कृष्ट और उत्सुक-जिज्ञासा से भरा-पूरा संवाद था। विशेषकर जनजातीय संस्कृति और कला को लेकर उसकी गहरी संसक्ति के कारण। और, मेरी पत्नी ज्योत्स्ना? मैं नहीं समझता ऐसी आत्मीयता और सह-संवेदना उसने कभी किसी और के साथ अनुभव की होगी। उसकी कविताओं-कहानियों-उपन्यासों का भला उन जैसा कोई और गुणग्राही कहाँ मिल सकता था! तभी तो शायद उसे भी खुद पता नहीं चला कि वे खुद कब उसकी एक कहानी के प्रेरक निमित्त ही नहीं, भरे-पूरे सजीव आलंबन भी बन बैठे। ज्योत्स्ना के तिरोभाव के बाद तो जब भी वे मुझे फोन करते या मैं उन्हें फोन करता, तो दो-चार अस्फुट वाक्यों के उपरांत ही मौन छा जाता। वह मौन ही हमारा संवाद होता। स्वत:पूर्ण और सहज आश्वासनदायी।

अशोकजी की कोई भी कहानी देख लीजिए। उनके अधिकतर चरित्र मानसिक घात-प्रतिघात से कभी नहीं उबर पाते: उससे आर-पार बिंधे होते है। उनके आपसी संवादों में भी यही उधेड़-बुन यही अविराम आत्मालापी उद्विग्नता और शंकाग्रस्तता नजर आती है। मन में आता है अनायास, कि काश अशोकजी को भी शुरू से अपने पिता की तरह डायरी में अपने भीतर बाहर घट रहे संसार को दर्ज करने की टेव पड़ी होती। यह लिखते हुए मन में उन्हीं के द्वारा संभव की गई और दुनिया के सामने लाई गई 'एक कार्यकर्ता की डायरी' के संस्मरण हैं। किंतु अपने स्वभाव के अनुरूप ही उन्होंने इस तरह के उपक्रम को भी व्यर्थ का मोह मान लेकर उसका संवरण कर लिया होगा। आप खुद अपने आपको, अपने घट में घट रही लीलाओं को यथोचित मूल्य और महत्व देने को प्रस्तुत हों, तभी न डायरी लिखने को प्रेरित होंगे? अशोकजी की नि:स्वता ही उनके आड़े आई होगी, अन्यथा ऐसी दैनिक चर्या उनके निरंतर जारी ऊहापोह को अपने में खपा लेकर उन्हें रचना के लिए अधिक उबरा हुआ अंत:करण और अधिक मुक्त अवकाश भी सुलभ कर सकती। पर यह तो मुझ जैसे उनके चेतना-प्रवाह से बाहर के पर्यवेक्षक बंधुओं की ही कामना हुई। वे जो थे और रहे आज उसी में उनकी कृतार्थता और कृतकृत्यता मान लेनी होगी। 'जो नहीं है उसका गम क्या! वह नहीं है...'।(शमशेर)।और 'जो मुझसे नहीं हुआ, वह मेरा संसार नहीं'-श्रीकान्त वर्मा अशोकजी के बहुत पुराने सहयोगी मित्र यों ही नहीं लिख गए।

मुझे नहीं लगता अशोक सेकसरिया कभी हमारे साथ, हमारे बीच थे और...अब नहीं हैं। अनुभव की साखी तो यही है कि वे सदैव थे, सदैव हैं और सदैव हमारे साथ रहेंगे। हममें से अधिकतर लोग उपस्थित होकर भी दरअसल अनुपस्थित ही रहे आते हैं क्योंकि अपने 'स्वरूप' में कायम नहीं रह पाते। उससे अलग-थलग और बिछुड़े ही रहे आते हैं। अशोक सेकसरिया हमारे लिए सदा अपने 'स्वरूप' में अवस्थित एक 'प्रजेंस' थे और वही रहे आएँगे- देहांतर-प्राप्ति अथवा मुक्तावस्था के बावजूद और उसके बाद भी।

अपना दर्द छिपा करते रहे सेवा

शिवानंद तिवारी

अशोकजी (सेकसरिया) से पहली मुलाकात 7, गुरुद्वारा रकाबगंज रोड में 1970 में हुई थी। डॉ. लोहिया सांसद के रूप में वहीं रहा करते थे। 'जन' जिसे उन्होंने शुरू किया था, वहीं से निकलता था। ओमप्रकाश दीपकजी उसका संपादन कर रहे थे। उनको भी पहली दफा वहीं देखा। हम लोग समाजवादी युवजन सभा के एक कार्यक्रम में दिल्ली गए थे। 'जन' के दफ्तर से जुलूस निकालकर संसद भवन जाना था। उसी सिलसिले में हम लोग वहाँ पहुँचे थे। अशोकजी हमारी आवभगत में सबसे ज्यादा तत्पर थे। लेकिन, उनको देखकर उनके प्रति विरक्ति का भाव ही मेरे मन में पैदा हुआ। देखने में अजीब लग रहे थे। बेतरतीब दाढ़ी-बाल, पीला-पीला दाँत, बढ़े नाखून, आवाज भी फँसी-फँसी। कुल मिलाकर उनका बाह्य रूप देखकर उनके प्रति मेरे मन में आकर्षण कम, विकर्षण ज्यादा पैदा हुआ।

> *पुनपुन के पास का हम लोगों का एक साथी था अर्जुन शर्मा, गरीब परिवार का नौजवान था। उसको अशोकजी पत्रकार बना रहे थे। वह लिखकर उनको भेजता था और वे उसको शुद्ध कर भाषा संबंधी भूल समझाते हुए जवाब देते थे। एक बार अर्जुन ने उनकी लिखी कई वैसी चिट्ठियाँ मुझे दिखाई थीं। मैंने अर्जुन को कहा कि वह इनको सँभालकर रखें अगर उनको वैसे ही छपवा दिया जाता, तो भाषा की समझ बनाने की वह अच्छी पुस्तिका बन जाती।*

उनसे दूसरी मुलाकात अगले साल संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी के किसान मार्च के दौरान हुई। संसोपा का दिल्ली में वह अंतिम बड़ा कार्यक्रम था। उसके बाद वह उतना बड़ा कार्यक्रम दिल्ली में कभी नहीं कर पाई। देशभर के गरीब और किसान आए थे। पटेल चौक पर अश्रु गैस के साथ भयानक लाठीचार्ज हुआ था। पुलिस की लाठी से एक प्रदर्शनकारी की मौत हो गई थी। संसोपा के लगभग तमाम नेताओं को चोट लगी थी। राजनारायणजी उस ट्रक पर सवार थे, जो मंच का काम कर रहा था। अश्रु-गैस की घुटन से परेशान होकर राजनारायणजी ट्रक से नीचे कूद गए। उनका पैर टूट गया। डेढ़-दो सौ लोग गिरफ्तार हुए थे। मैं भी उनमें से एक था। पुलिस गिरफ्तार प्रदर्शनकारियों को व्यक्तिगत जमानत पर छोड़ना चाहती थी। वहाँ रामसेवक यादवजी हमारे नेता थे, तय हुआ कि हम लोग जमानत नहीं लेंगे। उसी समय सुचेताजी और डॉ सुशीला नैयर के कंधे पर हाथ रखे दादा कृपलानी थाने पर पहुँचे। रामसेवकजी ने उनको बताया कि पुलिस व्यक्तिगत जमानत के आधार पर हमें रिहा करना चाहती है। लेकिन, हम लोग जमानत लेकर छूटने के लिए तैयार नहीं हैं, वाईवी चौहान उस समय भारत सरकार के गृहमंत्री थे। कृपलानीजी ने थाने से ही गृहमंत्री को फोन लगवाया और उन्होंने जिस तरह से उनको डाँटा, उसकी आज कल्पना नहीं की जा सकती है। उनकी तबीयत ठीक नहीं थी, गुस्से की वजह से वे काँपने लगे थे। उनकी तबीयत और न बिगड़ जाए, इसलिए हम लोगों ने उनसे आग्रह किया कि वे घर जाएँ, उसके कुछ ही देर बाद गृहमंत्री के यहाँ से फोन पर थाने को निर्देश आया और नाम-पता लिखकर हम सबको छोड़ दिया गया। इस बीच अशोकजी लगातार थाने पर ही मँडराते रहे। सबसे उनकी जरूरत पूछना, किसी को दवा की जरूरत तो किसी को और किसी चीज की, सबकी मदद के लिए तत्पर दिख रहे थे। उनका सेवा भाव और उनकी नम्रता ने मुझे उनकी ओर आकर्षित किया। संयोग ऐसा हुआ कि देर रात थाने से रिहा होने के बाद जहाँ मैं ठहरा था, वहाँ जाने के लिए सवारी मिलना मुमकिन ही नहीं था। अशोकजी रिहाई के पहले से ही आग्रह कर रहे थे कि मैं उन्हीं के साथ ठहर जाऊँ। गुरुद्वारा रकाबगंज रोड पर ही मधु लिमये के आउट हाउस में उन दिनों अशोकजी रहा करते थे। छोटा-सा कमरा था। एक चौकी पर उनका बिस्तर था, इधर-उधर बिखरी किताबें, अखबार और कागज। एक फोल्डिंग खटिया पर मेरे सोने का इंतजाम हुआ। सुबह-सुबह बगैर स्नान किए झटपट हम लोग लोहिया (तब का विलिंग्टन) अस्पताल, घायल नेताओं को देखने पहुँचे। मेरे बाबूजी भी जॉर्ज, मधु लिमये और अन्य घायल नेताओं को देखने अस्पताल पहुँच चुके थे। बारी-बारी से हम नेताओं के कमरे में और वार्ड में उनको देखने गए सब लोग बहुत विस्तार से अपनी-अपनी चोट दिखा रहे थे। मुझे वह दृश्य अच्छा नहीं लगा। थोड़ी देर बाद हम लोग अशोकजी के कमरे में लौट आए। नहाने के लिए कमरे के बाहर नल था। अशोकजी ने नल के घेरे के अंदर जाकर अपना कपड़ा उतारा था। पता नहीं कैसे मेरी नजर उनकी पीठ पर गई। उनकी पीठ पर लाठी के तीन-चार लाल निशान दिखे। मैं तो सिहर गया। कल से यह आदमी दूसरों के सत्कार में लगा है एक दफा भी इस आदमी ने अपनी चोट के विषय में चर्चा तक नहीं की। कैसा आदमी है यह। हमारे नेता लोग अपनी चोटों का प्रदर्शन कर रहे हैं और दूसरी ओर यह आदमी अपनी चोट को छुपा रहा है। अशोकजी

के लिए मन श्रद्धा से भर गया। इसके बाद इनके विषय में और जानने की उत्सुकता हुई। किसी ने बताया कि पत्रकार हैं, साप्ताहिक हिंदुस्तान में काम करते थे। वहाँ इनको सात सौ रुपए महीना दरमाहा मिलता था। 66-67 में सात सौ रुपए का मतलब होता था। एक दिन डॉ. लोहिया ने इनको कहा 'अशोक' 'जन' को तुम्हारी जरूरत है लेकिन हम तुमको ढाई सौ रुपए से ज्यादा नहीं दे पाएँगे और अशोकजी झट से सात सौ रुपए महीना छोड़कर ढाई सौ पर काम करने 'जन' में आ गए। यह आदमी तो अद्‌भुत हैं। धीरे-धीरे उनसे निकटता बढ़ती गई। जन के बंद होने के बाद वे कलकत्ता आ गए। समाजवादी आंदोलन में युवजन सभा के समय से ही धीरे -धीरे किशन पटनायक के मैं करीब आ गया था। अशोकजी भी उनके काफी करीब थे।इसलिए आगे भी हम लोगों का मिलना- जुलना बराबर जारी रहा।

अशोकजी दिल्ली से कलकत्ता आ गए थे। उसी दौरान मेरा कलकत्ता जाना हुआ। उन्हीं के घर ठहरना हुआ। घर देखकर बहुत ताज्जुब हुआ। लॉर्ड सिन्हा रोड का वह आलीशान मकान अशोकजी का है। कहाँ अशोकजी और कहाँ यह शानदार कोठी। जब मैं पहली दफा अशोकजी के यहाँ गया, तो उन्होंने अपने पिताजी सीताराम सेकसरियाजी से मुझे मिलवाया था। प्रभावशाली व्यक्तित्व, जमनलाल बजाज के निकटतम सहयोगी हुआ करते थे।जब मौलाना आजाद कांग्रेस के राष्ट्रीय अध्यक्ष और सरदार पटेल कोषाध्यक्ष थे, तब सीतारामजी सेकसरिया बंगाल कांग्रेस के कोषाध्यक्ष हुआ करते थे। शांतिनिकेतन के हिंदी भवन से भी जुड़े थे। घर में उस जमाने के बड़े-बड़े लोगों का आना-जाना होता था। जयप्रकाशजी, कृपलानीजी , राजेंद्र बाबू आदि। राजेंद्र बाबू तो राष्ट्रपति बनने के बाद उनसे मिलने उनके घर आए थे। काका कालेलकर, मैथिलीशरण गुप्त का भी बराबर आना-जाना था। महादेवी वर्मा तो वहीं रुकती थीं। ऐसे वातावरण में जनमे और पले-बढ़े अशोकजी का रूपरंग, रहन-सहन बिल्कुल विपरीत था। ऐसा कैसे हुआ? जबकि, एक समय वे क्रिकेट के ऐसे शौकीन थे कि टेस्ट मैच जहाँ-जहाँ होता था, वहाँ-वहाँ दोस्तों के साथ हाजिर रहते थे। उनका यह शौक अंत तक बरकरार रहा, लेकिन सिर्फ टेस्ट मैच तक।

क्रिकेट पर हिंदी में पहली किताब उन्होंने ही लिखी थी। उनके देहांत के बाद के उनके पारिवारिक कार्यक्रम में भाग लेने कलकत्ता उनके घर में परिवार के लोगों के साथ बैठा था, वहाँ जानकारी मिली कि जब अशोकजी नौ-दस वर्ष के थे, गांधीजी को उन्होंने पाँच रुपए चंदा भेजा था। गांधीजी ने पोस्टकार्ड पर उसका जवाब भी दिया था। घर के लोगों की बात से लगा कि उन्होंने संत जेवियर कॉलेज पर बीए की पढ़ाई पूरी नहीं की और उसके बाद हिंदुस्तान टाइम्स की नौकरी में दिल्ली चले गए। कलकत्ता से ही 'चौरंगी वार्ता' का प्रकाशन शुरू हुआ। रमेशचंद्र सिंहजी उसके संपादक थे। 74 आंदोलन के दरम्यान वार्ता आंदोलन की पत्रिका बन गई थी। अशोकजी वार्ता में रीढ़ की तरह नेपथ्य में थे। आंदोलन के बाद तय हुआ कि नए सिरे से पटना से वार्ता का प्रकाशन हो, किशनजी उसके संपादक रहेंगे। लेकिन, यह तभी संभव होगा, जब अशोकजी पटना आकर वार्ता को सँभाले। इस प्रकार अशोकजी पटना आए। पटना में काफी दिन उनका रहना हुआ।

वार्ता दफ्तर सिर्फ पत्रिका का ही केंद्र नहीं था, बल्कि वह 'लोहिया विचार मंच' की गतिविधियों का भी केंद्र था, बिहार भर से आनेवाले साथियों की अकसर पहली मुलाकात अशोकजी के यहाँ ही होती थी। सबके सब उनकी नम्रता और हर का ख्याल रखने की व्यग्रता से अभिभूत रहते थे। वार्ता में लिखने के लिए सबको प्रेरित करते रहना, जो भी लिखकर आया उसको सँवार देना, इसमें हमेशा जुटे रहते थे। जब तक वार्ता अंक प्रेस में होता था, वहीं बैठकर उसका प्रूफ देखना, छपने पर अगर प्रूफ की गलती दिख जाए, तो उसके लिए परेशान रहना, यह सब हम लोगों ने करीब से देखा है। उनकी भाषा अद्‌भुत थी। लोग लिखें, इसके लिए वे सबको प्रेरित करते रहते थे। मुझे याद है, पुनपुन के पास का हम लोगों का एक साथी था अर्जुन शर्मा, गरीब परिवार का नौजवान था। उसको अशोकजी पत्रकार बना रहे थे। वह लिखकर उनको भेजता था और वे उसको शुद्ध कर भाषा संबंधी भूल समझाते हुए जवाब देते थे। एक बार अर्जुन ने उनकी लिखी कई वैसी चिट्ठियाँ मुझे दिखाई थीं। मैंने अर्जुन को कहा कि वह इनको सँभालकर रखें अगर उनको वैसे ही छपवा दिया जाता, तो भाषा की समझ बनाने की वह अच्छी पुस्तिका बन जाती। अशोकजी ने कितनों को लिखना सिखाया, मैं जो थोड़ा-बहुत लिख ले रहा हूँ यह उनका ही आशीर्वाद है।

हिंदी साहित्य में अशोकजी का जो अवदान हो सकता था, वह हो नहीं पाया। बहुत कम लिखा। उन्होंने जो लिखा, वह छपवाया नहीं। जो छपा, वह छद्म नामों से लेकिन लेखन के क्षेत्र में उन्होंने न जाने कितनों की मदद की है। कई इनकी सहायता पाकर नाम पा गए। इनकी मानवीयता, संवेदनशीलता और साहित्य में लगभग नेपथ्य से दिए गए इनके अवदान के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए साहित्य जगत के कुछ मूर्धन्य लोगों ने अपनी पुस्तकों को इन्हें समर्पित किया है। इनमें रघुवीर सहाय, निर्मल वर्मा, नंदकिशोर आचार्य, राजकिशोरजी का नाम स्मरण में आ रहा है।

आज के अपने-आप में मगन इस दुनिया में ऐसे लोग भी हो सकते हैं यह अशोकजी को देखे बगैर यकीन करना कठिन था। इमरजेंसी में मैं जेल में था, बाबूजी मुझसे पहले जेल चले गए थे। अशोकजी को कहीं से जानकारी मिली कि हमारा परिवार परेशानी में है, तो पता नहीं कहाँ से इंतजाम कर हर महीने डेढ़ सौ रुपए मेरी पत्नी को भिजवाते रहे। मृत्यु के दो दिन पहले उन्होंने बालेश्वरजी को अफलातून से कहने के लिए कहा था कि वार्ता शीघ्र प्रेस में चली जाए और किशनजी की 'विकल्पहीन नहीं है दुनिया' का दूसरा संस्करण जल्दी छप जाना चाहिए। अपने ऐसे अनोखे-विरले अशोकजी को हम अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

साठ साल की सहयात्रा

प्रयाग शुक्ल

बहुतों के लिए अब कोलकाता वही नहीं रह गया (या नहीं रह जाएगा) जो अशोक सेकसरिया के रहते हुए उनके लिए था और उनके निवास 16 लॉर्ड सिन्हा रोड में पहुँचने से पहले ही उनके मन (और शरीर) में एक रोमांच-सा पैदा कर दिया करता था। जूते-चप्पल बाहर उतार देने पर ,उस बड़े से कमरे में प्रवेश करते ही,वह अक्सर एक तख्त पर बिछे बिस्तर पर,या फर्श पर ही,कुछ पढ़ते-लिखते हुए मिलते— कई बार तो उन्हें भान भी नहीं होता कि कोई उनके पास आकर खड़ा हो गया है—पर ज्यों ही कुछ चौंककर उसकी ओर देखते तो सब कुछ छोड़-छाड़कर उसी के साथ हो लेते। लेकिन इस बार जब मैं 24 नवंबर की सुबह उस कमरे में पहुँचा तो दृश्य बदला हुआ था। वह एक हॉस्पिटल बेड पर लेटे हुए थे। आँखें कुछ मूँदी हुई थीं। आहट से खुल गयीं।ओ हो,तुम आ गये जैसा कुछ उन्होंने कहा। मैं पटना के भारतीय कविता समारोह से होते हुए कोलकाता उनसे मिलने पहुँचा था-यह मालूम होने पर कि वे बाथरूम के बाहर फिसलकर गिर पड़े थे, और बायँ पैर के ऊपरी भाग में, कमर के पास की उनकी हड्डी, अपनी साथिन हड्डी से टूटकर विलग हो गई है,और वह अपना बायाँ पैर-हिला डुला भी नहीं पा रहे । पटना समारोह में जो शॉल मुझे भेंट में मिला था, वह मैं साथ लेकर गया था और उनकी अधमुंदी सी आँखों का लाभ उठाकर उन पर उसे ओढ़ा दिया था । एक मोटी-सी चादर उन पर पड़ी थी। किसी अतिरिक्त ओढ़ावन की जरूरत उन्हें नहीं थी। पर, हल्की सी ठंड थी, सो, वह शॉल भी खप गया। मैं डाँट और उलाहने की अपेक्षा कर रहा था, ऐसी डाँट की कि अरे,यह क्यों ले आए इसका क्या काम?आदि। पर, वे बोले मेरे लिए लाए हो? मैं स्वीकृति में चुप रहा। बोले,मेरी बड़ी बहन के कारण ही मेरी भी यह आदत बन गई है कि कोई कुछ लाकर देता तो चिढ़ जाता था। तुम जानते हो वापस कर देता था। नर्स बिंदु बिस्तर के पास आकर खड़ी हो गई । मैं बांग्ला में ही उससे कुछ बातें करने लगा। बोली सुबह से कुछ खाया नहीं है। मना कर देते हैं। ऐसे ,कैसे चलेगा? मैंने कुछ अभिमान से कहा,खाएँगे कैसे नहीं। साठ साल से उन्हें जानता हूँ तबसे हमारी दोस्ती है। मन में यह आशंका थी कि जरूरी नहीं यह वास्ता देने पर भी वह खा ही लेंगे। पक्के जिद्दी हैं। यह भी मुझसे अधिक भला और कौन जानेगा। पर, मैंने दुहराया 'कुछ तो खा लीजिए।' बिंदु ने दलिए से भरा एक चम्मच बढ़ाया। उन्होंने खा लिया। पर, अगले चम्मच के लिए मना कर दिया ।

जो हुआ, उसका आभास, तब दूर-दूर तक नहीं था । मैं सहज भाव से बातें करने लगा। पीड़ा तो उन्हें थी ,पर पीड़ा को उनसे अधिक छिपाते हुए, किसी और को तो देखा नहीं। अपनी पीड़ा को छिपाकर, दूसरे की मामूली सी पीड़ा पर खुद को कुर्बान कर देने की इच्छा का नाम ही तो अशोक सेकसरिया था। जब उनके साथ काफी बातें कर चुका, तो एक बार फिर बालेश्वरजी आए, मानो अपनी चुप्पी से यह कहते हुए कि थोड़ा विराम दें अब आप दोनों। मैंने चौंककर पहचाना कि अब तो बिलकुल विराम देना चाहिए। हम मिलते ही इसी प्रकार तो बातें करने लगते थे। वह कुछ ऊँचा सुनने लगे थे। वैसे मामूली सी बात पर भी उनका 'विस्मय' देखते ही बनता है। वह अपने विस्मय को दुहराते भी बहुत थे। थोड़ी देर के विराम के बाद, उन्होंने फिर बातें शुरू कर दीं। इस बार मैं सावधान था। न अपने को थकाना चाहता था ,न उनको। यह सब लिखते हुए यह भी तो याद आ रहा है कि जब भी उस कमरे में उनके साथ ठहरता था।... और रात्रि भोजन के बाद, हम लेटे-लेटे ही बातें करने लगते थे... बीच-बीच में सिगरेट सुलगाते हुए तो कई बार सुबह हो जाती थी...चिड़ियों की आवाज, और फूटती रोशनी से हम पहचानते कि रात बीत गई और बातें खत्म नहीं हुईं...

अब वही याद आ रही हैं। वे असंख्य हैं। उन्हें समेटना मुश्किल है। और इस मामले में मैं ही अकेला नहीं हूँ । जो भी उनके निकट आया , वह यह ठीक ही मानकर चल सकता है कि वही तो उनके स्नेह के बहुत निकट रहा है, उनके स्नेह का विशेष प्राप्तकर्ता। यह चमत्कार है...और इस चमत्कार को साधनेवाले व्यक्ति का नाम ही अशोक सेकसरिया है।

राजनीति। समाज। साहित्य। कलाएँ।क्रिकेट, हॉकी, फुटबॉल की दुनिया। पत्रकारिता। मित्र-परिजन। ज्ञान की अनेक शाखाएँ... आजीवन उनके ओढ़ने-बिछाने की चीजें रहीं। अपने को प्रचार-प्रसार से दूर रखनेवाले अशोक सेकसरिया, अपने प्रिय लोगों के प्रचार प्रसार में कोई कोर-कसर बाकी नहीं रहने देते थे।जो उनके पास है, उसे देना ही मानो उनका धर्म था,न दे पाने पर ,उनके विवश,भावविह्वल चेहरे की यादें भी बहुत सी हैं। 24 नवंबर की शाम को भी जब मैं उनके पास बैठा था, तो उनके छोटे भाई दिलीप (जिनकी मृत्यु कुछ वर्ष पहले हुई) के छोटे बेटे सौरभ का बेटा वेदांत, उनका हालचाल पूछने आया ।...14 की उम्र से कुछ बड़े वेदांत को देखकर यह याद आई कि इतना ही बड़ा तो था जब अशोक (जी) से मेरी पहली भेट हुई थी...मेरे बड़े भाई कथाकार रामनारायण शुक्ल ने किसी हिंदी पत्रिका की

साहित्यिक वर्ग पहेली शौकिया भरी थी और मेरे छोटे भाई देवनारायण शुक्ल के नाम से भेज दी थी...उसे पुरस्कार मिल गया था, और पुरस्कार की सूचना के साथ जो पता छपा था वह हमारी टुबैकों शॉप का था ,बी-8,न्यूमार्केट का। अशोकजी यह पता करने आए थे कि भला इस दुकान का वह कौन-सा व्यक्ति है जिसे ऐसी हिंदी आती है, और जो हिंदी साहित्य के बारे में ऐसी जानकारी रखता है। यह संयोग ही था कि मैं उस वक्त दुकान में था- कभी-कभी मैं भी घर के किसी नौकर के साथ, या अकेले ही पिता के लिए कुछ टिफिन लेकर घर से जाता था स्कूली छुट्टियों के दिनों में। वह आए, पूछा देवनारायण शुक्ल कौन हैं? तब मैं बारह वर्ष का था। वह कोई बीस के रहे होंगे। पर, लगते 17-18 के थे । मैंने सोचा यह मेरे छोटे भाई के दोस्त तो हो नहीं सकते.. . उन्होंने सब हाल-चाल जाना। और यह जानकर कि मैं भी कुछ लिखता पढ़ता हूँ, और मेरे बड़े भाई रामनारायण शुक्ल भी, और कि उन्होंने ही यह वर्ग पहेली भरी थी... वह हमारी दुकान में आने लगे। टुबैको शॉप के सामने ही हमारे संयुक्त परिवार की अंग्रेजी पुस्तक दुकान थी 'कालीचरण एंड कंपनी'... जो पारिवारिक बँटवारे के बाद 'हमारी' नहीं रह गई थी... यह सब भी उन्होंने जाना। आगे की कथा संक्षेप में यह है कि उन्हीं के कारण हम एक बड़ी साहित्यिक दुनिया से परिचित हुए... 'कल्पना','कहानी','वसुधा','युगचेतना' आदि पत्रिकाओं से। उपन्यास 'अज्ञेय' का शेखर एक जीवनी हमने पढ़ा। 'बड़ा बाजार पुस्तकालय', सेठ सूरजमजालान पुस्तकालय, 'नेशनल' लायब्रेरी आदि में जाने लगा, अनंतर उन्हीं के साथ 'ब्रिटिश काउंसिल लायब्रेरी' नेशनल लायब्रेरी भी... 18 वर्ष का था तब मेरी एक कहानी 'कहानी' पत्रिका में फोटो सहित 'सड़क का दोस्त' प्रकाशित हुई, और 'कल्पना' में 'दो लड़के' शीर्षक कहानी, जिसकी पृष्ठभूमि से वह परिचित थे... अत्यंत प्रसन्न हुए। अपनी कविताएँ भी उन्हें सुनाता था। वह स्वयं कुछ लिखते हैं इसका पता उन्होंने हमें लगने नहीं दिया। 'सेंट जेवियर कॉलेज' की पढ़ाई छोड़कर वह वैसा जीवन क्यों बिता रहे हैं, जैसा बिता रहे थे... टूटी- सी चप्पलों में, धूल की परतोंवाले पैरों में, बेतरतीब-से पहनावे में, सिगरेट पीते हुए, और 'दक्षिण भारतीय श्रीनिवास रेस्तराँ' (जो लायड्स बैंक के पीछे था, और हमारा अड्डा बन चुका था) में कॉफी-चाय पीते हुए, डोसा इडली खाते हुए... यह प्रश्न हमारे मन में कभी-कभी जागता था, पर, उनका वह जीवन भी कम रोमांचित नहीं करता था, सो हमने उसे बहुत कुरेदा नहीं...आगे चलकर यह सुनने को मिला कि वह ऐसा जीवन किसी 'प्रेम प्रसंग' के कारण बिता रहे थे...पर, अगर ऐसा था भी तो वह 'पता-ठिकाना' वे हम सबसे आजीवन छिपाए रहे...

बहरहाल, यह उन्हीं दिनों की बात है, जब मेरे पिता का व्यवसाय डूबना शुरू हो गया था। 1958 में वह दुकान-मकान सब कुछ बेचकर गाँव चले गए। मेरे बड़े, भाई रामनारायण शुक्ल कलकत्ता विश्वविद्यालय में कानून की पढ़ाई कर रहे थे, वह वहाँ के हॉस्टल में रहने चले गए। मैं अपने एक मित्र के पास रहने लगा जो कॉलेज में मेरे सहपाठी थे। बड़ी बहन चंद्रकांता अवस्थी कोलकाता में ही थी, उनका सहारा था, अशोक (जी) तो थे ही. .. पर, कुछ ही समय बाद वह भी 'हिंदुस्तान' (दिल्ली) में काम करने के लिए दिल्ली चले गये। शुरू हुआ हमारा पत्र-व्यवहार।

एक बार फिर 24 नवंबर की शाम में लौटूँ, वेदांत से कहने लगा ठीक तुम्हारी ही उम्र का था, जब तुम्हारे दादाजी से मेरी भेंट हुई थी। अशोकजी मुस्कराये। चुपचाप हमारी बातें सुनते रहे। वेदांत अब दसवीं का विद्यार्थी है, सेंट जेवियर में पढ़ता है, जानकर मैं उससे अंग्रेजी में बातें करने लगा... आजकल यही तो होता है, बड़े और प्राइवेट, पब्लिक स्कूलों के बच्चों से हम अंग्रेजी में बातें करने लगते हैं ठीक ही यह मानकर कि 'हिंदी तो उन्हें अच्छी तरह आती नहीं होगी।'

जो भी उनके निकट आया , वह यह ठीक ही मानकर चल सकता है कि वही तो उनके स्नेह के बहुत निकट रहा है, उनके स्नेह का विशेष प्राप्तकर्ता। यह चमत्कार है...और इस चमत्कार को साधनेवाले व्यक्ति का नाम ही अशोक सेकसरिया है।

मैंने वेदांत से यह पूछा कि कुछ हिंदी भी पढ़ते हो या नहीं,... मुझे कुछ चकित करते हुए वह हिंदी में ही बोला, पढ़ता हूँ। मैंने इंटरस्कूल वाद-विवाद प्रतियोगिता में पुरस्कार जीते हैं। हिंदी मेले में भी।... अशोकजी ने भी इस सबके प्रोत्साहन—समर्थन में कुछ बातें कहीं। चलते हुए वेदांत बोला, '' मुझे कुछ पूछना था। हिस्ट्री में। नौ बजे आपके पास आ जाऊँ?''अशोकजी एक करुण-सी आवाज में बोले, जिसमें विवशता और भावविह्वलता समान मात्रा में झलक रही थी... ''आ जाना, तबीयत ठीक लगी तो जरूर बता सकूँगा '' जैसा कुछ उन्होंने कहा।

वेदांत हमें प्रणाम कर चला गया। मैं सोचने लगा, अचरज क्या कि उसे हिंदी आती है आखिरकार वह सीताराम सेकसरिया का प्रपौत्र है, जिनका जीवन महात्मा गांधी, रवींद्रनाथ ठाकुर, सुभाषचंद्र बोस, काका कालेलकर, मैथिलीशरण गुप्त, महादेवी वर्मा, राय कृष्णदास, भागीरथ कानोड़िया, जैसे व्यक्तियों व रचनाकारों से जुड़ा रहा है, और जिनके सुयोग्य बड़े बेटे अशोक सेकसरिया ने हिंदी में ऐसा गद्य लिखा है, अपनी कहानियों, लेखों, टिप्पणियों, पत्रों में, जिसकी मिसाल मिलना मुश्किल है, और जिन्होंने अपने पिता की आजादी की लड़ाई के दिनों की डायरियों का 'एक कार्यकर्ता की डायरी' (ज्ञानपीठ से प्रकाशित) शीर्षक से दो खंडों में ऐसा संपादन किया है कि उससे संपादन कला सीखी जा सकती है।

याद आई कि इन डायरियों के संपादन के लिए उन्होंने जयपुर शहर में डेढ़-दो बरस एकांतवास किया था...

इतनी हाड़-तोड़ मेहनत अब कौन करता है जो उन्होंने

'हिंदुस्तान','दिनमान','जन', 'रविवार', 'चौरंगी वार्ता' 'सामयिक वार्ता' आदि पत्र-पत्रिकाओं में विभिन्न विषयों पर लिखे गए अपने लेखों-टिप्पणियों में की। रायकृष्णदास, बालकृष्ण गुप्त (लोहिया के सहयोगी), निर्मल वर्मा आदि पर लिखे हुए उनके अद्‌भुत संस्मरणों की भी याद आती है। कई पुस्तकें बन जाएँ, इतने हैं उनके लेख-टिप्पणियाँ। अपनी लिखी कोई चीज कभी सँभालकर नहीं रखी...उनकी एक मात्र पुस्तक 'लेखकी' (वाग्देवी प्रकाशन)के लिए कहानियाँ एकत्र की अरविंद मोहन ने, कुछ कुँवर नारायणजी से मिलीं, तीन श्रीराम वर्मा से। 'प्रिय पाठक' जैसी कहानी उसमें जाने से फिर भी रह गई है।

बहरहाल, उन्हें बिना बताए हुए 'लेखकी' का प्रकाशन हुआ। बताते तो वे होने न देते। पहल अरविंद मोहन ने की थी। भूमिका मैंने लिखी। दीपचंदजी (वाग्देवी प्रकाशन) ने सुरुचि के साथ यह संग्रह प्रकाशित किया। लोकार्पण दिल्ली के पुस्तक मेले में हुआ। प्रभाष जोशी, कुँवर नारायणजी के हाथों। खबर प्रकाशित हुई। अशोकजी को पता चला। कुछ ही दिनो बाद किसी प्रसंग में मुझे और मेरी पत्नी ज्योति को कोलकाता जाना था। हम भारतीय भाषा परिषद के अतिथिगृह में ठहरे थे। रास्ते भर मैं ज्योति से चर्चा करता हुआ आया था कि "अशोक जी मुझ पर बहुत नराज होंगे।पर, जो हो देखा जायेगा। उन्हें मना लूँगा।"वह अलका सरावगी, शर्मिला बोहरा के साथ अतिथिगृह में आये, तो मैंने पुस्तक की चर्चा नहीं की.. न उन्होंने कुछ कहा.. मामला शांत-सा है जानकर मैंने 'लेखकी' की प्रति निकाली और उनकी ओर सरका दी, उन्होंने उलटी-पलटी, बाकी लोगों ने भली भाँति देखी-परखी...तारीफ की वह चुपचाप सुनते रहे...पर, चलते हुए प्रति साथ रख ली तो मैं खुश हुआ। अपने किये हुए को 'कुछ न मानने' जैसा उनका भाव, हमेशा याद आयेगा...

मैं कुछ भी लिखता, कहीं भी छपता, किसी अनाम-अज्ञात-सी जगह में भी तो उन्हें न जाने कैसे उसकी खबर हो जाती प्रतिक्रिया में पत्र मिलता या फोन, या उनसे मिलने पर वह उसकी चर्चा करते... प्रशंसा मिलती और किसी एक शब्द या वाक्य की असावधानी पर उनका सुझाव भी। 'आलोचनात्मक' टिप्पणी भी... जब भी जो भी पत्रिका मैंने संपादित की, उसकी सामग्री और साज-सज्जा तक में, उनका सहयोग मिलता, और उसकी किसी कमी पर, सावधानी बरतने की भरपूर सीख भी मिलती... ऐसा मेरे साथ ही हुआ था सो बात नहीं, जो भी उनके निकट आया, जिसे भी उन्होंने चाहा, सबके प्रति उनका यही व्यवहार रहा...उनके जीवन में, कई ऐसे व्यक्ति आये, मेरे जाने, जिनके प्रति उनमें गहरा प्रेम और सम्मान भाव पैदा हुआ, इनमें से कुछ की याद कर लेता हूँ, ओमप्रकाश दीपक, कृष्णनाथ, रामकुमार, कृष्णा सोबती, शंख घोष, निर्मल वर्मा, किशन पटनायक, सुनील, गिरधर राठी, महेन्द्र भल्ला, जितेन्द्र कुमार, प्रबोध कुमार, कमलेश, अशोक वाजपेयी, पृथीपाल वासुदेव आदि की एक मित्र-मंडली तो दिल्ली प्रवास में बनी ही.. रमेशचंद्र शाह, ज्योत्स्ना मिलन और उनकी दोनों पुत्रियों, शंपा और राजुला से उनकी आत्मीयता का तो कोई आर पार नहीं था। सैकड़ों, सामाजिक- राजनीतिक कार्यकर्ता, पत्रकार, कलाकार, लेखक, संपादक, शिक्षाकर्मी, समाज-सेवियों, और सामान्य-जनों की इतनी लंबी सूची है, उनसे जुड़ने की, ... कि गिनती करना संभव ही नहीं है ...और यह भी तो था ही कि जिससे जुड़े,उसके समूचे परिवार से, उसके बच्चों से, और उसकी मित्र-मंडली तक से वह जुड़ जाते थे, सहज ही, अनायास...

भारतीय भाषा परिषद के पुस्तकालय प्रभारी बालेश्वर राय 1988 में उनके साथ रहने आये, अनंतर उनकी पत्नी सुशीलाजी, और उनके दोनों पुत्र रवींद्र और अवनींद्र भी आ गये... इन 26 वर्षों में अशोकजी के जीवन का 'हिसाब-किताब', जमा-खर्च उन्हीं के पास सबसे ज्यादा है। कौन उनसे मिला, आया-गया, ठहरा, उन्होंने क्या किया, कहा इस सबका जमा खर्च। इस परिवार ने उन पर जो अपना प्रेम, और समर्पण लुटाया है उसकी तो याद भी विह्वल कर देती है...

उनकी एक-एक सुख-सुविधा का जैसा ध्यान इन लोगों ने रखा, वह सचमुच अभिनंदनीय है...

रवींद्र और अवनींद्र के वह दादाजी बने, और एक इशारे मात्र से उनकी बातें वे समझ जाते थे...पिछले दशकों में, संजय भारती -जमुना, अलका सरावगी, शर्मिला बोहरा जालान, जवाहर गोयल आदि उनके निकट रहे हैं। सो अशोकजी से फोन पर संपर्क न हो पाने की स्थिति में मैं भी इन्हें ही फोन करता था... और कोलकाता में न होने पर वह प्राय: काँचरापाड़ा में संजय-जमुना के घर पर ही 'मिलते' थे।

1960 में, 20 वर्ष की आयु में अशोकजी से मिलने दिल्ली आया था। तब वह 'दैनिक हिंदुस्तान' में थे। तय हुआ कि मैं कोलकाता लौटते हुए जब अपने गाँव, तिवारीपुर, हुसेनगंज, फतेहपुर में रुकूँगा तो वह भी कुछ दिनों के लिए वहाँ आएँगे... वे आए। मेरे माता-पिता अन्य परिजन तो उन्हें चाहते ही थे। उन्हीं की तरह मेरे बचपन के मित्र (अब किसान) त्रिलोकी रमण द्विवेदी से उनकी अंतरंग भेंट हुई ...और एक ही बार मिलने के बावजूद, उन दोनों का भी ऐसा संबंध बना कि वे मुझसे आजीवन त्रिलोकी रमण के बारे में पूछते रहे और यही हाल त्रिलोकी रमण का है...जो भी उनसे मिला, भले ही एक बार, फिर कभी भूला नहीं ...

1963 में जब उन्हें खबर मिली कि 'कल्पना' में एक जगह खाली है, तो उन्होंने मुझे पत्र लिखा कि तुम वहाँ चले जाओ। बदरीविशाल जी से मिल लो। उन्हें मालूम था कि संभव है मेरे पास कोलकाता से हैदराबाद तक जाने के साधन न हों सो अपने भांजे सत्यनारायण सुरेका को फोन किया कि वह मुझे सौ रुपए दे दें। मैं हैदराबाद पहुँचा। 'कल्पना' ने मेरा जीवन बदला . ..यह मेरा किस्सा है। ऐसे ही किस्से अन्यों के पास भी होंगे। जब वे सामने आएँगे तो अशोकजी अपने को 'छिपाकर' न रख पाएँगे।

मेरा भाग्य कि वह मुझे मिले। मैं उन्हें 'गांधी तत्व' वाला व्यक्ति ही मानता हूँ। और यह भी जानता हूँ कि सर्वाधिक सुख उन्हें

गांधी-चर्चा में ही मिलता था। यह याद करके वे बहुत प्रसन्न होते थे कि मेरे और ज्योति के विवाह के एक साक्षी सीताराम सेकसरिया जी बने थे। और मैंने उनके चरण छुए थे। विवाह 'रजिस्टर्ड' विधि से हुआ था। मैरेज ऑफीसर शिक्षायतन स्कूल के हॉस्टल में आये थे। तब ज्योति की बड़ी बहन रूबी दी (रवींद्र कौर अहलूवालिया) वहाँ हॉस्टल की वार्डन थी, और शिक्षायतन स्कूल की वाइस प्रिंसिपल। इस स्कूल की स्थापना सीतारामजी और भागीरथ कानोड़िया ने ही की थी। और रूबी दी तो शुरू से ही उनके शिक्षा-आयोजनों में सहभागी रही थीं।उन्होंने 'मारवाड़ी कन्या विद्यालय' में भी पढ़ाया था। इसी विद्यालय से तो सेकसरियाजी और उनके मित्रों ने कोलकाता में कन्या-शिक्षा की (भी) अलख जगायी थी।

इसे भी एक अच्छा संयोग मानता हूँ कि, भेंट तो उनसे हर बरस होती ही रही थी... पर, इधर चार महीनों में दो बार हुई... मैं अगस्त के प्रथम सप्ताह में रामकुमार जी के रेखांकनों की प्रदर्शनी (आकृति आर्ट गैलरी, कोलकाता) के अवसर पर कोलकाता गया था। प्रदर्शनी मैंने ही क्यूरेट की थी। रामकुमारजी की इच्छानुसार गगन गिल भी कोलकाता आयी थीं। अशोकजी अब बाहर जरा कम निकलते थे। चलने में उन्हें कुछ कठिनाई भी होती थी। पर, रामकुमारजी की प्रदर्शनी थी, सो वह आए। काफी देर रहे। गगन और मैं दूसरे दिन उनसे मिलने गये। अपने अनुमान में उन्होंने गगन को 'फ्लेम बायंट'(इस शब्द का इस्तेमाल स्वयं अशोकजी ने किया था) मान रखा था, पर, गगन से मुलाकात के बाद उन्हीं के शब्दों में उनका 'भ्रम' टूटा... दोनों में ऐसी जमी मानों वर्षों से एक-दूसरे के आत्मीय रहे हों... निर्मल से जुड़ी बहुतेरी यादें उन्होंने साझा की...

एक बात और। इस बार अशोकजी के चेहरे की दाड़ी सफाचट थी। किसी ने कहा, शायद, जुगनू शारदेय ने, जो उनकी हड्डी के फ्रैक्चर की खबर पाकर मेरी ही तरह, उनके पास आये थे, ''अशोकजी तो बड़े हैंडसम लग रहे हैं...'' अशोकजी भिड़कते हुए मुस्कराए...हाँ, निश्चय ही वह हैंडसम भी थे।...अशोकजी 'अशोक' जी थे। पर, भला कोई भी व्यक्ति जो अपनी कद-काठी में ही नहीं, हर तरह से 'बड़ा' हो, वह कभी एक-रूपवाला तो होता नहीं है। उन्हें कई रुपों में देखा है। 'कोर' भले एक हो, सो, उन्हें निरक्षरों को पढ़ाते हुए देखा है। घर में वर्षों परिचारिका और भोजन बनानेवाली ठाकुरदासी के अस्वस्थ होने पर उसकी 'सेवा' की चिंता करते हुए देखा है। बच्चों के साथ खेलते हुए देखा है।किसी की किसी गलती पर डाँटते हुए भी देखा है। चिड़चिड़ाते हुए देखा है। अपनी किसी गलती पर पछताते हुए भी देखा है। सुस्वादु भोजन पर प्रसन्न होते देखा है। किसी शब्द का वास्तविक अर्थ जानने के लिए बेचैनी से शब्द-कोश और संदर्भ-ग्रंथ पलटते हुए देखा है... मित्रों को नेशनल लायब्रेरी से उनकी 'खोई' हुई चीजों की प्रतिलिपियाँ बनाकर भेजते हुए देखा है। स्वयं विवाह नहीं किया, पर, कई मित्रों-परिचितों के प्रेम विवाह में आनेवाली बाधाओं को दूर करते देखा है। मित्रों को लेने-छोड़ने के लिए स्टेशन-एयरपोर्ट जाते देखा है। उस जमाने में जब उन्हीं के साथ ठहरता था, बहुत मना करने पर भी वह हावड़ा स्टेशन मुझे छोड़ने आते ही थे। उन्हें किसी के किसी काम के लिए घंटा-आध घंटा किसी कतार में खड़े हुए भी देखा है।

चित्र-संगीत-फिल्म-नाटक को सराहते हुए देखा है। और उस वीतरागी और सौंदर्य प्रेमी को, उस विलक्षण को, उस सहृदय को...किसी महँगे इत्र-वस्त्र-की बारीकियों में जाते हुए भी देखा है।

ज्ञान की असंख्य शाखाएँ हमारे काम आती हैं। यह उन्हीं से जाना है..., 'दुखवा कासे कहूँ मोर सजनी' नाम की उनकी कहानी बताती है कि खेल की दुनिया की, उसकी राजनीति की, और हॉकी जैसे खेल की बारीकियों की कैसी समझ उन्हें थी।

इस बार की भेंट में भी फिर उन्होंने हिंदीभाषी समाज में 'शब्दों की कमी' होते जाने पर चिंता व्यक्त की। अनुवाद के वक्त किसी मौजूँ शब्द के खोजने और मिल जाने पर होनेवाली खुशी की बात की। उनके साथ होनेवाली चर्चा, विशेष रूप से कविता पर चर्चा कितनी रसमयी होती थी। जयशंकर प्रसाद की कविताओं का संगीत उन्हें बेहद अच्छा लगता था। वह जब कुछ पीड़ा में थे तो उन्हें बिस्तर के पास खड़े-खड़े ही 'तुमुल कोलाहल कलह में मैं हृदय की बात रे मन' पूरी सुना दी। वह मुझे कंठस्थ है। उन्हें अच्छा लगा। मुझे एक संतोष हुआ।

पिता उनके जीवन की धुरी थे। तब भी जब पिता से उन्होंने अपनी दूरी बढ़ाई और तब भी जब पिता की मृत्यु के बाद वह उनके अत्यंत 'निकट' आए। उनके जीवन-मूल्यों में उतरे। पिता की मृत्यु से पहले के अशोक सेकसरिया और उनकी मृत्यु के बाद के अशोक सेकसरिया मानो एक ही व्यक्ति नहीं रह गए थे। उनकी 'घर' वापसी हुई। और कोलकाता छोड़ना उन्हें अच्छा नहीं लगता था। वह कभी विदेश नहीं गए। हाँ, कई विदेशी उनके प्रिय पात्र बने, इमरै बंघा इन्हीं में से एक हैं। देश-दुनिया की इतनी चीजों की जानकारी उन्हें थी कि आप कुछ भी बताएँ या तो उससे वे परिचित होते थे या अत्यंत उत्सुक। पिता और उनसे दूरी और निकटता की कथा इतनी मर्मभरी है कि उसकी बात अभी न कर पाऊँगा। उसके लिए तो कुछ संदर्भ चाहिए, कुछ और सूत्र और तथ्य, जो मेरे पास हैं तो कुछ, पर पूरे नहीं। फिर कभी।

जब एंबुलेंस आ गई, और उन्हें सर्जरी के लिए ले जाया जा रहा था तो उनके बिस्तर के पीछे दीवार पर सीताराम सेकसरिया का वही पोर्ट्रेट टँगा था सुंदर, आयल कलर में कैनवास पर बनाया गया, जिसकी तारीफ मैं उनसे भी कर चुका था कई बार। फिर की। सबने सुना। अशोकजी ने भी। मेरी ओर देखा। इशारा किया कि फिर मिलेंगे। हम सब नीचे उतरे। उन्हें एंबुलेंस में लिटाया गया। बालेश्वरजी साथ गए। अन्य परिवार जन एक दूसरी गाड़ी में बैठे। सब कुछ ठीक-ठाक जानकर हम निश्चिंत हुए।

शाम को एयरपोर्ट से बालेश्वरजी और उनके भतीजे गौरव को फोन किया। मालूम हुआ, सब कुछ ठीकठाक है। ऑपरेशन 27 को होगा। मैं दिल्ली की ओर चला। दो दिन तक भी सब

ठीक होने के समाचार मिलते रहे। पर, 29 नवंबर की रात सब कुछ बदल गया।... अशोकजी चले गये... दो हृदय-आघातों के बाद...

वे अशोकजी जो प्रूफ की एक गलती से परेशान हो जाते थे और चिंतित थे इस बार भी कि हमारी पत्र-पत्रिकाएँ प्रूफ की गलती को इतना 'सहज' क्यों मानने लगी हैं कि किसी को उन पर कोई पछतावा तक नहीं होता।

'कलिकथा: वाया बाईपास' (अलका सरावगी) और 'आलो आँधारि' (बेबी हालदार) जैसी कृतियों के प्रोत्साहक अशोकजी ने न जाने कितने लोगों को प्रेरित-प्रभावित किया और हमेशा यही चाहते रहे कि लिखने पढ़ने की दुनिया सबकी बड़ी हो...

विनम्र थे विनम्र भाव से चले गये... कभी कुछ चाहा नहीं, अपने लिए...पर, सुना कोलकाता के केवड़ातल्ला श्मशानघाट पर उनकी अंत्येष्टि में 300 लोग जुटे... सबकी आँखों में जल था... उनके लिए।अब भी उनके परिचितों-मित्रों के फोन, एक-दूसरे को, शोक-सांत्वना से जोड़ रहे हैं और यह सिलसिला बना हुआ है...

मेरे ताऊजी

गौरव सेकसरिया

मेरे ताऊजी, अशोक सेकसरिया मेरे पिता तुल्य थे। उनके बारे में शब्दों में बयान करना असंभव है क्योंकि उनकी सरलता एवं गहराई, उनका अपनापन, उनकी असीम करुणा ,बुद्धि, जिज्ञासा को केवल भाँपा जा सकता है।

मेरे जन्म से वह बहुत खुश थे और मुझे आज भी याद है कि जब मैं छोटा था तो वह मुझे कंधे पर बैठाकर पूरे शहर के विभिन्न जगहों की सैर कराते थे। मेरे पूरे परिवार को खाने का बहुत शौक है, और ताऊजी को भी था, खासकर मीठे का। हम लोग कहीं भी रुककर कुछ भी खा लिया करते थे। मैं छोटा ही था, जब वह पटना चले गए और वहाँ से वह 'सामयिक वार्ता' निकालते थे ।

अशोकजी बहुत ही सरल और गहराई से सोचने वाले व्यक्ति थे। उनकी पूरे विश्व के इतिहास में रुचि थी और यह ही नहीं उनको एक-एक बड़े-बड़े लीडर की खबर रखने का भी शौक था। एक बार हमारे घर पर नेपाल से कुछ पंडित आए और वह ताऊजी से बात करके दंग रह गए क्योंकि उनको नेपाल के पूरे इतिहास के बारे में पता था। कितने राजा और कितने नेता और वहाँ क्या-क्या हुआ था, सब कुछ। पढ़ने और लिखने का उनको बहुत शौक था और विश्व में क्या नया आविष्कार हुआ है, उसकी भी बहुत जिज्ञासा थी। करीब-करीब हमारे देश के सभी नेताओं के बारे में उनको बहुत ज्ञान था।

जहाँ तक भारतीय साहित्य,नाटक, संस्कृति का सवाल था, तो उसके बारे में उनका अपार ज्ञान था। मैं देखता था, उनके पास बड़े-बड़े साहित्यकार एवं पत्रकार तथा साहित्य के शिष्य आते थे, और मेरे दादाजी, श्री सीताराम सेकसरिया जिनके पास देश भर से हर तरह के लोग मिलने आते थे, वे ताऊजी को जरूर मिल के जाते थे।

मेरे ताऊजी ने विवाह नहीं किया और इसलिए वैवाहिक जीवन में क्या परिस्थितियाँ होती हैं, उसका उन्हें आभास नहीं था। वह हमेशा कमजोर का साथ देते थे चाहे वह गलत ही क्यों न हो और वह यह भी मानते थे कि लड़कियाँ कमजोर होती हैं, और इन सब धारणाओं की वजह से उनके बहुत से मित्र उनसे खफा रहते थे। उनकी एक और बात सबको खटकती थी और वह यह थी कि अगर उन्होंने किसी व्यक्ति के लिए कोई राय बना ली कि वह गलत है तो उनका मन बदलना असंभव था। उनके इसी नकारात्मक रवैए के कारण मुझसे काफी बहस हो जाती थी।

मेरी और मेरी बेटी की उनको बहुत चिंता थी। अगर मुझे जरा-सी भी हरारत हो जाती, तो वह मुझे दसों बार ऊपर से नीचे देखने आ जाते। उनके सबसे प्रिय मित्रों में शिवानंद तिवारी और प्रयाग शुक्ल थे जिनको वह बहुत चाहते थे, और वे जब-जब आते थे तो ताऊजी मुझे हमेशा उनसे मिलवाते थे।

इन्हीं दोनों दोस्तों को मैंने अपने बचपन से देखा है और यही दोनों उनके प्रिय और घनिष्ठ मित्र थे। बाद में, जवाहर गोयल, अलका सरावगी और संजय भारती से भी बहुत अच्छी दोस्ती हो गई। यही उनके ऐसे मित्र थे जो कि बिना कोई मतलब से उनसे मिलते थे और उनके मन को समझते थे। चंचल मुखर्जी के बारे में भी कभी-कभी बात करते थे और उनकी बाते मुझे बतलाते थे। ताऊजी का एक और पसंदीदा व्यक्ति ज्ञानेश्वर था जिसने उनकी बहुत सेवा की और ताऊजी उसके बारे में भी मुझसे बहुत बात करते थे। ताऊजी का मन इतना बड़ा था, वह कभी भी किसी को ना नहीं करते थे और रात-दिन एक करके सबकी मदद करते थे।

वह अथाह सागर थे, जिनके लिए लिखने पर कितनी बड़ी किताब बन जाए और शायद वह कम हो। यादें तो तरंगों की तरह मुझमें तैरेंगी और क्या कहूँ? समझ में नहीं आता।

पारस पत्थर का गुम हो जाना

पुष्पेश पंत

सन 1965। अठारह साल की उम्र में एमए पास कर जब मैं नैनीताल से दिल्ली पहुँचा-सप्रू हाउस में शोध करने-तभी कुछ महीने बाद अशोकभाई से मुलाकात हुई। कब यह मुलाकात अपनापेवाले आत्मीय रिश्ते में बदल गई पता ही नहीं चला। आज याद नहीं पड़ता कि तब वह दैनिक हिंदुस्तान में काम कर रहे थे या उस अखबार को छोड़ चुके थे पर अकसर शाम को वह सप्रू हाउस आते- बड़ी सी लौन की हरी घास पर पसरकर बैठने और मित्र मंडली के साथ घंटों बतियाने के लिए। इस मित्र मंडली में कवि, लेखक, रंगकर्मी, पत्रकार, राजनैतिक कार्यकर्ता सभी शामिल थे। बेकार नौजवान-अधेड़ भी। मेरी सहपाठी सुवर्णा कट्टर समाजवादी थी-मिशनरी तेवरवाली। डाक्टर लोहिया के रकाबगंज रोडवाले निवास पर अकसर हाजिरी लगानेवाली। वहाँ तब साहीजी, रघुवीर सहाय, हुसैन आदि की मजलिस सजा करती थी। लोहिया के सचिव (तब युवा) कमलेश थे जिनसे मैं नैनीताल में कुछ बरस पहले मिल चुका था जब वह मौसी- शिवानी- से मिलने आए थे। कमलेश भैया ने ही मुझे बहुत सारे रचनाधर्मी लोगों से मिलवाया था और पत्रकारिता का तिलिस्मी दरवाजा 'खुल जा सिमसिम' की तर्ज पर खोला था पर यह अच्छी तरह याद है कि अज्ञेय जैसे सुरुचिसंपन्न आभिजात्य शैलीवाले गुरु गरिमा से अभिभूत करनेवाले कमलेश भैया ने औघड़ अवधूत मुद्राधारी अशोक सेकसरिया तक नहीं पहुँचाया था। यह काम प्रयाग ने किया था-जिनसे कमलेशजी ने कनाट प्लेस के शामियाने तले गुलजार कौफी हाउस में मिलवाया था। अशोक प्रयाग के बड़े भाई रामनारायण शुक्ल के मित्र थे और शायद पहले पहल प्रयाग की वजह से मुझे उनके करीब आने का मौका अनायास मिल सका।

> *इंडियन स्कूल ऑफ इंटरनैशनल स्टडीजवाली इमारत में टेबुल टैनिस खेलना भी निश्चय ही उन्हें याद आता होगा। उस वर्ष मैं अपने विश्वविद्यालय की तरफ से खेलता था और खुद को तीसमारखाँ समझता था। मेरी ग्रिप 'पेनहोल्डर' थी जो मुकाबले के खिलाड़ी को अक्सर चकराती थी। नीचे बहता पाजामा एक हाथ से पकड़ते अशोकभाई ने बड़ी आसानी से मुझे मेरी औकात बता दी थी।*

सन 1968 मार्च। फील्ड वर्क के लिए सिंगापुर-मलेशिया-फिलिप्पीन्स जाने तक मैं अशोकजी की सुखद छत्रछाया का भरपूर लाभ उठाने लगा था। अशोक 'जन' के संपादन के साथ जुड़े थे और उनके प्रोत्साहन से ही मैंने अपनी विदेश यात्रा वृत्तांत की दो किस्तें 'जन' के लिए लिखीं। यदि अशोकभाई ने मेरा हौसला न बढ़ाया होता तो शायद मेरा लिखना-छपना आगे बढ़ ही नहीं पाता। उन्हीं दिनों मैंने कुछ कहानियाँ लिखी थीं जिनका कथ्य समलैंगिक प्रेम था। तब यह कल्पना कठिन थी कि यह हिंदी की किसी पत्रिका में छप भी सकती हैं। अशोक को मेरे लेखन में शायद कुछ संभावना नजर आई सो उन्होंने मुझे कल्पना की संपादिका कांता पित्तीजी से मिलवाया। यह सभी कहानियाँ कल्पना में प्रकाशित हुईं और उनकी हौसला अफजाही के कारण ही मैं 'जवानी के दिन' नामक छोटा सा उपन्यास लिख सका। इसे प्रकाशित करनेवाले भी अशोक और प्रयाग के कलकत्तावाले मित्र-मानिक बच्छावत-ही थे।

दूसरों की रचनात्मक प्रतिभा को प्रोत्साहन-सहृदय आलोचना से निखारने-सँवारने की अशोकजी की क्षमता अद्वितीय थी। कहानी-कविता ही नहीं राजनैतिक पत्रकारिता और हाथखर्च जुटानेवाली व्यावसायिक पत्रकारिता के मामले में भी स्तर और गुणवत्ता की उनकी कसौटी का खौफ निरंतर अंकुश की तरह काम करता था। उन दिनों मैं रघुवीरजी की कृपा से दिनमान में बहुत लिखा करता था। रघुवीरजी से मिलानेवाले कमलेश थे और शायद इस परिचय की वजह से वह मुझे तरह-तरह के विषयों पर लिखने का मौका देते थे- अंतरराष्ट्रीय राजनीति से जुड़े मेरे शोध से इतर चर्चित पुस्तकों-देशी-विदेशी फिल्मों आदि पर मैं लिखने के नायाब मौके पाता रहा। मुझे पता था कि अशोकजी जरूर सब कुछ पढ़ेंगे-फिर जब मिलेंगे तो अगर कहीं चूक रह गई या लापरवाही हो तो लौन पर क्लास ली जाएगी – 'क्या पुष्पेश! क्यों घास काटी है?' तब तक सप्रू हाउस में हिंदी बोलने-बाँचनेवाले दोस्तों की खासी मंडली जुट चुकी थी। सागर से पहुँचे थे रमेश, इलाहाबाद से ज्योत्स्ना, बड़ौदा से वासंती, हैदराबाद से जावेद, दिल्ली के शाहिद और सिद्दीक। दोस्तों के सामने हतकइज्जती का संकट विकट था। करीब पचास साल पुरानी इन यादों का बखान लग रहा है कि अशोक के साथ अन्याय है। वह जो कुछ जब भी कहते थे स्नेह में पगा होता था।उन जैसे पारदर्शी निश्छल-निष्कपट इंसान की निर्मम टिप्पणी किसी का दिल कैसे दुखा सकती थी और कैसे कोई उनसे डर सकता था? असंभव।वह तो अनगढ दिखनेवाला पारस पत्थर थे जिनके छू लेने

भर से पीतल भी सोना बन जाता था!

बहुत साल बाद जब रविवार का प्रकाशन शुरू हुवा तब अशोकजी की स्नेही 'सिफारिश' की वजह से ही संभवत: एसपी सिंह ने लंबे समय तक मुझसे हर अंक में देश और देशांतर दो कौलम लिखवाए। एसपी से मिलना बहुत बाद में हुवा जब वह टाइम्स समूह में लौट आए थे। मैं नंदिता जैन की दोस्ती की वजह से गोवा की मार्केटिंग मीट के लिए बुलाया गया था। वहाँ शाम ढले सागर तट पर रेत में बैठे अशोकभाई की ही बातें होती रहीं।

कहावत है 'हरि अनंत हरिकथा अनंता'! कुछ वैसा ही आलम अशोकभाई का था। जिसने भी उन्हें देखा-जाना उसके मन में उनकी प्रभु मूरत उसकी अपनी मनभावना जैसी ही निर्मित होती थी। मुझे शुरू से ही यह बात आश्चर्यचकित करती रही कि कितने विषयों की अद्‌भुत्‌ जानकारी का भंडार थे अशोक! क्रिकेट से लेकर कविता, सैद्धांतिक राजनीति से लेकर जनांदोलन, खान पान से लेकर नाटकों-फिल्मों तक। कब वक्त मिला होगा उन्हें अपनी तमाम व्यस्तताओं के बावजूद इतना पढ़ने का? वीतराग, अपरिग्रही अशोकभाई पुस्तकों के कीड़े थे पर जमा करने के व्यसनी (कमलेश भैया की तरह!) कतई नहीं। पुस्तकालयों में ही धूनी रमाते थे। बड़े संकोच से वह पूछते- 'यह तो तुमने पढ़ ही ली होगी। कैसी लगी?' दर्जनों बार ऐसा हुवा कि जिस पुस्तक या लेख का नाम उन्होंने लिया मैंने सुना तक न होता। फिर बड़ी शर्म आती। वह मानते थे मैं बड़ा पढ़ाकू हूँ, बहुत तेज पढ़ता हूँ-कुछ छोड़ता नहीं। समस्या यह थी कि अशोकभाई वह कछुवा थे जो किसी भी अहंकारी खरगोश को हर बार पछाड़ सकते थे। न कभी उनका रत्ती भर इरादा किसी को शर्मिंदा करने का होता था। मेरा मानना है वह संकोच के साथ मार्गदर्शन करने का प्रयास करते थे-अपने स्नेहभाजनों का। मैं इसे अपना बहुत बड़ा सौभाग्य मानता हूँ कि इतने साल उनके साथ रहने का मौका मुझे मिला।

'साथ रहने' का दावा करना अटपटा लग सकता है कुछ को। दिल्ली छोड़ने के बाद कभी-कभार लंबे अंतराल के बाद ही उनसे मिलना हो पाता था। पर यह भी सच है कि अशोक हमेशा साथ रहते थे। कुछ भी लिखते ही मन उन्हें पहला पाठक बनाने के लिए अकुलाने लगता। मौका मिलते ही फोन कर कम से कम चार पाँच पन्ने सुनाए बिना चैन नहीं पड़ता। दशकों के अंतराल के बाद अगर मैं अपना दूसरा उपन्यास जा मेरे बचपन; शुरू ही नहीं कर पाता, समाप्त करना तो बड़ी दूर की बात है। इस बात का संतोष है कि इसके कुछ हिस्से मैं पढ़कर उन्हें और संजय भारती (रोशनाईवाले) को कलकत्तावाले उनके निवास स्थान पर सुना सका।

हर बार कलकत्ता में मिलते ही पूछते, 'इस बार किस 'रैकेट' में पहुँचे हैं?' तथाकथित अकादमिक काम को अशोक भाई ज्यादा भाव नहीं देते थे। उन्हें पेशेवर आलोचक तथा पब्लिक इंटेलैक्चुवल महंत 'फ्रौड' ही लगते थे। मेरे प्रति उनका स्नेह मुझे 'फ्रौड' के रूप में बेनकाब नहीं करता था और मेरे छल-प्रपंचों की जवाबदेही का बोझ वह मुझ पर नहीं थोपते थे- ''उदरनिमित्तं बहु तवेशम्'' वाला चोर दरवाजा मेरे भाग नकलने के लिए खुला छोड़ देते थे। उनके शब्दकोश में 'स्मार्ट' शब्द भी गाली जैसा ही था।जिस किसी लिए इसका प्रयोग वह करते उसका खोखलापन स्वयं सिद्ध था। नीरस होना भी लगभग अपराध की श्रेणी में आता था। वह मात्र बतरस के गुणी ग्राहक नहीं थे- मौसम में नलिन गुडेर सौंदेश हो या जयनगर का मउवा खिलाए बिना उन्होंने कभी नही लौटने दिया। किशोर रवींद्र दौड़ाया जाता बीएन से मिठाई लाने। चखने के बाद फिर वह कहते, 'अब वह बात नहीं रही!' मारवाड़ी भोजन का मर्म समझाने वह मुझे अपने साथ अलकाजी (सरावगी) के घर ले गए। बियर पीना कबका छोड़ चुके थे परंतु मेरे लिए बडवाइजर की दो-दो ठंडी बोतलें या रम का अद्धा सहेज कर रखा रहता था। पिछली बार पूछा, ' सिगरेट पीते हो अब या नहीं?' सिगरेट छोड़े तीस बरस हो गए पर ना नहीं कहा जा सका। सप्रू हाउस के लौन पर साझे की चार मीनार का धुआँ उड़ाना उन्हें भलीभाँति याद था।अब सोच रहा हूँ शायद 35 फिरोजशाह रोडवाली इंडियन स्कूल ऑफ इंटरनैशनल स्टडीजवाली इमारत में टेबुल टैनिस खेलना भी निश्चय ही उन्हें याद आता होगा। उस वर्ष मैं अपने विश्वविद्यालय की तरफ से खेलता था और खुद को तीसमारखाँ समझता था। मेरी ग्रिप 'पेनहोल्डर' थी जो मुकाबले के खिलाड़ी को अक्सर चकराती थी। नीचे बहता पाजामा एक हाथ से पकड़ते अशोकभाई ने बड़ी आसानी से मुझे मेरी औकात बता दी थी। कभी-जाने कब-कौलेज में वह जरूर बेहतरीन टेबुल टैनिस खेलते रहे होंगे। फिर जाने कब कहानी लिखने और क्रिकेट की तरह इस खेल में भी उनकी दिलचस्पी अचानक समाप्त हो गयी। अशोकभाई का अंदाज हमेशा उस शेर की याद दिला जाता था, 'हुस्न की हर इक अदा पर दिल ओ जाँ सदके मगर, लुत्फ कुछ दामन बचाकर गुजर जाने में ही है!'

लंबी जिंदगी में जाने कितनी चीजों और व्यक्तियों से उनका मोहभंग हुवा था पर गांधी और लोहिया के प्रति उनका लगाव जीवन पर्यंत बना रहा। समाजवादियों (भारतीय सोशलिस्टों) के 'पतन' की चर्चा करते वह हमेशा गुस्सैल रूप धारण कर लेते थे-भाषा 'तू-तड़ाक' वाली हो जाती थी। स्वाभाविक संयम शालीनता को लौटने में काफी वक्त लग जाता था।सत्ता सुख भोगनेवाले मौकापरस्त समाजवादी पार्टी के सदस्यों का आचरण उन्हें सबसे अधिक मर्माहत करता था। तब भी वह पुराने युवा अब अधेड़ समाजवादी युवजन सभावाले मित्रों से संपर्क बनाए रखते थे। किशनजी के न रहने के बाद योगेंद्र यादव एवं सुनील के जरिए सामयिक वार्ता जीवित रह सकी तो इसमें अशोकभाई का अवश्य योगदान कम नहीं रहा। दूसरी चीज जो उन्हें उत्तेजित कर देती थी कमलेश भैया का हिंदू ब्राह्मण पुनरोत्थानवादी शिखा सूत्र संपन्न अवतार। फिर भी यह स्वीकार करते थे कि कविताएँ बहुत अच्छी लिखी हैं।

बहुत कोशिश करने पर भी राजनैतिक हालात को हाशिए

पर रखना हमेशा संभव नहीं होता था।सोनिया, राहुल, मनमोहन का नामोल्लेख तक समय का अपव्यय था। पश्चिम बंगाल को मार्क्सवादी दबंगो-दलालों से निजात दिलानेवाली ममता के बारे में कोई गलतफहमी उन्हें कभी नहीं रही पर इस चर्चा के लिए मैं नहीं रमेश दीक्षित ही उनके प्रिय सुपात्र थे। इमरजैंसी के दौरान तकरीबन पौने दो साल जेल रहे रमेश के सौ खून अशोकभाई के लिए माफ थे। रमेश की निश्छलता और घरफूँक मित्र वत्सलता का जैसा आदर अशोकभाई करते थे वैसा शायद ही किसी और ने किया हो।

सप्रू हाउसवाले दिनों की ही बात है। अशोक ने हिंदुस्तान छोड़ दिया था। स्वतंत्र पत्रकारिता की अनियमित आकाशवृत्ति से जीवनयापन होता था। जब किसी लेख का पारिश्रमिक मिलता वह देवदूत की तरह अवतरित होते हम निठल्लों पर उस कमाई को लुटाने के लिए। खुद अपने खाने-पीने के मामले में किफायती- औब्सेसिव होने तक-'जरूरतमंद' प्रियजनों की क्षणभंगुर खुशी ले लिए वह सर्वस्व न्यौछावर करने के आदी थे। कुजात परोपकारी और किसे कहेंगे आप?

कलकत्ता की सबसे सुखद यादों में अशोकभाई के साथ बिताई वह शाम रहेगी जब वह टैक्सी में बिठाकर हमें संजय के यहां 'काँचरापाड़ावाले 'कमरे' में ले गए थे। कस्सा माँस राँधा गया था हमें खिलाने के लिए। खुद हमेशा की तरह उन्होंने सात्विक शाकाहारी भोजन किया। उसी यात्रा में लौर्ड सिन्हा रोड़वाले मकान में एनेक्स् में पूरा एक दिन बिताने का योग बना। गुरुदेव रमेशचंद्र शाह भी वहाँ पधारे थे। उन्हें ट्रेन पकड़ने की चिंता सता रही थी। अशोक उन्हें आश्वस्त करने में व्यस्त थे कि वह स्टेशन तक पहुँचाने सही सलामत ट्रेन मैं बैठा आने की जिम्मेदारी कबूल कर चुके हैं- 'फिर कैसा घबराना?' होटल में लौटते वक्त मैं अपना नीला स्वेटर वहीं भूल आया जिसे बाद में संजय पुस्तक मेले के वक्त दिल्ली लाए।

अशोक की बेतरतीबी और खूब सिगरेट फूँकने की आदत को रोकने-टोकने और उलाहना देनेवाले कम नहीं थे पर असर किसी का नहीं होता था। एक बार पहले भी गिर पड़े थे। पर बूढ़ा होने का अहसास कभी किसी को नहीं हो सकता था। बच्चों जैसी मासूमियत ने बुढ़ापे को दहलीज पर ही रोके रखा आखिरी साँस तक। रवींद्र और अवनींद्र के साथ वह उन्हीं के समवयस्क बन जात थे- दादाजी से दोनों काफी खुले थे। रवींद्र जब एक इंतहान में गच्चा खा गया और सबकी डांट खा रहा था तब उसका मनोबल बना रहे दिल ना टूटे इसकी फिक्र हर पल उन्हें बनी रही। अपने पढ़ाए इस शिष्य की अंग्रेजी और हिंदी दोनों पर उन्हें वाजिब नाज था।

लगता है अशोक जीते ही दूसरों के काम आसान करने के लिए थे-कभी इस बात का बुरा (मुझे) लगता था कि काफी लोग इसका नाजायज फायदा अपना हक समझ करते थे। अर्थशास्त्री पूरनचंद्र जोशी को सन् 1945 के आस-पास विशाल भारत में छपी अपनी कविताओं की तलाश थी। उनकी खातिर जाने कितने दिन अशोक ने राष्ट्रीय पुस्तकालय में अपने हाड़ गलाए। कविताएँ प्रकाशित कराते वक्त आभार प्रकट करने की जहमत बहुधंधी विख्यात समाजशास्त्री ने नहीं उठाई।

बचपन में एक घुमंतू फकीर के मुख से सुना था गीत- तब पता नहीं था नजीर अकबराबादी की रचना है- 'क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण कन्हैया का बांकपन!' फकीर अशोक भी कम बांके-तिरछे नहीं थे।'एक बाउल गीत की पंक्ति है बृंदाबने केष्टो नेई कीछू नेई!' क्या अशोक के न रहने पर कलकत्ता कलकत्ता बचा रह सकता है उनको जाननेवालों के लिए?

उनकी उपस्थिति का आभास हमेशा बना रहेगा

कुँवर नारायण

अशोक सेकसरिया के निधन की सूचना ने अत्यंत विचलित कर दिया है। सहसा मन स्वीकार नहीं कर पा रहा है कि पिछले पचास वर्षों से जो व्यक्ति मेरे जीवन में इतने निकट और आत्मीय ढंग से उपस्थित था वह अचानक अब नहीं है। वे बहुत कम लिखने और कम बोलनेवाले व्यक्ति में से थे। किंतु जब भी कुछ कहते सार्थक कहते, जिस पर ध्यान देना अनिवार्य हो जाता। वे स्वभाव से विनम्र थे किंतु जो बात कहते या जो स्टैंड लेते उसमें दृढ़ता होती थी क्योंकि उसके पीछे कोई स्वार्थ न होकर सर्वहित की भावना प्रमुख होती थी। वे समाजवादी विचारों के समर्थक थे और हमारे उनके बीच जुड़ाव का एक बड़ा माध्यम समाजवाद से जुड़ी वह मित्र-मंडली भी थी जो उस समय साहित्य और राजनीति में सक्रिय थी। घनिष्ठता का दूसरा बड़ा कारण सन् 1966 में कलकत्ता में मेरा विवाह था और पत्नी भारती के परिवार से जुड़े अशोकजी के परिवार और मित्रों की आपसदारी थी जो पिछले पचास वर्षों में गहरी जड़ें पकड़ती चली गई। उन्होंने लिखा कम ही है किंतु उनका चरित्र इस माने में विलक्षण था कि वे साहित्य पर, राजनीति पर या सामाजिक मसलों पर जो भी राय देते बहुत सोच-समझकर कहते थे। कलकत्ते में उनकी उपस्थिति साहित्य प्रेमियों के लिए तीर्थस्थान की तरह थी, जो भी साहित्यकार कलकत्ता जाता बिना उनसे मिले नहीं आता। उनके साथ गुजरे कुछ थोड़े से समय की गहरी स्मृति मन में है और मैं जानता हूँ कि वह मेरे लिए हमेशा एक अमूल्य निधि की तरह सुरक्षित रहेगी। उनके न रहने पर भी उनकी उपस्थिति का आभास हमेशा बना रहेगा।

(साभार: जनसत्ता, 1 दिसंबर 2014)

हमारे 'लीविंग लीजेंड'

निर्मला शर्मा

अशोक सेकसरिया जिन्हें हम सब लोग अशोकजी के नाम से संबोधित करते थे, आज हमारे बीच नहीं है। कुछ समय पहले तक लगता था वे हमेशा या जब तक हम जीवित हैं हमारे बीच रहेंगे। उनके छोटे-छोटे प्रश्न जो वे हमसे हालचाल के बारे में अकसर पूछते जिनका उत्तर देने में भी कभी कोई संकोच नहीं होता, उनका सिलसिला लगातार चलता रहेगा। अपने पति जितेंद्र की मृत्यु के बाद सिरेमिक बर्तन बनाने के काम के सिलसिले में कलकत्ता आई थी। मैंने उनसे कहा मुझे एक बार गर्वर्न्मेंट आर्ट्स कालेज जाना है तो तुरंत बोले, चलो मैं लेकर चलता हूँ। मैं आग्रह कर रही थी कि टैक्सी से चले चलते हैं। मुझे लग रहा था इस उम्र में वे पैदल नहीं चल पाएँगे परंतु मैं गलत थी। अशोकजी अपनी पुरानी चाल में उसी तरह सड़क पर बार-बार ध्यान रखते हुए मेरे सामने हाथ कर देते अभी रुको, अब चलो। दस या पन्द्रह मिनट में हम कालिज पहुँच गए। फिर उन्होंने मुझे पूरा परिसर दिखाया और बोले अब मैं थक गया हूँ, अब आपको किनसे मिलना है उनसे मिल लीजिए, मैं यहीं बैठा हूँ। वहाँ जैनाजी ने अपने घर पर भोजन करने का आमंत्रण दे डाला। मैंने देखा वो उसके लिए भी मान गए क्योंकि अशोकजी को लग रहा था कि उन्होंने नया स्टूडियो बनाया है, तरह-तरह की भट्टियाँ लगाई हैं तो मुझे देखने का मन होगा।

अशोकजी का आधुनिक बोध ऐसा था कि मेरे बेटे देवाशीष के उनके घर रहते हुए अपनी महिला मित्र के घर पर आने-जाने पर उन्हें कोई आपत्ति नहीं हुई। बल्कि उन्होंने दोनों का बहुत ख्याल रखा।

वापिस आना एक जद्दोजहद से कम नहीं था। तीन घंटे से ज्यादा समय हो गया जैना साहब को टैक्सी नहीं मिली। फिर मुक्ता गई और एक टैक्सी क्या, जिसमें कपड़े धुलने जाते हैं वैसी बंदवाली गाड़ी लेकर आई। उसी से हम लोग ऐसी जगह पहुँचे जहाँ से ऑटो मिल जाता है। रात के साढ़े बारह बज गए तब जाकर हम घर पहुँचे। पर अशोकजी ने एक बार भी शिकायत नहीं की। उलटा उनका स्टूडियो और मुक्ता के बनाएँ खाने की प्रशंसा करते रहे।

अशोकजी से मेरी मुलाकात पहली बार दिल्ली में हुई। वे उस समय मधु लिमयेजी के सर्वेंट क्वार्टर में रहते थे। गुरुद्वारा रकाबगंज रोड पर। शादी के तीन महीने बाद जब मैं अपने मायके आई थी उस समय जितेंद्र भी दिल्ली आए और कहा आओ मेरे दोस्तों से भी मिलो। मुझे अच्छे से याद है जितेंद्र मुझे ऑटो में ही छोड़कर अशोकजी से मिलने गए। उनके पास में ही एक धोबी भी रहते थे जिनका नाम मुझे याद नहीं है। वे आए मेरे पास और मुझे डाँटते हुए बोले तुम क्यों नहीं उतरकर अंदर गई वहाँ अशोकजी सामान सँभालने में लगे थे बहुत सारी बीड़ियाँ कटोरी में रखी थीं उन्हें फेंकने जा रहे थे। मैं पैर छूने के लिए आगे बढ़ी तो कूदकर दो कदम पीछे हट गए कहा ये कभी नहीं करोगी तुम मेरे साथ।

मैं और जितेंद्र उन दिनों पंचमढ़ी में रहते थे। वहाँ हम पूरी कंजूसी से रहते और दिल्ली आकर सब पैसा, जो भी बचाया होता था, खर्च कर देते थे। 1968 में तनख्वाह भी बहुत ज्यादा नहीं होती थी। जितेंद्र को उस समय चार सौ रुपए मिलते थे और मुझे एक सौ पच्चीस रुपए। दिल्ली में साथ घूमना फिरना ऑटो या टैक्सी से होता था और दिल्ली आने का मतलब था सारा दिन काफी हाउस में बैठे रहना। वहीं सब दोस्त आते मिलते कॉफी पीने और कुछ देर बैठकर बातचीत करते और चले जाते। शाम के समय हम सब लोगों का अड्डा होता प्रयाग शुक्ल के घर पर और रात हमारी बीतती मेरी बड़ी बहन के घर पर एम्स के मकान में। बाद में प्रयागजी ने हमारे ठहरने की व्यवस्था मंडी हाउस के पास गोमती गेस्ट हाउस में कर दी। अशोकजी एक बार जितेंद्र पर गुस्सा भी हुए थे कि तुम कैसे कभी भी अपने रिश्तेदारों के पास आकर रुक जाते हो।

मुझे लग रहा है मैं अशोकजी के बहाने से अपने पति जितेंद्र कुमार पर ज्यादा लिखने लगी हूँ पर डोर तो जितेंद्र के साथ ही बँधी थी और उनकी वजह से ही मैं अशोकजी के साथ इतना समय गुजार पाई। अशोकजी के साथ जयपुर घूमने भी गए। उन्हीं के घर में रुके थे। एक कमरे में अशोकजी अकेले और दूसरे कमरे में हम तीनों लोग थे। अशोकजी पहले ही मेरे बेटे देवाशीष के लिए दूध वगैरह खरीदकर ले आए। इससे पहले कि मैं कहूँ दूध की जरूरत पड़ेगी। मैं एक दुकान में लाख व काँच की चूड़ियाँ खरीदने गई अचानक सुना कि अशोकजी और जितेंद्र में तू-तू, मैं-मैं हो रही है। धीरे-धीरे उसका स्वर इतना तेज हो गया लगा दोनों लड़-झगड़ रहे हैं। मैं चूड़ियाँ खरीदना छोड़ भागकर इनके पास आई पूछा क्या हुआ

है, लड़ क्यों रहे हो? दोनों बोले हम लड़ थोड़े ही रहे हैं किसी बात पर बहस हो रही है। अशोकजी को बहुत दुख हुआ कि उन दोनों की बहस की वजह से मैं चूड़ियाँ नहीं खरीद पाई।

एशियन गेम्स के पहले हम लोग एक बार दिल्ली आए थे। अशोकजी के साथ उस जगह भी गए थे जहाँ स्टेडियम वगैरह बन रहे थे। अशोकजी अपनी जिज्ञासा को ज्यादा रोक नहीं पा रहे थे। कुछ ही देर में उन्होंने एक मजदूर को पास बुलाया और उससे पूरी जानकारी ले ली। उनको कितनी मजदूरी मिलती है, ठेकेदार कैसा आदमी है वह जितनी तनख्वाह देता है, उतने पर ही हस्ताक्षर करवाता है या ज्यादा पर हस्ताक्षर करवाकर पैसा कम देता है। रहने खाने की क्या व्यवस्था है, परिवार सहित रहते हो या अकेले काम करने यहाँ आए हो?

मुझे अशोकजी के साथ पैदल घूमना बहुत अच्छा लगता था। दिल्ली में बहुत सारी जगह पर हम लोग पैदल ही जाया करते थे। उस समय उनसे बातचीत करने का भी खूब मौका मिलता था। बाद में जब अशोकजी कलकत्ता पहुँच गए मैं उनसे बार-बार आग्रह करती, चलो कहीं घूमकर आते हैं। उन्होंने मुझे कभी निराश भी नहीं किया, हमेशा कहने के साथ ही चल पड़ते थे।

कलकत्ता में ही जब सिरैमिक की हमारी एक प्रदर्शनी लगी, हम लोग पहुँचते उसके पाँच दस मिनट बाद ही अशोकजी आ जाते और पूरे समय वहीं बैठे रहते। मुझे ताज्जुब हुआ जब वे एक कलाकार को दिखाकर बोले, इनको कोई सामान नहीं बेचना। ये समय से कभी पैसा नहीं देंगे। मेरे लिए उनकी चिंता के बारे में सोचकर भी मुझे अच्छा लगता है।

अशोकजी को एक बार मैंने कहा मैं कलकत्ता आ रही हूँ। तो पता चला कि वे रात भर सो नहीं पाए और सुबह चार बजे ही स्टेशन आ गए जबकि मेरी गाड़ी सुबह साढ़े छः बजे पहुँची थी। उन्हें चिंता होती थी कि कहीं ऐसा न हो कि वे ट्रेन पहुँचने के बाद स्टेशन पहुँचें, मुझे भी पता होता था कि पहले ही पहुँच चुके होंगे। और मेरा सामान खुद ही उठाएँगे। पर एक बार ऐसा भी हुआ कि उन्होंने मुझे कलकत्ता आने से मना कर दिया। इसी तरह अभी जब उनके गिरकर कूल्हे की हड्डी टूटने की खबर सुनकर मैंने उन्हें फोन किया तो, अशोकजी ने फोन पर बात करने से मना कर दिया कि अभी बहुत लोग बैठे हैं। मृत्यु के पश्चात जब उनके घर रहनेवाले बालेश्वरजी की पत्नी सुशीलाजी से बात हुई तो उन्हें अफसोस हो रहा था कि अशोकजी ने आपसे बात करने से मना कर दिया था।

एक बार जितेंद्र की तबीयत बहुत खराब थी। अशोकजी उन दिनों केसला में सुनीलजी के साथ काम कर रहे थे। अचानक उनका फोन आया कि मैं भोपाल में हूँ, आपके घर कैसे पहुँचना होगा? जितेंद्र बहुत खुश हुए और तुरंत फोन पर घर आने का रास्ता बताने लगे।

उसके एक-दो दिन बाद ही जितेंद्र का देहांत हो गया। अशोकजी को खबर दी तो तुरंत आ गए। अशोकजी ने कहा आपको जितेंद्र को अग्नि देनी चाहिए पर मेरा कहना था बड़े बुजुर्गों ने जो संस्कार बनाए हैं उसी के अनुसार चलना चाहिए तो मेरे जेठजी ने ही अगले दिन गाँव से आकर दाह संस्कार किया।

अशोकजी का आधुनिक बोध ऐसा था कि मेरे बेटे देवाशीष के उनके घर रहते हुए अपनी महिला मित्र के घर पर आने-जाने पर उन्हें कोई आपत्ति नहीं हुई। बल्कि उन्होंने दोनों का बहुत ख्याल रखा। वे हम लोगों के लिए एक 'लीविंग लीजेंड' थे। राजनीति, साहित्य, कला किसी भी विषय पर किसी भी आयु के व्यक्ति से वे बात कर सकते थे। किसी की समझ कम हो, तो इससे उनका व्यवहार जरा भी नहीं बदलता था, न वे अपनी जानकारियों से किसी को छोटा महसूस कराते।

एशियन गेम्स के पहले हम लोग एक बार दिल्ली आए थे। अशोकजी के साथ उस जगह भी गए थे जहाँ स्टेडियम वगैरह बन रहे थे। अशोकजी अपनी जिज्ञासा को ज्यादा रोक नहीं पा रहे थे। कुछ ही देर में उन्होंने एक मजदूर को पास बुलाया और उससे पूरी जानकारी ले ली। उनको कितनी मजदूरी मिलती है, ठेकेदार कैसा आदमी है वह जितनी तनख्वाह देता है, उतने पर ही हस्ताक्षर करवाता है या ज्यादा पर हस्ताक्षर करवाकर पैसा कम देता है। रहने खाने की क्या व्यवस्था है, परिवार सहित रहते हो या अकेले काम करने यहाँ आए हो?

अशोकजी हमारे दिलों दिमाग पर हमेशा छाए रहेंगे उनकी स्मृति हमेशा ताजी बनी रहेगी। मैं जब भी कलकत्ता जाती, वे मुझे गरियाहाट से साड़ी खरीदकर देते। एयरकंडीशंड मार्केट के खादी भंडार से बहुत महँगीवाली साड़ी खरीदकर देते। मुझे महँगी साड़ी पहनने पर डर लगता है। मैं बहुत लापरवाह हूँ-खाना गिरा लेती हूँ, कई बार पता नहीं कैसे फट भी जाती है। कहीं न कहीं कील में अटक जाती है। पर अपने अल्प साधनों के बावजूद उनके ऐसा करने के पीछे मैंने हमेशा उनका प्यार और दुलार महसूस किया। आज भी जब वे नहीं हैं, महसूस कर पा रही हूँ और उससे बाहर आना नहीं चाहती।

सबके मर्मों का धर्मी

जवाहर गोयल

'अच्छा चलने वाला अपने पीछे धूल नहीं उड़ाता
अच्छा वक्ता विवाद अपने सिर नहीं उठाता
ज्ञानी पुरुष सबका नित्य सहायक होता है
न किसी की उपेक्षा करता, न किसी को त्यागता'

फोन पर इन पंक्तियों को अशोकजी को इसलिए सुना रहा था, क्योंकि रोज की तरह दो माह पहले उस शाम में उन्होंने पूछा था कि आज पुस्तकालय से क्या लाया और क्या पढ़ रहा हूँ। 'ताओ उपनिषद : लाओत्से के बोध वचन' नामक वह किताब पैंसठ साल पहले सर्व सेवा संघ, वाराणसी से छपी थी, विनोबाजी के साथी ने हिंदी में उसका अनुवाद किया था। अशोकजी ने सुनकर कहा था कि अपने लिए वे इसकी एक प्रति मँगवा लेंगे। गौतम बुद्ध के समकालीन,चीनी दार्शनिक लाओत्से ने स्वयं कभी कुछ नहीं लिखा था। दूसरों द्वारा दर्ज की गयी उनकी बातें पारंपरिक भारतीय सोच और दर्शन से बहुत समानता रखतीं थीं। उस किताब को पढ़ते हुए मैं लगातार अशोकजी का स्मरण कर रहा था क्योंकि उसमें व्यक्त अधिकांश बातों को मैं उनमे चरितार्थ देख रहा था।

अशोकजी से मेरी मुलाकात सन अस्सी में मेरे प्रिय कवि रघुवीर सहाय के माध्यम से हुई थी। बाद में अशोकजी इसे कई बार याद भी करते थे। रघुवीर सहाय उन दिनों साप्ताहिक दिनमान के संपादक थे, और मैं उसमें एक छद्म नाम से लिखा करता था, क्योंकि तब मैं कलकत्ते में एक सरकारी नौकरी कर रहा था। रघुवीरजी ने पता देते हुए मुझसे आग्रह किया था कि मैं अशोक सेकसरिया और रमेशचंद्र सिंह से अवश्य मिलूँ। मैं अपनी पढ़ाई समाप्त कर कुछ वर्ष पहले ही कलकत्ते आया था। लेकिन मन में कुछ आदर्श और ऐसे जुनून भी सवार थे कि समाज में बदलाव के लिए एक अलग भूमिका निभाऊँ। अशोकजी के उस पते पर जब मिलने गया तो देखा कि वे कलकत्ते के एक संपन्न इलाके की बड़ी सी कोठी में रहते हैं, जिसमे नीचे के तल्ले में उनका सारा परिवार रहता था, और ऊपर के तल्लों में विदेशी किराएदार रहते थे। सारे घर में संभ्रांत और सुरुचिपूर्ण सादगी की छाप थी। तब अशोकजी दाढ़ी-मूँछें नहीं रखते थे, और उनकी भूषा हुआ करती थी—मोटी खादी का हल्के रंगों का कुरता, सफेद पायजामा और चड़ड़े की सादी चप्पलें। उनका कमरा वैसा अस्त-व्यस्त और अव्यवस्थित नहीं रहता था, जैसा कि ऊपर के तल्ले में तब हुआ करता, जब वे अपने पिता की मृत्यु के बाद परिवार से अलग अकेले वहाँ रहने लगे थे। नीचेवाला उनका कमरा साफ सुथरा और वैसा ही व्यवस्थित था जैसा कि बाकी घर था। मुलाकात के पहले ही दिन उन्होंने बहुत जिद करके अपने कमरे में साथ खाना खिलवाया था। जो वृद्ध महिला खाना परोस रही थीं, न केवल बहुत स्नेहिल और ममतामयी थीं, बल्कि उनके प्रति अशोकजी के संबोधन और आदर भाव से आरंभ में मुझे ऐसा भ्रम हुआ कि वे उनकी माँ हैं, परंतु जल्दी ही जान गया कि वे वहाँ रसोई बनाने का काम करती हैं। अशोकजी के कमरे के सामने में उनके पिता सीतारामजी का कमरा था। उसी दिन अशोकजी ने मेरी भेंट अपने पिताजी से कराई थी। वे बहुत विशिष्ट और शालीन व्यक्ति थे। देर तक अपने दोनों हाथों में मेरा हाथ लेकर मुझसे बात करते रहे। चलने-फिरने की कठिनाई के बावजूद तब वे चक्केवाली कुर्सी पर निर्भर नहीं हुए थे। वे बहुत मृदु, सहज,सुसंस्कृत और अद्‌भुत आत्मीयता से भरे ऐसे व्यक्ति थे जिनके प्रति मन में तत्काल आप अपनापन और श्रद्धा दोनों महसूस करते हैं। बाद में उस घर में घुसने के बाद मैं पहले उनसे ही मिलता और फिर अशोकजी से। उस दिन चारेक घंटे साथ बिताने के बाद अशोकजी मुझे रमेश चंद्र सिंह के यहाँ ले गए। यह जानकर कि हम लोग इतना समय साथ बिताकर आए हैं, रमेशजी ने शुरू में ही कहा कि आप लोग अब अच्छे मित्र हो गए हैं। धीरे-धीरे न केवल अशोकजी से घनिष्टता बढ़ती गई बल्कि दिनमान के लिए जिन रिपोर्टों पर काम कर रहा होता, वे स्वत: उससे जुड़ जाते। मेरी स्कूटर पर हम दोनों अखबारों के आर्काइव्स, पुस्तकालयों और अन्य तमाम जगहों पर साथ-साथ चक्कर लगाते। ज्यादातर काम शाम में मेरे ऑफिस के बाद या फिर छुट्टी के दिनों में होता। मुझे लौटने में अक्सर देरी हो जाती और वे जिद करके अपने घर में रोक लेते, वहीं सुला लेते। उन दिनों वे साप्ताहिक रविवार से संलग्न थे। उन्हीं ने एक दिन मुझसे कहा कि रविवार के संपादक सुरेंद्र प्रताप सिंह आपसे मिलना चाहते हैं, फिर उनसे भी अच्छा परिचय हो गया, और मैं रविवार में विशेषकर कला संबंधी लेख लिखने लगा। हम दोनों अक्सर मिलते और साथ-साथ रमेशजी के घर चले जाते। रमेशजी प्रखर बौद्धिक थे, साहित्य के आलोचक और राजनीति के गंभीर चिंतक थे। अशोकजी और रमेशजी दोनों ही 'चौरंगी वार्ता' के संपादक मंडल में थे। रविवार से सुरेंद्र प्रताप के जाने के बाद, जब राजकिशोर के संपादन में 'साप्ताहिक परिवर्तन' आरम्भ हुआ , तब अशोकजी के जोर देने पर मैंने उसमें कला पर साप्ताहिक स्तंभ लिखना आरंभ किया, जबकि मैं रविवार में स्तंभ लिखने के लिए पहले सुरेंद्र प्रताप को मना कर चुका था।अब तक जहीराना मित्र अशोकजी, परोक्ष तौर पर मेरे मेंटर की तरह काम करने लगे

थे। जब भी हम लोग कुछ काम नहीं कर रहे होते तो पुस्तकालयों में किताबी कीड़े की तरह होते। क्रमश: गुजरते समय में नौकरी में मेरी जम्मेदारियाँ बढ़ती चली गईं। व्यस्तताओं के बीच समय कसता चला गया। पहले के जुनून की जगह इस समझ ने ले ली कि आप जहाँ और जिस किसी पेशे में काम कर रहे होते हैं , उसी में आप अपने सामाजिक आदर्शों के अनुरूप ऐसी रचनात्मक और सार्थक भूमिका निभा सकते हैं जो आपको अपना दायित्व निभाने का संतोष दे सके। समझने के लिए इसी बात को उल्टा करके देखें तो ऐसा कोई भी पेशा या क्षेत्र नहीं मिलेगा जहाँ व्यर्थता और भ्रष्टता का बोध न हो। बीच के इस दौर में अशोकजी से मिलना अपेक्षत: कम हो गया था। कभी-कभार वे मिलने मेरे ऑफिस आ जाते, या फिर मन की थकान या उलझनों के बीच देर शाम घर लौटते हुए मैं उनसे मिलने चला जाता। हर बार वे मेरे लिए इकट्ठा कर रखी किताबें मुझे देते। कई बार फोन करके जमा हुई किताबों के बारे में मुझे बताते और बुला लेते। इस दौरान मेरा कला और साहित्य पर लिखना जारी रहा। जो छपने भेजने के पहले उन्हें सुना देता या बतिया लेता। इसी मध्य मेरा विवाह हुआ, बच्चे हुए , बच्चों के विवाह हुए , लेकिन हर मोड़ पर मेरे हर निर्णय और हर काम में वे मेरे सबसे निकट रहे। मैं उन्हें सदा अपनी नैतिक शक्ति के बतौर अपने में महसूसता। उनका असीम स्नेह ऐसा विश्वास बनकर साथ रहता कि नितांत एकांत में भी उसका ताप कभी कम नहीं होता। मेरे पिता की मृत्यु के बाद, यह मेरा सौभाग्य था कि, मेरी पत्नी नीलू और बच्चे उनसे मेरी शिकायत कर पाते थे। वे उनके लिए भाई साब और ताऊजी थे और मुझसे ज्यादा स्नेह उन्हें करते थे। मेरी मूर्तिकार पत्नी के लिए अशोकजी मुझे अक्सर सीख दिया करते। उसके लिए उन्होंने अपने आचरण में परिवर्तन कर, अपने कड़े नियमों में दो अपवाद भी कर लिए थे। पहला यह कि उनसे मिलने पर पहले वह उनके चरण स्पर्श करती (जो कि हमारे घर का रिवाज था) और वे उसे आशीष देते। दूसरा यह था कि वह उनके पहनने के लिए जो भी कपड़े या अन्य सामान ले जाती, उसे वे स्वीकार कर लेते। नीलू की कला प्रदर्शनियों की चिंता और उसकी सफलता की खुशी उन्हें नीलू से अधिक रहती। वे परेशान रहते कि अगर उसका काम नहीं बिका तो वह कला कर्म करना ना छोड़ दे या उसके काम करने में कोई रुकावट ना आवे। अशोकजी के गुजरने के दो सप्ताह बाद एक प्रदर्शनी में जब नीलू की कृति पुरुस्कृत हुई, तो यह सोचकर उसकी आँखें छलछला आईं कि इससे सबसे अधिक खुश होनेवाले अशोकजी अब नहीं थे। हर मुद्दे पर उनका मत कमजोर के पक्ष के समर्थन पर ही होता और उनकी सहिष्णुता का आरंभ 'आपको समझना चाहिए कि...' से होता। यह उनका सम्मोहन था कि उनकी कही बात आसानी से मान ली जाती, भले ही उस पर मत भिन्न रहे हों। यह उनका जादू था कि प्रत्येक उनको अपना विश्वस्त और अत्यंत निकट महसूस करता। सब इतना सहज होता कि बाद में वे यह भी कहते कि 'इसमें तो कोई विवाद था ही नहीं।'

संपादन के साथ-साथ अशोकजी ने अनुवाद भी बहुत किये। भाषा के अभ्यास के लिए बीच-बीच में वे मुझे भी अपने पसंद की चीजों के अनुवाद का काम करने का सुझाते। सत्यजीत रॉय की आत्मकथा 'मेरा जीवन, मेरी फिल्में' का अनुवाद सुरेंद्र प्रताप के आग्रह पर मैंने अशोकजी के साथ मिलकर किया था। बाद में ललित कला अकादमी के लिए भी कई अनुवाद किए। हाल के सालों में हमने प्राइमो लेवी के संस्मरण 'सर्वाइवल इन आष्विच' का अनुवाद मिलकर करने का सोचा था। चेशलाव मिलोष, कोंस्टेंटाइन क्वाफी, प्राइमो लेवी, वेंडेल बेरी और अन्य कई कवियों की जो कविताएँ हमें अच्छी लगतीं उनका अनुवाद करने में उसका लुत्फ कई गुना गहरे तक मिल पाता। उन्हीं से सीख लेकर कविता,नाटक, सिनेमा आदि विषयों की सामग्री के अनुवाद के कई काम मैंने अपने हाथ में लिए। कभी देर रात में उनका फोन आता, जब वे अपने अनुवाद पर शंका कर विकल्प खोज रहे होते। सही उत्तर हमेशा उन्हीं के पास होता, बस मैं उनकी थकान और तनाव कम करने का निमित्त मात्र होता। बहुत कम पत्र पत्रिकाएँ थीं जिन्हें वे सम्मान की नजर से देखते थे। कुछ लिखा हुआ पसंद आने पर पूछते इसे कहाँ भेजेंगे, फिर स्वयं सुझा देते कि फलाँ को भेज दीजिए। जो कुछ छपकर आता, उसे काटकर देने के लिए सहेजकर रख लेते। कभी खुश होकर मेरी ही कविताएँ फोन पर मुझे सुनाते, कहते 'वाऽऽह रे वाह' और पूछते कि नया क्या लिखा है। कभी जब मुझे अपने लिखे पर अधिक शंका होती, लेकिन उन्हें पसंद आ जाती तो मेरी शंका दूर हो जाती। उनसे अच्छा श्रोता मिलना असंभव था, क्योंकि उनका आग्रह दूसरे की बात सुनने और दूसरे को समझने का होता, अपने को प्रमाणित करने का नहीं। बात करते हुए उनसे जितनी छूट ली जा सकती थी, शायद किसी और के साथ नहीं। लोगों की सरल सामान्य बातों या शंकाओं को संदर्भ और स्वरूप देते हुए , उसकी अच्छाइयाँ पहिचानने में भी वे निपुण थे। बीते अनेक वर्षों में उन्हें जैसा समझा जाना, उसे शब्दों में ठीक व्यक्त कर पाना मेरे लिए बहुत कठिन है, किंतु लाओत्से की उस पुस्तक को पढ़ते हुए ,उन्हें उन शब्दों में आसानी से देख पा रहा था ।

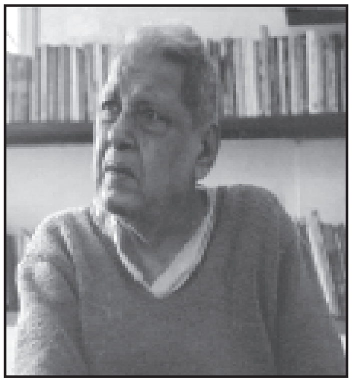

'विकारों का नियमन कर, धैर्य शील हो बालवत रहना संभव है
मन की मलिनता साफ धोकर निष्कलंक रहना संभव है
सभी तरह पारदर्शी होकर भी लोगों में अज्ञात रहना संभव है
निर्माण और संरक्षण कर्म कर फल की आशा ना करना

संभव है'

जब उनके गुजरने के बाद हिंदी भाषी प्रदेशों के कई शहरों जैसे पटना, रांची, भोपाल, बनारस, दिल्ली, कोलकाता आदि में उनकी संस्मरण सभाएँ हुईं तो मुझे अचरज नहीं हुआ। किंतु अपने वरिष्ठ साहित्यकारों को आसानी से भुला देनेवाले कई प्रमुख हिंदी अखबारों ने उनके निधन का समाचार मय उनकी तस्वीर के अपने मुखपृष्ठ पर छापा, जो मैंने सोचा नहीं था। अशोकजी ने कभी कोई किताब नहीं लिखी थी, (हालाँकि उन्हें बताए बगैर मित्रों ने उनकी कहानियों का संग्रह छपवाया) और न वे किसी संगठन के कभी अगुवा रहे। न ही कोई उपाधि या पुरस्कार पाया (अगर कभी मिला होता तो उसे अस्वीकार ही किया होता)इस सब के बावजूद सभी जगह उन्हें अत्यंत आदर भाव और अपनेपन से याद किया गया। वे जिस किसी के संपर्क में आते,उसी पर अपनी निस्वार्थसहज आत्मीयता और गहन मानवीय मूल्यों भरे स्नेह की अमिट छाप छोड़ जाते।

पुन: लाओत्से की उसी किताब से—
'सरलता का अर्थ है, देखने पर जो देखी नहीं जाती, वह।'

बाहर से न कुछ आलीशान था, न भव्य। आम दृष्टि में वैभवहीन। न ही कोई स्थापतियाँ, न ही दर्ज होनेवाली उपस्थिति। लेकिन अनेक हिंदी साहित्यकारों ने उनके नाम अपनी रचनाएँ समर्पित कीं थीं, जिनमे रघुवीर सहाय, निर्मल वर्मा, नंद किशोर आचार्य, प्रयाग शुक्ल, गिरधर राठी आदि के नाम प्रमुख हैं। अधिकांश नए लेखक उनसे संपर्क रखते उन्हें अपनी पुस्तकें भेजते। कोलकाता आने पर उनसे मिलने अवश्य जाते। अपनी रचनाओं पर उनकी प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा करते। अशोकजी ने हजारों चिट्ठियाँ लिखी होंगी, कोई पत्र कभी अनुत्तरित नहीं छोड़ा। इनमें साहित्य पर उनके सोच और सकारात्मक आलोचना होती। साहित्य का उनके सरीखा सदाशय, सतर्क और प्रबुद्ध पाठक मिलना लगभग असंभव था । किसी को उत्तर लिखने में देरी हो जाती तो इसके अपराध भाव से भर जाते। दूसरे की अच्छाईयों को पहिचान, उसे उत्साहित करना अपना कर्तव्य समझते। उन्हें मन में कोई शंका होती या सुधार चाहते तो भी उसे सीधे जाहिर न कर एक विकल्प या प्रश्न की तरह सामने रखते। उनका प्रयास यही होता कि लोगों को किस तरह रचना कर्म के लिए उत्साहित और सक्रिय रखा जा सके। साहित्य के अखाड़े और इसकी राजनीति से उन्हें घोर विरक्ति थी। यही कहते कि साहित्यिक वादविवाद से हर तरह से बचा जाए और दूर रहा जाए, इन्हें पढ़ा भी ना जाए।

पाँच साल पहले जब अचानक मुझे एक जानलेवा बीमारी ने घेर लिया, तब तीन माह तक लगभग हर दिन मुझसे मिलने अस्पताल चले आना, मेरे पास रहना, मेरे लिए अद्‌भुत सहारा था। डॉक्टरों ने छह माह से अधिक मेरे बचने की अपेक्षा नहीं की थी जो कि वे जानते थे। आरंभ में ही उन्होंने दो खाते देते हुए मुझसे कहा था कि एक में अपनी कवितायँ लिखा करूँ और दूसरे में अपने मन की दीगर बातें लिखता रहूँ। बाद में जब इलाज के लिए मुझे मुंबई जाना पड़ा, तो उन दो वर्षों के इलाज के दौरान लगभग हर दिन फोन पर मेरी खोज-खबर लेते और पूछते कि क्या कुछ नए चित्र बने या क्या कुछ नया लिखा गया। फोन पर कविता सुनाने को कहते और फिर सुनने को मिलती उनकी लंबी सी वाऽऽह, जो मेरे मन को तत्काल स्वस्थ कर देती। इन कविताओं को वे अपने कई लेखक मित्रों जैसे प्रबोध कुमार, रमेश गोस्वामी, कमलेश शुक्ला, संजय भारती आदि को भेजते और पत्र-पत्रिकाओं में छपवाते। बाद में उन्हीं सब के प्रयासों से ये कवितायँ पुस्तक रूप में सन 2012 में दिल्ली के प्रकाशन संस्थान से छपीं 'आओ जल में जल की छाया देखें '। उस संकट के दौर में अशोकजी ने जिस सहज आत्मीयता और स्नेह से मेरी मानसिकता को रचनात्मक और आशान्वित रखा, उसने मुझे जरा भी कमजोर नहीं होने दिया, और समय को मुझ पर हावी नहीं होने दिया। बल्कि बीमारी का दौर क्रमश: उपयोगी और सहूलियत के समय में तब्दील होता गया। मुझे संतुलित जान मेरी पत्नी नीलू की उन्हें बहुत चिंता रहती, यहाँ तक कि, मुझसे भी कई बार कहते कि उस पर क्या गुजर रही होगी। मेरे बारे में उनकी चिंताएँ देख, उल्टा मुझे यह भय होता कि वे कहीं बीमार न हो जाएँ। इसी उधेड़बुन में एक बार झिझकते हुए मैंने उन्हें यह चिट्ठी भी लिखी कि 'परोपकार भी एक वासना ही है और अन्य वासनाओं की तरह इस पर भी निगाह रखना अनुचित नहीं होगा।'

हम सभी अच्छी तरह इसे जानते हैं कि न जाने कितने लोगों में उन्होंने साहित्य लेखन के संस्कार डाले और न जाने कितने सारे लोगों की किताबों के वे अज्ञात संपादक रहे।अपने को सदा उन्होंने कुम्हार की गीली मिट्टी से अलहदा नहीं समझा, ये अलग बात है कि जो उन्हें जानते थे वे उन्हें मिट्टी नहीं , कुम्हार ही समझते थे। किंतु उन्होंने कभी दूसरे को ऐसी कोई सीख नहीं दी, जिसे उन्होंने पहले अपने पर प्रयोग कर आजमाई न हो और उस पर अपना सत्य जाना न हो।

स्वतंत्रता के बाद के दशकों में उन्होंने समाज के भीतर आदर्शों की जमीन को लगातार बंजर होते देखा था। शैशव के दौरान अपने घर में जिन गांधीवादी आदर्शों को उन्होंने उस कच्ची उम्र में सहज सार्थक फलते-फूलते देखा था, स्वतंत्रता के बाद के सालों में उन सब से मोहभंग ही होता रहा। मेरे पिताजी को मैंने अपने बचपन में इस दौर से गुजरते देखा था। उन्होंने आजादी की लड़ाई में अपना सब कुछ खोया था। शादी के कुछ माह के भीतर कालेज, विश्वविद्यालय, राज्य और पिता के घर से निष्काषित कर दिए गए थे। आजादी के बाद के सालों में आदर्शहीन खुदगर्ज राजनीति से उन्हें सन्यास लेने का निर्णय करना पड़ा था।अशोकजी उनसे बाद की पीढ़ी के थे। किंतु अशोकजी की निजी आस्थाएँ कभी क्षीण नहीं हुई। निराशा ने उन्हें बार-बार घेरा, पर हताशा ने नहीं पछाड़ा। यही वजह थी कि वे सदा दूसरों के लिए कर्मरत रहे। छलहीन स्नेह दे सक्रिय करते गए। उन्हें पूरा विश्वास था कि रचनात्मकता के माध्यम से सामाजिक भ्रष्टता से बचते हुए सार्थक

जिया जा सकता है। इसमें ऐसा कुछ किया जा सकता है, जिसे संगठनात्मक शक्तियाँ कभी पूरी तरह नष्ट नहीं कर सकेंगी।मानवीय बने रहने का और आंतरिक सत्य खोज पाने का यह उन्हें सबसे सही जरिया लगता। लिखना, लेखक बनने के बजाय, इंसान होने के लिए अधिक अनिवार्य लगता। लेखन में शब्द और अर्थ की सार्थकता उनके लिए लेखन के उन गुणों से होती ,जिसमे अपनी बात सबसे साधारण व्यक्ति तक सही-सही पहुँच सकती थी। इसीलिए भाषा में अनावश्यक अलंकरण, उपमाएँ या रूपवादी सजावटी रुझान उन्हें नापसंद थे। भारी भरकम शब्दों से परहेज था। अभिव्यक्ति में चातुर्य को वे व्यर्थ मानते थे। लिखते समय अंतिम पंक्ति में खड़ा आखरी आदमी उनके लिए उतना ही महत्वपूर्ण होता, जितना कि अपने को ज्ञानी मानता कोई पोथी पढ़ा व्यक्ति। लोगों में हैसियत के आधार पर भेद करना उन्हें अश्लील लगता। इसीलिए बात करते समय सबको समान रुचि से सुनने का प्रयत्न करते। इस बात से सतर्क रहते कि जिन्हें विकास और परिष्कार के पर्याप्त मौके नहीं मिले, उनकी समझ को दोष देने के बजाय उनकी परिस्थितियों को न्यायपूर्ण तरीके से समझा जाए। गहन अध्ययन और चिंतन के बाद भी किसी अपढ़ व्यक्ति या भोले बच्चे के साथ पूरा एक हो जाना उनके लिए बिलकुल मामूली सा काम था, क्योंकि हमेशा उनका प्रयास दूसरे की बात को मन देकर सुनने और समझने का रहता।

लिखते या अनुवाद करते समय शब्दों के सटीक उपयोग में उन सरीखा श्रमशील व्यक्ति मैंने दूसरा नहीं देखा। घिसे अर्थहीन होते शब्दों के बीच किसी नए देशज शब्द के मिलने से उन्हें किसी बड़ी उपलब्धि होने की खुशी मिलती थी।चाहे पत्रकारिता के लेख हों अथवा अनुवाद या साहित्य लेखन, बैचेनी के साथ शब्द के सही-सही उपयोग के लिए जी तोड़ मेहनत करना उनके लिए अनिवार्य रहता था।निरंतर परिष्कार के इस स्वभाव के कारण, उनका गद्य अत्यंत मुलायम और पारदर्शी होता था ।

हाल के सालों में उन्होंने बहुत कम कहानियाँ लिखी थीं। उनमें किसी तरह की अभिलाषा नहीं थी। पर वे पिता के सहयोगी रहे जमनालाल बजाज पर काम करना चाहते थे। एक उपन्यास का खाका भी उनके मन में कहीं अटका हुआ था। पर उस पर काम करना नहीं हुआ। उसकी चर्चा अवश्य करते थे। वे बताते कि उसमे दो व्यक्ति बार-बार एक पुस्तकालय में मिलते हैं एक-दूसरे को ताकते एक-दूसरे के बारे में अनुमान लगाते रहते हैं, पर आपस में मुलाकात नहीं करते। कथानक के अंत में उनमें से एक, किसी सड़क दुर्घटना में मारा जाता है, जो कि अखबार में पढ़ी एक खबर से लगाया हुआ दूसरे का अनुमान होता है।

उन्हें अफसोस रहता कि हमारी भाषा में कालजयी कृतियाँ लिखने की प्रवृत्ति क्यों नहीं पनपती। चिंता करते कि इतनी बड़ी मात्रा में लिखा जा रहा है पर इसमें सार्थक कितना होता है? बातों के दौरान उपन्यास के बारे में मिलान कुंदेरा की ये उक्तियाँ उन्हें उद्वेलित रखतीं कि...'यदि उपन्यास अस्तित्व के अचीन्हें पक्षों को नहीं खोज पाता है , तो वह अनैतिक है। तथा इन्हें जान पाना ही उपन्यास की नैतिकता है।' इसी तरह यह भी याद करते कि— 'उपन्यास मूलत: हमारे होने के अबूझ पहलुओं की जाँच करता है, स्थूल यथार्थ की नहीं।' एक आदमी का होना वह नहीं है जो उसके साथ घटा या घट रहा है, बल्कि वह जो उसकी मानवीय संभावनाओं की पहुँच में है, जो वह हो सका है अथवा हो सकता है। तथा होने का अर्थ ऐसी दुनियाँ में होना हो, जहाँ दुनियाँ और पात्र दोनों ही संभावनाओं का आशय लिए हों। जो उस संसार की तरह न लगें जिसे हम जानते हैं , बल्कि ऐसी मानवीय संभावनाएँ हों जो अब तक समझ नहीं पाये थे। उनके द्वारा स्वयं अपना उपन्यास न लिखने की अनेक संभावित आंतरिक बाधाओं में यही अनुमान लगाया जा सकता है कि गहरे तक हुआ मोहभंग, उनका पूरी तरह अभिलाषाहीन होना और असहज रूप में कड़ा आत्म- आलोचक होना आदि इसके कुछेक संभावित कारण हो सकते हैं। अपने न्यूनतम अस्तित्व से सदा वाकिफ, उनमें अपने लिए कोई लालसा नहीं थी, उनका अपना निजी कुछ भी नहीं था, सिवाय उस धैर्य और स्नेह के जिससे वे सबकी पीड़ा में अपनी भागीदारी करते रहे। परोपकार की वासना के आलावा उनमें कोई अन्य वासना मुझे कभी नहीं दिखी।

नीलिमा गोयल का बनाया अशोक सेकसरिया का स्केच जिस पर उन्होंने अपने हस्ताक्षर किए थे।

कुछ साल पहले मुझसे कहा कि पैतृक स्रोतों से उन्हें लगभग पंद्रह हजार रुपए मासिक आते हैं। इनमें से दो तिहाई राशि उन्हीं के द्वारा किए प्रबंध के अनुसार, उनसे अधिक जरूरतमंद लोगों को चली जाती। बचे एक तिहाई पैसे से उनकी गुजर बसर में बढ़ती महँगाई से वे अब कठनाई महसूस कर रहे थे। किसी से सहायता स्वीकार नहीं करेंगे जान मुझे मजबूरन कहना पड़ा कि सिगरेट पीना कम कर दीजिये, और कोई उपाय नहीं है।

मेरी लंबी बीमारी के दौरान जब हाल में मेरी बेटी की शादी हुई, तो अचानक एक दिन घर आकर मेरी पत्नी को उन्होंने एक पैकेट दिया और कहा कि उनके पास जितनी राशि थी, उसे वे पूरा लेकर आए हैं और उसे शादी के खर्चे में लगाने को कहने लगे । बोले अपना अधिकार जानकर ही वे ऐसा कर रहे थे।हम अवाक् और नतमस्तक थे, किंतु पैसे नहीं ले सकते थे, क्योंकि विवाह अत्यंत सादगी के साथ, बगैर फिजूलखर्ची के थोड़े से खर्चे में हो रहा था और बहुत ही कम लोगों को आमंत्रित किया गया था। अतिरिक्त पैसों की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। उनसे जुड़े हरेक व्यक्ति के पास उनकी सहृदयता के

ऐसे अनेक किस्से आसानी से मिल जायेंगे।

मुझे सबसे बड़ा अचरज यही लगता रहा, कि किसी व्यक्ति में दूसरों को देने के लिए इतना असीम प्रेम किन स्रोतों से आता है। फिर इतनी विनय और इतना संकोच कि अपने लिए कभी किसी से कुछ नहीं स्वीकारा, किए के कृतज्ञता ज्ञापन की अपेक्षा भी नहीं की। किंतु जब उनकी आत्मशोधन की उस बरहमेश सजग प्रवृत्ति को देखता हूँ ,जिसमें वे अपने छोटे से छोटे दोष के लिए भी अपने को कभी क्षमा नहीं करते थे, बल्कि उसके परिष्कार के लिए व्याकुल रहते थे, तो समझ पाता हूँ कि अपने न्यूनतम अस्तित्व बोध की सम्यक चेतना में ऐसी भरपूर आत्मीयता का स्वयं उपजना कितना स्वाभाविक था ।

ताज्जुब नहीं कि अविवाहित अशोकजी जब अस्सी बरस के हो गए, तब भी उनके चेहरे पर अच्छा खासा कसाव व तेज था। गुजरने के दो सप्ताह पहले तक उन्होंने प्रतिदिन 16-18 घंटे तक काम करके 'सामयिक वार्ता' के अंक का संपादन, अनुवाद व लेखन का काम पूरा किया।उनकी चिंता बस यही थी कि 'वार्ता' का अंक निकलता रहे, जिसके बंद होने का खतरा समाजवादी जनपरिषद के 'सुनीलजी' की असामयिक मृत्यु के बाद उनके सिर पर मँडरा रहा था। उनके सरीखी विकट ऊर्जा उनसे आधी उमर के लोगों में भी मुश्किल से ही मिलती।

इस सबके बावजूद उनकी कई बातें ऊपरी तौर पर देखने से दूसरों को समझ में नहीं आती थीं। जैसे कि उनका अक्सर ये कहना कि 'मेरे जीवन का कोई अर्थ नहीं है , सिवाय इसके कि न जाने क्यों लोग मुझे अपने दुख बता जाते हैं और इसी से मुझे सार्थक करते जाते हैं।' वर्षों के मोहभंग से भिज्ञ, उनमे अपनी निरर्थकता का पूरा अहसास था। पर यह आध्यात्मिक स्तर पर था।

वरना वे सामाजिक स्तर पर अपने दायरों में अपनी आस्थाओं के अनुरूप लगातार सक्रिय और सकर्मक रहे। वे जो कर रहे थे उसका उन्हें संतोष था, जो नहीं कर सके उसका मलाल नहीं था। अपनी तात्कालिक स्थितियों तक वे सीमित नहीं रहे थे, उसके पार जाकर अपनी भूमिका बनाते हुए अपने को परिभाषित करते रहे थे। अपना काम कर निजी एकांत में पीछे हट जाना उनका सहज स्वभाव था। जीवन को सतत मायने देने के प्रयास करना, जैसे उनके जीवन के मायने हो गए थे।

विश्व साहित्य के वे गंभीर अध्येता रहे। हिंदी के कवियों में रघुवीर सहाय और कुँवर नारायण की कविताएँ उन्हें विशेष तौर पर अच्छी लगती थीं।इनमें आत्ममंथन करता नैतिक विवेक और संवेदनशील मानवीय करुणा, दोनों ही उन्हें साथ-साथ मिलते, जो अपनी जीवन-शैली में उनका निजी आग्रह भी रहा। साहित्य की तरह, कला और संगीत में भी उनकी संवेदनशीलता समान रूप से सूक्ष्म थी। एक बार लगभग पचीस साल पहले उन्होंने मेरे आग्रह पर निर्वृत्ति बुआसरनायक और मल्लिकार्जुन मंसूर को एक ही शाम में मेरे साथ सुना। सभागार से बहार निकलने पर उनका मन बहुत खुश था। उन्होंने मुझसे कई बार कहा कि इतना गहरा आध्यात्मिक अनुभव उन्हें पहले नहीं हुआ। इसी तरह कुमार गंधर्व का निर्गुणी गायन भी उन्हें बहुत अच्छा लगता था। पाकिस्तानी सूफी गायिका आबिदा तथा मधुप मुदगल के गाए कबीर के भजन भी चाव से सुनते। पर उन्होंने देखने सुनने का कोई भी साधन अपने पास नहीं रखा था।यहाँ तक कि घड़ी भी नहीं पहनते थे, भले ही समय की पहचान और नियमबद्धता उनमें हम सबसे अधिक थी। एक बार कबीर के कुछ भजन सुनने के लिए मैंने उन्हें अपना आई पैड दिया। जिससे गायन सुनकर उन्हें अच्छा लगता। फिर जब किसी व्यक्ति से उन्हें उसका दाम पता चल गया, तब उसे सुनना बंद कर आलमारी में रख दिया और मुझे वापिस कर दिया, लेने को राजी ही नहीं हुए।

ललित कलाओं में सदा उनकी रुचि रही।अनेक कलाकारों और कला पर लिखनेवालों से उनके अच्छे संबंध थे।यदि रवींद्रनाथ, अमृता शेरगिल, रामकिंकर और जामिनी राय का काम उन्हें बहुत पसंद था तो रामकुमार, सोमनाथ होर और हिम्मत शाह आदि के काम के भी वे बड़े प्रशंसक थे।उनके साथ कला दीर्घा में होना,उनकी संवेदनशीलता और पूर्वाग्रहों से मुक्त प्रतिक्रियाओं के कारण एक खरा अनुभव होता। यदि उन्होंने प्राचीन भारतीय कला पर आनंद कुमार स्वामी की किताबों का अध्ययन किया था , तो जॉन बर्जर का आधुनिक कला पर लेखन भी उसी चाव से पढ़ा था। कला के विषय में अपने को वे अनपढ़ कहते, किंतु उनसे कला की सूक्ष्मता पर अच्छी चर्चा की जा सकती थी। एक दफा जब गणेश पाइन का साक्षात्कार करने जा रहा था तो उत्साह से साथ हो लिए, पाइन से बातचीत के दौरान गपशप में दोनों ऐसे घुलमिल गए कि सिलसिला चलता ही रहा। उसके बाद जब भी गणेश पाइन से भेंट होती तो वे उनके बारे में अवश्य पूछते। रामकुमारजी से भी मेरी जब भी भेंट होती, वे अशोकजी के बारे में मुझसे अवश्य पूछते थे।

कला की बाजारू और व्यवसायिक नियति उन्हें बड़ी विडंबनापूर्ण लगती, क्योंकि ऊँचे दामों में बिककर कलाकृति सामान्य व्यक्ति की पहुँच के बाहर हो, किसी की निजी संपत्ति बनकर गायब हो जाती। उनका मानना था कि सामान्य जीवन का हिस्सा बनकर ही कला अपने उचित सांस्कृतिक अर्थ पाती है। अपने ही तरीके से अशोकजी कई नए युवा कलाकारों को वैसे ही प्रोत्साहित किया और उनकी सहायता की जैसी कि नए युवा लेखकों की करते रहे थे ।

जहाँ जरूरी समझते अपने को गोपन रखना भी उन्हें पर्याप्त आता था। बहुत नजदीकी लोग भी इस बात को नहीं जान सके कि अशोकजी ने अनेक कविताएँ भी लिखीं थीं। इन्हें दूसरों को नहीं दिखाया, न ही कभी प्रकाशित कराया। डायरी में अथवा फुटकर पन्नों में ही ये छिपी रहीं। उनकी किसी डायरी के एक पन्ने में टेलीफोन नंबरों और पतों के बीच उनके हाथों से लिखी यह कविता हाल में मिली—

मर्म ही है धर्म
यह महज तुक नहीं।

अपरिग्रही दाता

चंद्रभूषण चौधरी

अशोकजी हमारे समय के दधीचि थे और सामयिक वार्ता उनके जीवन से बना वज्रायुध है। इस उपमा से हिंसा का कोई भाव न समझें।

एक ऐसे गुरु, पथप्रदर्शक और दोस्त के बारे में क्या लिखूँ, जो कभी अपने बारे में बात करता ही नहीं था। मुझे उनमें आदमी की चारित्रिक ऊँचाई का अधिकतम विस्तार दीखता था। वे हाड़ माँस की दुनिया में एक अपवाद थे, आदर्श थे। चार दशक की मेरी और करुणा की उनसे नजदीकी होने के बावजूद मेरे कमजोर मन में यह बात बैठी रही कि जीवन में उनके जैसा बनना मेरे लिए एक असंभव प्रयास होगा। इसलिए उन्हें मै एक अप्राप्य आदर्श मानता रहा।

अशोकजी से मेरा परिचय 1971–72 में हुआ। समाजवादी आंदोलन का छात्र कार्यकर्ता तो मैं उसके सात साल पहले से ही था। पर पढ़ाई, नौकरी और शोध के बोझ के कारण संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी और समाजवादी युवजन सभा के सम्मेलन वगैरह में ज्यादा भाग नहीं ले पाता था। जन, मैनकाइंड, दिनमान, कल्पना वगैरह का पाठक होने कारण उनका नाम सुना था। 71 या 72 की उस कलकत्ता यात्रा में पहले राम अवतार उमराव से मुलाकात हुई। उन्होंने मुझे अशोकजी के घर का पता दिया। उनकी पहचान पूछने पर कहा कि सीतारामजी सेकसरिया के उस घर में आठ– दस नौकर चाकर भी रहते हैं। उन सबों में जो आदमी सबसे गरीब कपड़ों में दीखे वही अशोक सेकसरिया हैं। इस अचूक पहचान से मैंने भीड़ में उन्हें पहचान लिया। उनके साथ ही 8 इंडियन मिरर स्ट्रीट जाकर वरिष्ठ समाजवादी नेता यमुना सिंह, क्रांतिकारी दिनेश दास गुप्त, योगेंद्र पाल वगैरह से पहली बार चौरंगी वार्ता पत्रिका के दफ्तर में पहचान हुई।

उस दौर में मेरी पत्नी करुणा झा पटना में एम. बी. बी. एस. की पढ़ाई खत्म कर आगे की पढ़ाई में लगी थी। वह लोहिया विचार मंच और बाद में बिहार आंदोलन की सक्रिय कार्यकर्ता थी। मंच और बाद में बिहार आंदोलन के कार्यक्रमों की रिपोर्ट वह चौरंगी वार्ता को भेजती थी। इन रिपोर्ताज को अशोकभाई ही सुधार कर चौरंगी वार्ता में छापते थे। नए लोगों को सही लेखन सिखाने के उनके गुरुभाव से हम दोनों का यह पहला परिचय था। उसके बाद पूरे बिहार आंदोलन के दौरान 1975 की इमर्जेंसी लगने तक उनसे बराबर मुलाकात होती रही।

इमर्जेंसी में चौरंगी वार्ता का प्रकाशन सरकारी दमन के कारण बंद हो गया। लो. वि. मं. और बिहार आंदोलन के अशोकजी सहित कुछ कार्यकर्ता जेल से बाहर थे। इन्ही कार्यकर्ताओं ने मिलकर इमर्जेंसी में 'मुक्ति संग्राम' नामक एक भूमिगत प्रकाशन शुरू किया। उसकी छपाई एक जुगाड़ मशीन से मेडिकल कॉलेज की लड़की हाउस सर्जनों के हॉस्टल में करुणा के कमरे में छिपाकर की जाती थी। वहाँ पुलिस को शक होने का खतरा कम था। रघुपति, अख्तर हुसैन, कुछ अन्य साथी और मै स्वयं उस हस्तलिपि में साइक्लोस्टाइल जैसी पत्रिका का प्रसारण–वितरण करते थे। पटना मेडिकल कॉलेज में बनाए गए विशाल जेल वार्ड में कैद इमर्जेंसी कैदियों को करुणा द्वारा वह पत्रिका मिल जाती थी। लंबे कारावास और जनता के हार मानने जैसे माहौल के कारण उनके मन की ताकत टूट रही थी . उनकी आशा पत्रिका देखकर वापस आती थी। मेरे द्वारा कलकत्ता में वह अशोकजी तक पहुँच जाती थी और उनके मार्फत अन्य साथियों तक। बंगाल की खुफिया पुलिस का बड़ा केंद्र अशोकभाई के घर के ठीक सामने है। उसके खौफ के बावजूद अशोकभाई का साहस बना रहा और मै उनसे मिलता रहा।

1977 के शुरुआती महीनों में इमर्जेंसी खत्म होने पर किशनजी बहुत बीमार होकर जेल से छूटे और स्वास्थ्य लाभ के लिए राँची में हमारे साथ 3 महीना रहे। उसी दौरान अशोकजी सहित करीब 20 सहमना साथियों का 3 दिन का प्रवास और बैठक मेरे डेढ़ कमरे के बहुत छोटे घर में हुई। उनमें एक नई पत्रिका 'सामयिक वार्ता' को पटना से निकालने का संकल्प हुआ। इसमें प्रमुख पहल अशोकजी की थी और आगे की सबसे बड़ी जिम्मेदारी उन्होंने ही पटना में लंबे समय तक रहकर ली। उन तीन दिनों में अत्यधिक कष्ट में बिना सोए, गंभीर विचार विमर्श करने और उम्दा दस्तावेज लिख लेने की उनकी क्षमता के हम सब कायल हो गए।

बहुत पहले साथी शिवानंद तिवारी ने करीब पैंतालीस साल से भी पुरानी घटना सुनाई थी। वह मुझे हमेशा याद रही। साठ के दशक में दिल्ली में संसोपा के जुलूस पर पुलिस ने बर्बरतापूर्वक लाठियाँ बरसाई थी। पिटने के बाद कार्यकर्ता अपने ठिकाने पहुँचकर मरहम पट्टी में लगे। कुछ युवा 'बहादुर' नेता साधारण चोट से कराह और चीख रहे थे। अशोकजी चुपचाप उन सबों की मरहम पट्टी और दवा लगाने में कई घंटे लगे रहे। सबसे अंत में जब उन्होंने अपने कपड़े उतारे तो साथियों ने देखा कि उनका पूरा शरीर लाठियों की चोट के लाल नीले दागों से भरा पड़ा था। चोट अन्य साथियों के मुकाबले कई गुणा ज्यादा थी, पुलिस से मार

खाते हुए भी वह अपनी जगह पर बने रहे थे या भागे नहीं। पर अपनी चोटों के बारे में अशोकजी के मुँह से एक शब्द नहीं निकला–चीख और कराह तो दूर की बात थी। एक शब्द बोले बिना आत्माहुति देने की सत्याग्रही महानता उनकी चारित्रिक विशिष्टता थी.

गांधी, लोहिया जैसे नेताओं में भी यही सत्याग्रही चरित्र था पर वे इसकी चर्चा और प्रचार–प्रसार करते थे ताकि सत्याग्रही कार्यकर्ताओं की बड़ी फौज बन सके। पर अशोकजी अपने बड़े गुणों की चर्चा भी नहीं होने देते थे। लोगों से तारीफ होने पर बच्चोंवाली झेंप के साथ असहज हो जाते थे।

बच्चोंवाली निश्छलता का उनका मन खेलों के प्रति प्रेम में दिखता था। क्रिकेट उनका शौक और उमंग था। जवानी में तो उन्होंने खेल पत्रकारिता भी की थी और क्रिकेट पर किताब लिखी थी. अंतिम दिनों तक वे अपने भतीजों और पोते पोती के साथ टी. वी. पर टेस्ट मैचों का प्रसारण जरूर देखते थे। लेकिन खेलों में घुसे व्यापार और बड़ी कमाई के वे घोर विरोधी थे।

स्त्रियों के प्रति स्नेह और आदर उनका स्वभाव था। अपनी बहनों, वाणी पटनायक, स्मिता, सुशीला राय, बेबी हालदार, स्वाति, मंजरी, अलका सरावगी और करुणा आदि के प्रति उनके आदर और स्नेह के अतिरेक को मैंने नजदीक से देखा, समझा और सीखने की कोशिश की।

बुद्धिमत्ता, तर्कशीलता, तथ्यों और आँकड़ों का विशाल मानसिक संग्रहण, हिंदी में मौलिक लेखन, भारतीय और विदेशी भाषाओं के शब्दों और मुहावरों के सटीक हिंदी अनुवाद, पूर्वाग्रह मुक्ति, निष्पक्षता और निडरता उनके लेखन का चरित्र और वैशिष्ट था।

सब जानते हैं कि उन्होंने कई अल्पशिक्षित युवक–युवतियों को लेखन सिखाया। उनमें एक अर्जुन शर्मा को वार्ता के पटना कार्यालय के दिनों में पत्रकारिता के गुर सिखाए। अर्जुन करीब दस साल राँची में 'आज' अखबार के संवाददाता रहे। किशनजी के सारे हिंदी लेखों को भी अशोकजी ही सजाते–सँवारते थे। वार्ता की जिम्मेदारी के दौर में पत्रिका के कई लेखों का तो वे पुनर्लेखन भी करते थे। लेकिन अपने योगदान का श्रेय अपने नाम से कभी नहीं होने दिया।

अपनी अच्छाइयों की तरह वे हरेक मनुष्य से अच्छा होने की अपेक्षा रखते थे। शायद इसलिए भी कि बहुत सारे अच्छे लोग उनके सम्पर्क में थे। मेरी मान्यता कुछ अलग थी कि कुछ लोगों में बुराइयाँ होती ही है, जिसे रोकने के लिए हिंसक शक्तियों और दंड देने तथा व्यक्ति स्वातंत्र्य में दखल देने की क्षमता से लैस राज्य एक अनिवार्य जरूरत है। हमारा यह मतभेद बना रहा। साधनों, यंत्रों और एक न्यूनतम सुख के जीवन को मैं राजनीतिक कर्म की सफलता के लिए अनिवार्य मानता रहा। वे इससे सहमत नहीं थे। शायद इसलिए कि गरीब देशों–समाजों में अधिकांश लोगों को वह देना संभव नहीं है। पर विज्ञान, तकनीक और विकसित देशों की आर्थिक–राजनीतिक प्रबंधन व्यवस्था के बारे में मुझसे और मनुष्य शरीर–दिमाग की संरचना वगैरह के बारे में करुणा से सारी जानकारी लेते रहते थे। इसमें भी वे हमें बहुत कुछ सिखाते थे। इन जानकारियों से वे अपने गांधीवादी–समाजवादी विचारों और पश्चिमी देशों के मॉडल दोनों के विरोधाभास और तर्क संगति की परीक्षा करते थे।

मानस पटल पर एक जीवंत चित्र

रणजीत राय

अशोकजी की याद आते ही आँखों पर चश्मा, लंबी दाढ़ी के बीच स्मित हँसी, मधुर प्रेम से देखने की भंगिमा के साथ सहज–सरल, अतिथिपरायण एक असाधारण मानव का चित्र मन में उभरता रहता है। पहली बार उनको कब और कहाँ देखा था, ठीक याद नहीं लेकिन उनको देखने और उनसे मिलने के कई चित्र मन में बार–बार उभर रहे हैं। याद है युगलदा (स्व.युगलकिशोर रायबीर) पहली बार मुझे अशोकजी के कलकत्ता के घर में ले गए थे और उनसे परिचय करवाया था। हम उत्तरबंग से उनके यहाँ पहुँचे थे। हमारे जाते ही वे व्यस्त हो गए। पहले चाय फिर स्नान एवं खाना–पीना और थोड़ी देर विश्राम के बाद बातचीत। उसके बाद वे समाजवादी जन परिषद के छठे राष्ट्रीय सम्मेलन में जलपाईगुड़ी आए थे तब उनसे मिलना हुआ था। परिचय होने के बाद जितनी बार कलकत्ता गया अशोकजी से मिलने जरूर गया और उनका स्नेह पाकर मैं मुग्ध हुआ।

बंगलोर जाने के लिए अभी कलकत्ता पहुँचा था कि कमलदा (कमल बनर्जी) के फोन से अशोकजी के गिर पड़ने और ऑपरेशन के लिए किसी गैरसरकारी अस्पताल में भर्ती होने का पता चला। साथ में पत्नी कमला,बहनोई अलोक और साथी अबुल भाई थे। हम सीधे अशोकजी के घर पहुँचे। सुशीलाजी से विस्तार से सब मालूम हुआ। शाम को उनसे मिलने अस्पताल गए। देखा उनकी दाढ़ी और मूँछे साफ कर दी गई हैं।उनके पास जितनी देर रहा उन्होंने मेरा हाथ पकड़े रखा और हालचाल पूछा। उन्होंने कहा कि यहाँ अस्पताल में उन्हें अच्छा नहीं लग रहा। थोड़ी देर बाद मैंने उनसे विदा ली। बंगलोर में ही देर रात को उनके गुजर जाने की खबर रवींद्र से मिली। रात भर नींद नहीं आई।

वे पढ़ते–लिखते, विभिन्न आंदोलनों में शामिल होते, फोन से सबसे संपर्क रखते। फोन पर उनसे बात करने पर लगता उनके पास बैठकर बात कर रहे हैं। उनके चेहरे पर, उनकी निगाहों में और उनकी बातचीत में हमेशा सहजता और सरलता की स्पष्ट छाप रही।

कहानी-संग्रह की कहानी

अरविंद मोहन

अशोक सेकसरिया मेरे लिए वरिष्ठ के हर रूप मेँ फिट बैठते थे – बाप, चाचा, अभिभावक, भाई, कामरेड, वरिष्ठ साथी जैसे हर रूप में. और यह पद मैंने उन्हें क्या दिया उन्होंने हासिल कर लिया था। भेंट तो उनसे दो-तीन दफे हुई होगी। और भेंट भी क्या देखा-देखी। मैं उनका इतना अदब करता था कि तर्क करना, जबाब देना संभव न था। हाँ आखिरी बातचीत में फोन होने से मैं सामयिक वार्ता को लेकर कई बातें बोल पाया। उनसे ज्यादातर संपर्क पत्र का रहा और पढ़ाई के समय से अब तक हमारी सारी प्रगति पर उनकी नजर है यह मैं मानता था। मानता ही क्या था, वे मनवा लेते थे। लिखने-पढ़ने में एक गलती हुई नहीं कि उनका पत्र या संदेश आ जाता था। मेरे कई ऐसे सीनियर हैं जो मुझसे कम स्नेह नहीं रखते होंगे पर हर अच्छी-बुरी बात को सीधे बता भी देने का गुण तो अकेले अशोकजी में था। कई बार अनुवाद पढ़कर वे मूल अंगरेजी शब्द पूछकर हैरान करते थे। एक बार किसी फीचर में मेरे किशोर बेटे के साथ मेरी तस्वीर देखकर उसके बड़े होने और उसके जबाबों की चर्चा की।

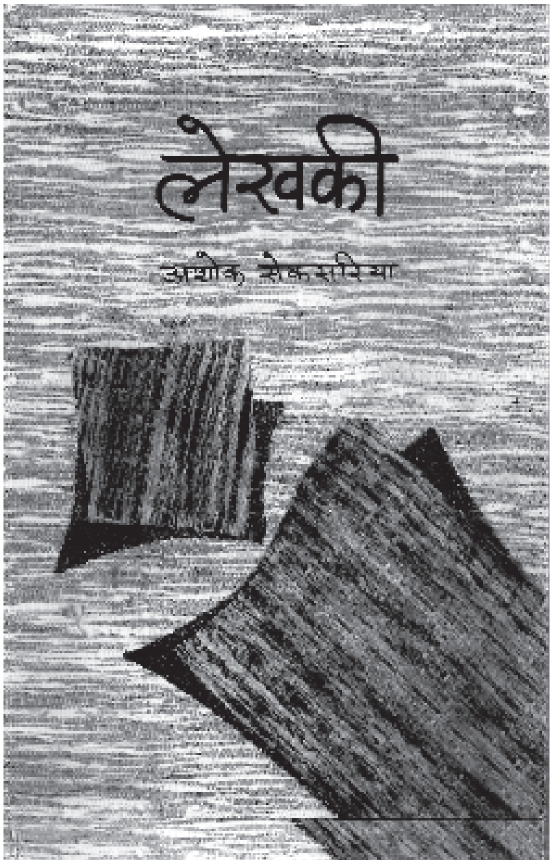

नाम मैंने पहले सुना था पर 1978 या 1979 में सामयिक वार्ता के पटना दफ्तर में उन्हें पहली बार देखा था। पुराना लोहानीपुर के दफ्तर में हम लोग छात्र-युवा संघर्ष समिति की बैठक के लिए आए थे। मैं तब जमशेदपुर में पढ़ता था। अपना होल्डाल और अटैची कंधे पर लिए जब अशोकजी आए तो सारे लोग दौड़ पड़े। पर तब उनसे कोई बात हुई हो याद नहीं है। पर कुछ दिनों बाद से पत्रों का सिलसिला जरूर शुरू हुआ। फिर दिल्ली में मैं लंबे समय तक वार्ता का एजेंट रहा और कुछ लिखने-लिखाने की जरूरत पर भी काम करता था। दिल्ली मेरे रहते वे एक बार आए तो शाम को मंडी हाउस मिलने के लिए बुलाया। मैंने महेंद्र भल्लाजी, जोगिन्दर पाल साहब और प्रयागजी जैसों को साथ बैठे देखा तो चाय पीने के अलावा ज्यादा कुछ पूछने-बतियाने और देर तक बैठकर उन सबकी बातचीत बाधित करने का हौसला नहीं हुआ। बाद में उन्होंने जल्दी लौटने की शिकायत की और यह कहा कि शायद तुमको काम हो , यह सोचकर मैंने रुकने को नहीं कहा। अभिभावकवाला भाव मेरे उन कई साथियों में और गहरा है जिन्हें अशोकजी ने सचमुच कलम पकड़कर लिखना सिखाया या जिनको हर तरह से मदद की। ऐसे लोगों की संख्या बहुत है। मेरे आसपास तो ऐसे कई लोग हैं। खैर।

वे क्या-क्या और कितना पढ़ते थे इसकी जानकारी तो कई बार हम जैसे लोगों को सीधे भी देते थे पर क्या लिखते थे इसका हमें हल्का अंदाज भर था। उन्होंने अपने नाम से बहुत कम लिखा है—जो लिखा है वह सचमुच सोने जैसा है। पर उसे लेकर भी उन्हें संकोच रहता था। हमने उनकी सिर्फ एक कहानी पढ़ी थी-दुखवा कासे कहूँ मोर सजनी। बहुत बाद तक हम रामफजल नाम से छपी कुछ खेल संबंधी टिप्पणियों को उनका मानकर पढ़ते-पढ़ाते थे। उनसे पूछने की हिम्मत नहीं होती थी। फिर जब सुना कि उन्होंने कई कहानियाँ लिखी हैं तो माँगने की हिम्मत भी हुई। पर वे टालते ही रहे। कुछ साथियों ने एकाध और कहानी पढ़वाई। उत्सुकता बढ़ती रही पर अशोकजी को अपना लेखन बेकार ही लगता रहा। फिर उन्होंने कश्मीरवाला अपना चर्चित लेख वार्ता में अपने नाम से दिया या किशनजी ने नाम देकर छापा। फिर उनसे अपनी कहानियों का संग्रह तैयार करने का आग्रह कई तरफ से किया कराया गया। बात बनी नहीं। और यही सुनने में आता रहा कि फलाँ संग्रह में किसने

उनकी कहानी ले ली तो उन्होंने कानूनी मदद से उसे हटवाया।

जब वाग्देवी प्रकाशन के दीपचंद सांखला ने खुद से संग्रह छापने और इसके लिए मुझसे कहानी ढूंढ़ने को कहा तो लगा यह अच्छा अवसर है। इसी समय अगर कहानियाँ जमा हो गई तो ठीक वरना सदा के लिये गायब भी हो जाएँगी। दीपचंदजी का आग्रह यह भी था कि प्रकाशन के पहले अशोकजी को खबर न हो इसका खयाल रखा जाए। कहानियों के नाम, उसके साथ छपे अशोकजी के नाम, पत्र-पत्रिकाओं के नाम और संभावित तारीख के लिए प्रयाग शुक्लजी, कुँवर नारायण, उनकी पत्नी, गिरिधर राठी, निर्मल वर्माजी जैसों का सत्संग हुआ। कुल जितने नाम और ठिकाने मिले, उन पर तलाश शुरू हुई तो सबसे बड़ा सदमा श्रीकांत वर्मा के संपादन में निकली पत्रिका 'कृति' के अंक न मिलने का ही हुआ। थोड़े समय पहले निकले श्रीकांत वर्मा समग्र के सिलसिले में बाहर आए अंक जाने कहाँ बिला गए और वीणाजी बेचारगी दिखाने के अलावा और कुछ नहीं कर सकीं। संभवत: इसके संपादक महोदय को लोभ हो गया। पर जब काम शुरू हुआ तो सूची में शामिल सिर्फ एक कहानी नहीं मिली, पर सूची में आने से रह गई कई कहानियाँ मिल गईं। सुदूर पूरब से श्रीराम वर्माजी ने तीन कहानियाँ भेज दीं। उन्होंने वह गुम कहानी 'प्रिय पाठक' के मिलने की सूचना दी पर किताब छपने के बाद। पुस्तक मेला (2000) पास आ रहा था और हमारी योजना अशोकजी की अनुपस्थिति में ही संग्रह को रिलीज करने की थी। इस चलते यह कहानी संग्रह में नहीं आ सकी।

मैंने कहानियाँ अपने पढ़ने के लिए, जैसे बहाने बनाए। एक सज्जन जो, नेमिचंद जैनजी के नटरंग प्रतिष्ठान की लाइब्रेरी में थे वे पहले नेशनल लाइब्रेरी कोलकाता में रहने के चलते अशोकजी के परिचित थे। संभवत: उन्होंने भी खबर दे दी। फिर अशोकजी की धमकी भरी चिट्ठियाँ आने लगीं कि यह सब न करो। वे यह भी बताने लगे कि उन्होंने कब-कब केस करके अपनी कहानियों का प्रकाशन रुकवाया है। उन्होंने कहा कि तुम प्रिय हो लेकिन मुझे अपनी बात ज्यादा प्रिय है।

पर इसी क्रम में जब मैं जहाँ-तहाँ हाथ-पाँव मार रहा था तो अशोकजी को भनक लगी। मैंने कहानियाँ अपने पढ़ने के लिए, जैसे बहाने बनाए। एक सज्जन जो, नेमिचंद जैनजी के नटरंग प्रतिष्ठान की लाइब्रेरी में थे वे पहले नेशनल लाइब्रेरी कोलकाता में रहने के चलते अशोकजी के परिचित थे। संभवत: उन्होंने भी खबर दे दी। फिर अशोकजी की धमकी भरी चिट्ठियाँ आने लगीं कि यह सब न करो। वे यह भी बताने लगे कि उन्होंने कब-कब केस करके अपनी कहानियों का प्रकाशन रुकवाया है। उन्होंने कहा कि तुम प्रिय हो लेकिन मुझे अपनी बात ज्यादा प्रिय है। अशोकजी को मुझसे ज्यादा जाननेवाले कई लोग भी उनके क्रोध का डर दिखाते रहे। पर मुझे यह भरोसा था कि ऐसा कुछ नहीं होगा। और मुझसे भी ज्यादा सांखलाजी को लगता था कि जो होगा उसे देखा जाएगा पर संग्रह तो तैयार हो ही। कुँवरजी और प्रयागजी का प्रोत्साहन भी जारी रहा। प्रयागजी भूमिका लिखने को भी राजी हो गए।

जब किताब छप गई तब लोकार्पण की तैयारी और सबसे बढ़कर अशोकजी को सूचित करने की तैयारी शुरू हुई। निर्मल वर्मा विमोचन को राजी हो गए और कुँवरजी समेत अशोकजी के सारे मित्र भी आने को तैयार हुये। तभी किसी परिचित ने शरारत की और अशोकजी को पत्र लिख दिया जिसकी सूचना भी हमें आ गई। हमें लगा कि अब समारोह शायद ही होगा। पर आयोजन शांति से और सफलता से पूरा हुआ। संयोग से तभी कुँवरजी और उनकी पत्नी को कोलकाता जाना था। तय हुआ कि उनके ही हाथ किताबों का बंडल भेजा जाएगा। थोड़े दिनों बाद प्रयागजी भी कोलकाता गए। यहाँ दिल्ली की मीडिया में भी आयोजन की खबरें आईं जिन्हें अशोकजी ने जरूर देखा होगा।

और हम तो उधर से ईंट-पत्थर की उम्मीद कर रहे थे पर अशोकजी का इसके बाद जो पत्र आया उतनी भावुकता उनके उस पत्र में भी नहीं थी जो उन्होंने सीताराम सेकसरियाजी से संबंधित किताब पर लिखे मेरे रिव्यू के बाद लिखी थी। लगा वे मोम की तरफ पिघल गए और यह भी लिखा कि पता नहीं तुम लोगों पर मेरा किस जन्म का ऋण है जो तुम लोगों ने इस तरह उतारा है।

हमारी उसी दौर की योजना अशोकजी के लेखों को भी जुटाकर छापने की थी। कुछ लेख ढूँढ़ने की मुश्किल और कुछ कहानी संग्रह की स्थिति देखकर हम रुके। सांखलाजी जब रायल्टी का हिसाब लेकर अशोकजी से मिले तो और समा बँध ाा। बहरहाल वह पैसा उन्होंने नहीं लिया। अब तो अशोकजी भी नहीं हैं। एक प्रयास करके यह काम कर देना है। सिर्फ दूसरों पर अपना स्नेह, अपना ज्ञान, अपना श्रम और कौशल लुटाते रहे इस पुरखे के नाम पर दो-चार संग्रह ही हो सकते हैं और वे होने भी चाहिये। अलविदा अशोकजी।

संपादन-साधना

कश्मीर उप्पल

अशोक सेकसरिया, किशन पटनायक और सच्चिदानंद सिन्हा से मेरी पहली मुलाकात गिरधर राठी ने सन 1982 में इटारसी में कराई थी। मेरे बचपन के मित्र गिरधर राठी आपातकाल के दिनों के बाद अपने वृद्ध माता-पिता को देखने इटारसी अपने घर जल्दी-जल्दी आने लगे थे। अशोक सेकसरिया और समाजवादी मित्र भी उन दिनों इटारसी में इकट्ठा हुए थे। वे सभी इटारसी के पास आदिवासी क्षेत्र केसला में 'लोहिया-अकादमी' स्थापित करने के संदर्भ में इटारसी आये हुए थे। इसी क्षेत्र के डॉक्टर मलहोत्रा ने 'लोहिया-अकादमी' हेतु अपनी कुछ एकड़ भूमि इस हेतु केसला गाँव में दान दी थी। इसके बाद किशनजी और सच्चिदाजी इटारसी आते रहे। वे कई बार मेरे घर भी रुकते थे। केसला में सुनील और राजनारायण ने आदिवासी किसान सगंठन बनाया था। हमारी बातचीत में अशोक सेकसरिया सदैव उपस्थित रहते थे।

अशोक सेकसरिया से मेरा पत्र व्यवहार सन 1991 से शुरू हुआ था। इन पत्रों में पुस्तकों, लेखों और समीक्षा आदि के विषयों पर अशोकजी के दृष्टिकोण से परिचित होने का मुझे अवसर मिलता था। वर्ष 1999 में किशन पटनायक के लेखों की पुस्तक प्रकाशित करने का निर्णय हुआ था। मुझे साठ के दशक से उस समय की सर्वश्रेष्ठ पत्रिकाओं को पढ़ने और संग्रहित करने का शौक रहा है। अज्ञेय के संपादन में 'दिनमान' के अंकों से लेकर रघुवीर सहाय के संपादन के अंतिम अंक तक 'दिनमान' के अंक मेरे पास सुरक्षित रहे हैं। नवभारत टाइम्स और जनसत्ता में प्रकाशित किशन पटनायक सहित अन्य लेखकों की कतरनों की फाइलें भी थीं। लघु पत्रिकाओं का कहना ही क्या।

अशोक सेकसरियाजी को मैंने किशन पटनायक के यत्र-तत्र प्रकाशित लेखों की कतरनें भेजना शुरू कर दिया था। सत्तर और अस्सी के दशक में प्रकाशित लेखों के संग्रह में निहित कुछ जरूरी बातों को मैं अशोकजी की जानकारी में लाने का प्रयास करता था। अशोकजी के पत्रों से मुझे पता चलता था कि वह सब वे भी देख चुके हैं। अशोकजी के पत्रों से मुझे एक नई दृष्टि मिलती थी। उन्होंने तय किया था कि हर पंद्रह दिन में हम पत्र लिखते रहें। यह सिलसिला पुस्तक के प्रकाशन वर्ष 2000 तक चलता रहा। इसके बाद हमारे संपर्क का माध्यम टेलिफोन बन गया था। किशनजी की दूसरी पुस्तक के लिए अशोकजी इटारसी आए थे। कुछ लेखों का अंगरेजी से अनुवाद भी करना था। इटारसी आते ही उन्होंने फादर बुल्के के 'अंगरेजी-हिंदी कोश' की चर्चा की। मैंने वह कोश अपने एक साथी प्रोफेसर के हाथों भोपाल से मँगा लिया। अशोकजी ने मेरे लिए अपने पिताजी सीताराम सेकसरिया लिखित 'एक कार्यकर्ता की डायरी' पुस्तक के दोनों भाग लेकर आए थे। अशोकजी ने इटारसी के बाजार से कागज और पेन खरीदे। उन्होंने एक-एक रुपए वाले एक दर्जन पेन यह कहते हुए पसंद किए थे कि इनका काम लिखना ही तो है। अशोकजी कुछ दिन मेरे घर रहे फिर वे केसला सुनील के पास चले गए। वे बीच-बीच में इटारसी आते रहते थे।

यहाँ हम किशन पटनायक की पहली पुस्तक 'विकल्पहीन नहीं है दुनिया' (राजकमल प्रकाशन) की संपादन प्रक्रिया की बातें करेंगे। इस पुस्तक ने साहित्य के गंभीर अध्येयताओं के साथ-साथ मैदानी कार्यकर्ताओं की प्रिय पुस्तक होने का दर्जा हासिल किया है। इस पुस्तक की पठनीयता की शक्ति इसके कई संस्करणों के माध्यम से देश भर में फैल जाना है। अशोक सेकसरिया द्वारा लिखे गए पत्रों से यह सत्य उद्घाटित होता है कि संपादन प्रक्रिया किसी रचना की रचना-प्रक्रिया जैसी ही एक कठिन साधना है। उनके पत्रों के नीचे दिए गए उद्धरणों से यह बात साफ हो जाएगी—

किशनजी किताब को लेकर मैं बहुत परेशानी में हूँ। परेशानी की बात आपको इसलिए लिख रहा हूँ कि मेरा मन कहता है कि आप उसे विनम्रता या पाखंड नहीं मानेंगे—पहली परेशानी यह है कि मैं तात्विक और सैद्धांतिक बातों को बहुत कम समझता हूँ। एक क्लर्क का काम मैं कर सकता हूँ पर उसके आगे का नहीं। इसलिए मैं चाहता हूँ कि किताब का क्लर्कनुमा काम मैं करूँ और उसका तात्विक सुनील।

दूसरी परेशानी यह है कि 1977 से 99 तक के किशनजी के जो 297 लेख नवीनजी ने भेजे हैं उनमें से अधिकांश (80-85 प्रतिशत) ऐसे हैं जिनमें एक साथ बहुत सारी बाते कही गयी हैं और उनमें बहुत सारे संदर्भ सामयिक हैं जिन्हें बाद में नहीं दिया जा सकता और पुस्तक को काम चलाऊ संग्रह न बनाना हो तो उन संदर्भों के बारे में फुट नोट होने चाहिए। फुट नोट दिए जाएँ या नहीं, यह एक परेशानी है।

सबसे बड़ी बात है कि किताब लेखों का संकलन मात्र न लगे कि बस लेख इकट्ठा कर दिए गए हैं।... मेरी कल्पना में किशनजी का संग्रह इनसे भिन्न प्रकार का होना चाहिए। वह ऐसा नहीं होना चाहिए कि बस एक जगह लेख इकट्ठा हैं। उसमें

किशनजी की विचार यात्रा पूरी झलक मिलनी चाहिए और विकल्प की राजनीति तथा वैकल्पिक विकास का खाका उभरना चाहिए।

(09-08-1999)

किशनजी के कलकत्ता आने के पहले लेखों का एक कामचलाऊ वर्गीकरण मैंने काँचरापाड़ा (कलकत्ता से 48 किलोमीटर दूर) के युवा साथी संजय भारती की मदद से कर लिया था। लेखों को सरसरी तौर पर पढ़ने के दौरान थोड़ा दुख इस बात से हुआ कि जब लेखों को पढ़ा था तो वे बहुत ही विलक्षण लगे थे पर 10-20 वर्ष बाद पढ़ने पर उनमें इतनी चमक नहीं लगी। इसका एक बड़ा कारण तो समय है– किशनजी के लेखों की विशेषता यह है कि सामयिक प्रश्न को नये ढंग से रखते हैं। जब सामयिक प्रसंग की सामयिकता समाप्त हो गई तो चमक का कम होना स्वाभाविक है। बहुत से लेख रूस के विघटन और भारतीय राजनीति के उतार-चढ़ाव के कारण पुराने पड़ गये हैं। संकलन लेखों का ढेर न बने और वह आज भी ताजा लगे इसके लिए कई तरीके अपनाने होंगे-जो लेख एकदम सामयिक हैं उन्हें तो नहीं लेने का फैसला किशनजी ने कर दिया है। तरीकों के बारे में कई तरह की बातें दिमाग में आती हैं। आपके दिमाग में जो बात आए उसे लिखें। संकलन का संपादन मैं नहीं कर रहा हूँ। एक प्रकार का संपादक मंडल हमने बनाया है जिसमें सुनील, अरविंद मोहन, आप, संजय भारती, अलका सरावगी, राजकिशोर, सत्येंद्र रंजन, अरुण त्रिपाठी,योगेंद्र यादव और दो-तीन व्यक्ति होंगे।

किताब के लिए किशनजी ने तीन नए लेख लिखना स्वीकार कर लिया है पहला गांधीजी पर, दूसरा रूस के विघटन पर और तीसरा भारतीय या हिंदु सभ्यता पर।

(17-08-1999)

पुराने लेख नये लेखों के साथ छपने पर हमें भले ही संतोष दें कि किशनजी कितनी सही बातें कितने पहले कर रहे थे पर पाठकों को वे दुहरावट भरे लगेंगे। इसके लिए क्या तरीका अपनाया जाए। आर.एस.एस. के बारे में किशनजी के विचारों को एक स्थान पर रखना ही है। व्यापक रूप से धर्मनिरपेक्षता पर एक खंड (किताब में कई खंड रखने की कल्पना है) रखने की बात किशनजी से हुई है। उस खंड में आर.एस.एस. संबंधी विचारों को किसी प्रासंगिक स्थल पर ××चिन्ह लगाकर या कोई और उपाय बरत कर इकट्ठा करना क्या ठीक रहेगा? यह भी किया जा सकता है कि आर.एस.एस. शीर्षक देकर आर.एस.एस. संबंधी विचार एक जगह इकट्ठा कर दिए जाएँगे।

मोटे तौर पर अभी तक लेखों को राजनैतिक, आर्थिक, समाजवाद, सेकुलरवाद,सभ्यता का संकट (ग्लोबलाइजेशन वैकल्पिक विकास) आरक्षण (जातिप्रथा, शूद्र राजनीति)गांधी और विविध के रूप में वर्गीकृत कर अलग-अलग फाइलों में रखने का काम हुआ है।

लेखों का वर्गीकरण काम चलाऊ रूप से हुआ है और दिक्कत यह है कि प्राय: सभी लेखों में तरह-तरह के विषयों की आवाजाही है।

उत्तर आधुनिकतावाली बहस मेरी समझ में नहीं आती। मेरा दिमाग इतना कुंद हो गया है कि कुछ भी गहरा मेरी समझ में नहीं आता फिर Polemic में मेरी कभी रुचि नहीं रही। अशोक वाजपेयी यहाँ आए थे तो उनके सामने मैंने अपनी यह समस्या रखी थी जिसका उन्होंने बहुत ही सटीक उत्तर दिया कि उत्तर आधुनिकता में तरह-तरह की प्रकृतियाँ है और उन्हें जाने-समझे बिना खारिज करना गलत है। (मैं खारिज ही करता आया हूँ अपनी तरफ से उन्हें समझने का प्रयास किए बिना और यह निश्चय ही बहुत गलत है)

पवन वर्मा की किताब में मेरी बहुत दिलचस्पी थी और उसका एक extract जो Outlook में छपा था, मैंने पढ़ा था। किशनजी ने किताब पढ़ी और उनका कहना गलत था कि पवन वर्मा की किताब समस्या को जड़ से पहचानने के बजाय उसके बाह्य रूप को देखती है- बाह्य रूप से देखना निश्चय ही मददकार है पर उससे जो दृष्टि मिलनी चाहिए, वह पुस्तक में नहीं मिलती। किशनजी के लेखों में वह दृष्टि है और उसे किस प्रकार संयोजित किया जाए (क्यों लेखों में वह यत्र-तत्र बिखरी हुई है) यह समस्या है। (31-08-1999)

आपकी शंका मेरी भी शंका है और उसका कोई समाधान नहीं हो रहा है। आपकी यह बात सवा सोलह आने सही है कि पहले खंड के चारों विषय आप जैसे लोगों के लिए हैं। शंका के समाधान न होने का कारण सचमुच यह तय न कर पाना है कि लेख किसे संबोधित हैं। यह 'किसे' कौन है - एकदम अंगरेजी न जाननेवाला और किशनजी के विचारों से एकदम अपरिचित व्यक्ति जो वह नहीं है और हमारा लक्ष्य ऐसा ही अंगरेजी से अनजान और किशनजी से अपरिचित व्यक्ति होना चाहिए, इसमें मुझे कोई शक नहीं है पर लेखों का चरित्र ही ऐसा है कि चाह कर भी हम उसे संबोधित नहीं कर सकते। यह दिक्कत प्रचार के लिए लिखे जानेवाले परचों को छोड़कर सब प्रकार के प्रकाशन में आए बिना नहीं रहती - केवल गांधीजी का लेखन अपवाद है। (04-11-1999)

किशनजी के सुझाव के आधार पर एक व्यावहारिक सीमा तय की गई और एक प्रकार की मौन सहमति की तरह यह बात तय हुई कि पहले खंड में ऐसे लेख हों जो व्यापक वैचारिक भूमि (सैद्धांतिक नहीं) को स्पष्ट करते हों और दूसरे खंड में 'मैदानी' (आपका शब्द) लेख हों। कोई दूसरा उपाय नजर नहीं आया। आदमी तरह-तरह के छल करता है और कभी लगता है कि उसके पास छल का विकल्प नहीं है। वार्ता में किशनजी के 13

लेख प्रशिक्षण कालम में छपे थे – ये लेख एकदम अंगरेजी न जाननेवालों और किशनजी के विचारों से अपरिचित पाठकों को संबोधित हैं। इन लेखों को पहले किताब में लेने की बात थी अब उन्हें बाद में दिया जा रहा है और इनकी एक अलग पुस्तिका छापी जाएगी जिसे हम लोग ही छापेंगे।

(04-11-1999)

किशनजी 20(11-99) को कलकत्ता आए और 21 को भुवनेश्वर गये। इस बीच उन्हें बुखार भी हो गया। पहली किताब का काम पूरा सा हो गया है। दूसरी किताब का काम कठिन है। किशनजी की राय है कि पहली किताब के लिए बैठने की जरूरत नहीं है। जरूरत दूसरी किताब के लिए बैठने की है। पहली किताब का पूरा विवरण आपको 15 दिसंबर तक मैं भेज दूँगा। पांडुलिपि प्रकाशक को 26 जनवरी को देनी है। मेरे पास फोन नहीं है। पर फोन मुझे किया जा सकता है।

(22-11-1999)

किताब का पहला खंड अब पूरा होने पर लग रहा है कि अच्छा होगा – हालाँकि ये लेख सीधे राजनीतिक-आर्थिक लेख नहीं हैं पर उनमें इन खतरों के बारे में चेतावनी उभरकर आई है।

दूसरा खंड ही जानलेवा होगा और उसे सुनील, आप, किशनजी और मैं कैसे बैठकर देखें ज्यादा प्रासंगिक और सटीक बनाएँ, यही समस्या है। अधिकांश लेखों के प्रसंग बदल गए हैं। ऐसे लेखों को छाँट दिया है पर जो बचे हुए हैं उनमें भी यह समस्या किसी न किसी प्रकार बनी हुई है।

किताब लेखों का संकलन मात्र न हो, इस महत्वकांक्षा के कारण समस्याओं का पैदा होना शायद स्वाभाविक है।

(30-11-1999)

मुझसे कुछ लिखा भी नहीं जाता। पत्र आने पर लगता है कि मुसीबत आई-जवाब देना पड़ेगा। आपके पत्रों से दूसरा ठीक उलट हो रहा है। तुरंत जवाब देने और आपका पत्र पाने की इच्छा होती है।

इसका कारण कहीं स्वार्थ भी है— स्वार्थ शायद यहाँ गलत शब्द नहीं है। किशनजी के लेखों का काम कभी तेजी से होता है पर इस तेजी के बाद तुरंत ऐसी सुस्ती आ जाती है कि 4-5 दिन मैं काम को देखता ही नहीं। ऐसे मंद अवसरों पर आपके पत्र से स्फूर्ति आती है। दूसरी बात यह है कि लेखों के संग्रह-संकलन रूप के बारे में किसी से यहाँ बातचीत नहीं होती। एक कारण तो जो यहाँ मेरा परिचित क्षेत्र है, वह किशनजी के नाम से वाकिफ है, उनके सोच की मौलिकता और उनकी दूरदृष्टि से नहीं। ऐसे में आपके पत्रों से एक प्रकार का आदान-प्रदान होता है जो बहुत सहायक होता है।

मैं यह चाहूँगा कि आपके मन में जो भी बात आए उसे तुरंत लिख भेजें। पुस्तक की भूमिका किशनजी लिख रहे हैं, मेरे दिमाग में भूमिका के लिए जो भी बातें आई हैं, उन्हें मैं नोट कर किशनजी को दे रहा हूँ।

आपके पत्रों को गंभीरता से न लेना तो हो ही नहीं सकता। गंभीरता से तो हमें शायद ऐसे लोगों की बात को भी लेना चाहिए जो हमारा मजाक उड़ाते हों। (02-12-1999)

किशनजी की किताब के अंतिम प्रूफ देख रहा हूँ। एक बार प्रूफ देखे जा चुके हैं। कभी किताब बहुत अच्छी लगती है तो कभी साधारण। एक प्रकार असंतुलन तो उसमें निश्चित ही है और यह शायद दूर नहीं किया जा सकता था। पुराने लेखों के संकलन में यह कमी रहेगी ही। सामयिक संदर्भ न रहने पर पुराने लेखों की ध ाार भी मंद पड़ जाती है। (09-08-2000)

किशन जी की किताब नवंबर के पहले या दूसरे सप्ताह में ही आ सकेगी। 7-8 दिन पहले राजकमल ने सूचित किया कि जो कवर कलकत्ता से भेजा गया था वह कंप्यूटर पर नहीं आ रहा है। 26 अगस्त को पूरे प्रूफ और कवर के साथ राजकमल को भेज दी गई थी और उन्होंने 10-11 अक्टूबर को सूचना दी कि कवर नहीं बन पा रहा है। अब नया कवर बनाकर पुस्तक छपने दी जाएगी।

जनसत्ता में नामवर सिंह के एक व्याख्यान की रिर्पोटिंग छपी है। उसमें नामवरजी ने एक बात काफी आश्चर्यजनक कही है (आश्चर्यजनक इसलिए कि उनसे ऐसी अपेक्षा नहीं थी) कि कभी पीछे की ओर लौटना पड़ता है। आशय globlisation के परिप्रेक्ष्य में परंपरागत अर्थव्यवस्था को फिर से चलाने का है- किशनजी के लेखों (संकलन) में यह बात ज्यादा स्पष्टता से लिखी गई है। (18-10-2000)

विकल्पहीन नहीं दुनिया की पाकिट बुक की सारी प्रतियाँ बिक गई हैं। अब केवल सजिल्द संस्करण है।...

कृष्णकुमार की टिप्पणी मैंने भी पढ़ी थी और आपकी ही तरह समझ नहीं पाया कि वह क्या कहना चाहते हैं। टिप्पणी से आपका आशय पुस्तक के विमोचन उनके वक्तव्य से है न? अलग से कोई टिप्पणी उन्होंने लिखी हो तो वह मैंने नहीं पढ़ी। जनसत्ता के दिल्ली संस्करण में जो स्तंभ छपते हैं वह कलकत्ता में नहीं छपते। अगर स्तंभ में उन्होंने कोई टिप्पणी लिखी हो तो उसकी फोटोकॉपी भेजें। (गिरधर) राठीजी ने जनसत्ता में किताब की समीक्षा की है तो कृष्णकुमार की टिप्पणी दूसरी समीक्षा है? राठीजी की समीक्षा आपको कैसी लगी? मैंने राठीजी को उनकी समीक्षा पर पत्र लिखा है कि उनकी शंकाएँ वाजिब हैं पर यदि हम एक अलग दृष्टिकोण से देखें तो हमें विकल्प ढूँढ़ने ही होंगे।

(29-01-2001)

दूसरे के गुण निकालने का गुणी

विद्यासागर गुप्त

अशोक के चले जाने के बाद जिस बात की मुझे व्यक्तिगत तौर पर कमी लगती है वह यह कि अब कोई बात करनेवाला नहीं रहा। कलकत्ता से निकलनेवाली पत्रिका 'चौरंगी वार्ता' के दौर के लगभग सभी रमेशचंद्र सिंह, यमुना सिंह, दिनेश दादा, राम अवतार उमराव— एक-एक करके चले गए। अशोक था जिससे बात करने में मन लगता था। उससे मेरी बातचीत ज्यादातर मारवाड़ी में होती। वह कभी-कभी इस बात का जिक्र करता कि अब कम लोग बचे हैं जिससे उसकी मारवाड़ी में बातचीत होती है।

अशोक को मैं बचपन से जानता था। मेरा और उसका परिवार करीब दो-तीन वर्ष लेक के वहाँ एक ही मकान में रहे। हम लोग निचली मंजिल पर और उसका परिवार ऊपर पहली मंजिल पर। अशोक के घर का नाम 'पोपी' था। मैं और अशोक सातवीं कक्षा तक माहेश्वरी विद्यालय में साथ पढ़े। उसके बाद मैं दूसरे स्कूल में चला गया। बाद में उसके पिता सीतारामजी ने शिमला स्ट्रीट में किराए पर मकान ले लिया। अशोक के परिवार से हमारा निरंतर संबंध रहा लेकिन अशोक से मिलना कम होता। फिर तो वह दिल्ली चला गया।

मारवाड़ी समाज ने जिस तरह भाई साहब को रिजेक्ट किया उसी तरह अशोक को भी। मारवाड़ी परिवार और समाज में जो व्यक्ति कमाता नहीं, उसकी कोई पूछ नहीं होती, सो अशोक की वैसी पूछ नहीं रही।

हमारी घनिष्ठता 'चौरंगी वार्ता' के दिनों हुई जब वह दिल्ली से कलकत्ता लौट आया था। वे बहुत ही उथल-पुथल और राजनीतिक गतिविधियोंवाले दिन थे। इमरजेंसी लगने के बाद अशोक बहुत घबड़ाया हुआ था। लेकिन छुपे-छुपे बहुत सी गतिविधियों में भाग लेता। एक गुप्त बैठक राजस्थान क्लब में हुई थी। उसके बाद पुलिस ने पूछताछ के लिए अशोक को बुलाया था। उन दिनों जॉर्ज फर्नांडीस कलकत्ता आने पर हमारे घर रुकते। जिस दिन इमरजेंसी की घोषणा हुई उसके अगले रोज रात को जॉर्ज उड़ीसा से कलकत्ता हमारे घर आए। मैंने रात को ही उनको दूसरी जगह टिका दिया। फिर जॉर्ज को साधु के वेश में कलकत्ता से पटना भेजा गया। साथ में राम अवतार उमराव गए। हम लोग जॉर्ज के चुनाव में प्रचार करने मुजफ्फरपुर गए थे। इस सब में अशोक हमारे साथ रहा।

अशोक के कई गुण थे। लेकिन सबसे बड़ा गुण था लोगों के गुण निकालना। हर किसी में वह कोई न कोई गुण देख लेता। उसके पास जाकर लोगों को तरह-तरह की बातें जानने-सुनने को मिलतीं। उसको सब चीजों की जानकारी होती— विश्व राजनीति, विश्व साहित्य, खेल-कूद, खान-पान। किसी भी किताब के बारे में पूछो वह उसके बारे में जानता होता। अभी कुछ वर्ष पहले भाई साहब (बालकृष्ण गुप्त) की किताब 'हाशिए पर पड़ी दुनिया' को तैयार करने में अशोक ने जो मेहनत की वह तो अलग बात है, ताज्जुब कि उसने कहाँ-कहाँ से किताबें इकट्ठी कीं जो उसके बिना संभव नहीं था।

मेरे देखे उसके सबसे बुरे दिन वे रहे जब परिवार की एक कलह के कारण वह दिन-रात परेशान रहा। इस सिलसिले में मेरे साथ वह कई लोगों से मिलने गया। भारतीय भाषा परिषद और श्रीशिक्षायतन के आंदोलन के समय भी वह परेशान रहा लेकिन लड़ता रहा। जिसमें उसको लगता कि बहुत गलत हो रहा है उसमें वह कुछ भी करने को तैयार हो जाता।

मित्रों-परिचितों के परिवार के सदस्यों से भी अशोक का नाता सहज ही जुड़ जाता था। वह सबका खयाल रखता। हमारी बेटी रुचिरा के बारे में वह हमेशा खोज-खबर लेता और उसका अखबार में कहीं कुछ भी छपने पर फोन कर बताता। मेरी पत्नी रजनी का कहना है कि अशोक का व्यक्तित्व उसके जीवन से बड़ा था। इस मामले में कि उसने जीवन में ऐसा कोई काम नहीं किया जो कहीं खड़ा दिखता हो। संस्था आदि खोलने जैसा। लेकिन उसने कितने लोगों के जीवन को बदला जिसकी गिनती नहीं।

मुझे अशोक और भाई साहब की कुछ बातों में समानता दिखती है— वेशभूषा का कोई ध्यान न रखना, लगातार सिगरेट पीना, अखबारों और किताबों में जुटे रहना और घर को सबके लिए खुला रखना। मारवाड़ी समाज ने जिस तरह भाई साहब को रिजेक्ट किया उसी तरह अशोक को भी। मारवाड़ी परिवार और समाज में जो व्यक्ति कमाता नहीं, उसकी कोई पूछ नहीं होती, सो अशोक की वैसी पूछ नहीं रही। उसने भी इन बातों की कभी फिक्र नहीं की। श्रीशिक्षायतन स्कूल को जब अंगरेजी माध्यम किया जा रहा था तब अशोक ने उसका विरोध किया था। मुझे याद है सिर्फ भागीरथजी (कानोड़िया) के परिवार को छोड़ किसी ने उससे सहानुभूति नहीं जताई।

अशोकजी की चुहल

हरीश त्रिवेदी

मैंने अशोकजी को कम ही जाना, बस दो बरस की छोटी सी अवधि में, और वह भी दशकों पहले। उनसे कुछ खास अंतरंगता भी न हुई, जिसका कारण शायद इस लेख में आगे जाहिर हो सके, पर तभी से उनसे एक आत्मीयता का बोध लगातार बना रहा जबकि उनसे बाद में बस एक बार ही मिलना हुआ और वह भी चालीस-बयालीस साल बाद। यह विचित्र भले लगे पर है सत्य।

अगस्त 1969 से सितंबर 1971 के दौरान मैं दिल्ली में था और सप्रू हाउस हॉस्टल में रहने या जमनेवाली उस युवा चौकड़ी (या आठ या दस कड़ी) का सदस्य था जिसका काम था हफ्ते की कई शामें उसी सप्रू हाउस के बड़े लॉन में या उससे लगी हुई कैंटीन में घंटों बतियाते हुए बिताना। इसमें कभी-कभी कनॉट प्लेस के गोल दायरे में लगातार घूमते रहना भी शामिल था जिसके दौरान हम अपनी बातों में ही मगन रहते थे, इधर-उधर देखते तक नहीं थे, और बहुत थक जाने पर वहीं कहीं मिडिल या आउटर सर्किल के किसी सस्ते ढाबे में कुछ खा कर किसी तरह कोई न कोई बस या ऑटो पकड़ कर घर या डेरे की राह लेते थे। क्या बातें होती थी यह न अब खास याद है न उसका तब भी कोई विशेष महत्व था। बस साथ की बात थी, और सहज बतरस था जो बाद के व्यस्त जीवन में दुर्लभ होता चला जाता है।

इन गतिविधियों में अशोकजी भी अक्सर हमारे साथ होते थे। यह वही झुंड या गिरोह था जिसका सजीव वर्णन पुष्पेश पंत ने इसी अंक में सम्मिलित अपने मार्मिक लेख में किया है। इसके अधिकतर सदस्य अनेक प्रांतों से एक विशेष छात्रवृत्ति पाकर दिल्ली में इंटरनेशनल अफेयर्स में पीएच.डी. करने सप्रू हाउस आये थे, और तब अन्य शहरों में अत्यंत दुर्लभ स्वच्छंद माहौल में पढ़ाई भी कर रहे थे और कुछ मौज-मस्ती भी। पर हम दो-तीन लोग थे जो अ-छात्र थे और जिनको इस गिरोह के मुरौव्वती सदस्य या घुसपैठिये कहा जा सकता था। इनमें पुष्पेश के बड़े भाई मुकेश थे जो शायद कुछ नहीं करते थे, बस अपनी सहज प्रतिभा, वाकपटुता और स्नेही स्वभाव से सभी नर-नारियों का मन मोहते रहते थे, अशोकजी थे, और प्रयाग शुक्ल थे, जो दोनों जीविकार्जन-वश पत्रकार थे और जिनसे सभी को उम्मीद थी कि वे आगे चल कर अत्यंत महान व प्रसिद्ध लेखक साबित होंगे। (वैसे उन दिनों वहाँ एक और लेखकीय प्रतिभा भी पीएच. डी. कर रही थी, सी.एस. लक्ष्मी, जो अब अम्बै नाम से तमिल कहानी लेखक व स्त्री-संघर्ष की कार्यकर्ता के रूप में विख्यात हैं, पर उनसे दोस्ती बस पुष्पेश की और मेरी ही थी, और इस झुंड में शायद किसी और की नहीं।) और यहीं कहीं हम भी थे —हम हूँ उमा रहे तेहि खेता! हमारी इस गिरोह में उपस्थिति कुछ हाशिये पर की थी। हम तभी -तभी इलाहाबाद यूनिवर्सिटी से एम.ए. करके दिल्ली आए थे, और एक महीने रामजस कॉलेज में पढ़ाने के बाद अब सेंट स्टीफेंस कॉलेज में अंग्रेजी पढ़ा रहे थे। हमारी विशेष या एकमात्र अर्हता यह थी कि हम पुष्पेश के दोस्त थे, बल्कि इन दो सालों तक हम दोनों एक ही फ्लैट में साथ-साथ रहते थे। तो पुष्पेश के दोस्त हमारे दोस्त थे और उन सबका संग-साथ हमारा भी संग साथ था।

अशोकजी भी कुछ हाशिये पर ही थे या जान-बूझ कर रहते थे। पहली बात, वे हमसब से उम्र में करीब दस-बारह वर्ष बड़े थे। दूसरे, वे हमारे बीच चलनेवाली अथक बातचीत में शामिल तो दीखते थे पर स्वयं बहुत कम बोलते थे। तीसरे, जनश्रुति थी कि वे बड़े बाप के बेटे हैं, उन सीताराम सेकसरिया के जिनके नाम पर हिंदी का बड़ा पुरस्कार दिया जाता है, और कलकत्ते का अपना धनी-मानी घर-परिवार छोड़-छाड़ कर दिल्ली में सरल, निस्पृह और असंपृक्त जीवन बिता रहे हैं। चौथे, वे अकेले थे हम सबमें जो हरदम कुरता-पाजामा पहनते थे और वह भी मुड़ा-तुड़ा और म्लान-मलिन, जिनके सीधे खड़े बालों का तेल तो तेल कंघी से भी कोई संबंध नहीं दिखता था, जिनका दोहरा बदन और मुखारविंद किसी भी साज-सज्जा या विशेष स्वच्छीकरण का मोहताज नहीं था, और जो कुछ औघड़ से थे कि बेटा, इन ऊपरी व्यवधानों को पार कर सको तो हमारे पास आओ नहीं तो जाने दो। और पाँचवें, कुछ यह भी था कि वे शायद कोई प्रच्छन्न कार्यकर्ता का जीवन जी रहे हैं जिसका सप्रू हाउस के सभ्रांत समाज से कोई ताल्लुक हो ही नहीं सकता। वे जब आ जाते थे तो साथ थे, नहीं आते तो बस नहीं आते थे। कभी बहुत पास लगते थे पर अधिकतर कहीं और दूर ही थे।

उनसे सामान्यत: क्या चर्चा होती थी यह तो याद नहीं पर अब वे चले गए हैं और उन पर लिखने का अवसर आया है तो याददाश्त की अतल अबूझ गहराइयों से एक-दो प्रसंग सहज ही सतह पर तिर आये हैं। एक बार कनॉट प्लेस की रीगल बिल्डिंग के गलियारे में क्वालिटी रेस्टोरेंट के सामने की फर्श पर देर रात बैठे-बैठे संस्कृत साहित्य पर चर्चा छिड़ी तो मैंने भर्तृहरि के कुछ श्लोक सुनाए जो मुझे बी.ए. से याद थे।

शतकत्रयम् का पहला ही श्लोक रस, ध्वनि और विनोद से इतना सिक्त है कि उसे सुनने- सुनाने में सदैव आनंद आता है, और उसकी अंतिम पंक्ति तो पूरे संस्कृत साहित्य की अमर उक्तियों में से एक है: धिक् ताम् च तम् च मदनम् च इमाम् च माम् च! सुनकर अशोकजी बोले, हरीशजी, आपका संस्कृत उच्चारण कितना स्पष्ट है! मैंने खुश होकर बताया कि इलाहाबाद विश्वविद्यालय में मेरे एक अध्यापक थे, पंडित लक्ष्मीकांत दीक्षित, जो क्लास में हर श्लोक तल्लीन हो कर आँखें मूँदकर सस्वर सुनाते थे। यह अनसुना-सा करते हुए अशोकजी बोले, आपका संस्कृत उच्चारण उतना ही स्पष्ट है, हरीशजी, जितना कि आपका अंग्रेजी उच्चारण! पहले तो बात अटपटी सी लगी फिर सहसा सबको भान हुआ कि देखिए, अशोकजी कहाँ से शुरू कर के क्या बात कह गए, और सभी ने बहुत ठहाके लगाए।

एक और प्रसंग उसी गलियारे के हमारे प्रिय उसी फर्शी आसन का। यह दिसंबर 1970 या जनवरी1971 की बात होगी। कई दिन बाद मिले होंगे तो हम सब एक दूसरे की खोज खबर ले रहे थे कि हाल में किसके साथ क्या-क्या घटित हुआ। मेरा नंबर आया तो मैंने बताया कि एक इंटरव्यू देकर आया हूँ, कामनवेल्थ स्कालरशिप का, जो मिल गई तो तीन साल के लिए इंग्लैंड ले जाएगी पीएच.डी. करने के लिए। अशोकजी यह सुन कर विशेष ही उत्सुक, उत्कंठ किंवा उद्ग्रीव हुए, और तफसील से पूछते रहे कि मुझसे क्या-क्या पूछा गया और मैंने जवाब में क्या-क्या कहा। फिर उन्होंने मेरे कैरियर और शैक्षिक योग्यतायों का पूरा ब्यौरा लिया। हाई स्कूल कहाँ से किया था (उन्नाव से) इंटर कहाँ से (आधा हरदोई और आधा इलाहाबाद से), बी.ए. और एम.ए. में कौन सा डिवीजन आया था (फर्स्ट), और पोजीशन भी थी क्या (हाँ, दोनों में टॉप)। फिर थोड़ी देर बस कुछ चकित से दीखते हुए मंद-मंद मुस्काते रहे। फिर बोले, इसका मतलब कि आपको सब कुछ मिलता ही चला गया! मैंने इस तरह सोचा तो नहीं था अपने बारे में पर सिर हिलाकर मैंने कहा, हाँ, भाग्य साथ देता रहा है! तब अशोकजी और खुल कर मुस्कराए और बोले, तो भाग्य तो बदल भी सकता है। शायद ऐसा भी हो, और अच्छा ही हो, कि अब आप को एक-दो चीज न भी मिले! एक सेकेंड का सन्नाटा सा छाया और फिर सभी ने फिर ठहाके लगाए, जिसमें यह भाव भी था कि बस अशोकजी ही इतने सहज प्रेम और निश्छलता से ऐसी बात कह सकते थे कुछ यूँ कि जैसे दिठौना लगा रहे हों।

वे अकेले थे हम सबमें जो हरदम कुरता-पाजामा पहनते थे और वह भी मुड़ा-तुड़ा और म्लान-मलिन, जिनके सीधे खड़े बालों का तेल तो तेल कंघी से भी कोई संबंध नहीं दिखता था, जिनका दोहरा बदन और मुखारविंद किसी भी साज-सज्जा या विशेष स्वच्छीकरण का मोहताज नहीं था, और जो कुछ औघड़ से थे कि बेटा, इन ऊपरी व्यवधानों को पार कर सको तो हमारे पास आओ नहीं तो जाने दो।

बस एक प्रसंग और। एक और रात ज्यादा ही देर हो गयी। बसें तो बंद हो ही गईं थी, देर तक ऑटो भी नहीं मिला। तब तक पूरे समूह में बस अशोकजी और मैं ही बचे थे तो अशोकजी बोले, चलिए, हमारे साथ चलिए, वहीं सो जाइए, और सुबह चले जाइएगा। मैंने पूछा नहीं कि आप कहाँ रहते हैं और वहाँ कैसे पहुँचेंगे। बस हम दोनों काफी दूर तक पैदल चलते रहे, पहले नई दिल्ली के प्रशस्त राज-मार्गों पर जो सर्वथा सुनसान पड़े थे और फिर थोड़ी दूर पिछवाड़े की एक गली में जो शायद सर्विस लेन या नौकरों का रास्ता थी। (चलते-चलते मुझे तभी पढ़ा शेखर का एक प्रसंग याद आया जिसमें जमुना के किनारे-किनारे एक भरी दोपहर के स्तब्ध सुनसान में आगे-आगे दादा यानी चंद्रशेखर आजाद चले जा रहे हैं और पीछे-पीछे शेखर!) फिर एक अहाते में प्रवेश हुआ, एक कोठरी सी आई, और उसमें जल्दी ही हम दोनों लोग सो गए।

सुबह मैं चलने को हुआ तो अशोकजी बोले, दो मिनट मिल लीजिए। किस-से यह नहीं कहा। खैर, रात की कोठरी से निकल कर अब चमचमाती धूप में बड़े-भारी लॉन को पार कर के हम मुख्य भवन में दाखिल हुए जहाँ नाश्ता लग रहा था। थोड़ी-ही देर में अंदर से मँझोली कद-काठी के एक सज्जन प्रकट हुए जो बुर्राक कुरता-पाजामा तो पहने हुए थे ही पर जिनके पूरे व्यक्तित्व से सहज शालीनता और गरिमा फूटती थी। मैं तुरंत ही पहचान गया, वे मधु लिमये थे जो तब समाजवादी पार्टी के लोकसभा के एम.पी. थे और लोहिया के अकस्मात निधन के बाद समाजवादी विचारधारा के शायद सबसे गहन व मुखर मनीषी। मेज पर बैठा कर उन्होंने बहुत सारा नाश्ता स्वयं परोस कर मेरी ओर बढ़ाया। खाते-खाते अशोकजी ने परिचय में कहा कि ये सेंट स्टीफेंस कॉलेज में अंग्रेजी पढ़ाते हैं। मधु लिमये मेरी ओर ऊपर से नीचे तक देखते रहे और खाने के और पदार्थ परोसते रहे।

जब मैं चलने को हुआ तो बाहर तक साथ आए और वहीं लॉन पर विदा दी। बोले, अब घर जाएँगे? मैंने कहा, नहीं, समय नहीं है, सीधे कॉलेज ही जाऊँगा। वे बोले, इन्हीं कपड़ों में? मैंने ध्यान दिया कि मैं नीली संकरी जीन्स पहने था जो तब के एक तबके के युवा वर्ग की यूनिफार्म सी थी, और ऊपर एक ढीला पीला कुरता जो बरसों तक मेरी प्रिय पोशाक बना रहा। चल जायेगा? उन्होंने पूछा। मैंने बताया कि कॉलेज में सब कुछ चलता था, क्योंकि वे दोहरी विद्रोही अराजकता के दिन थे, जहाँ एक ओर हिप्पी और फ्लावर-चिल्ड्रेन

रंगारंग भेस बनाये घूमते थे और दूसरी ओर नक्सली क्रांतिकारी साफ-सुथरे कपड़ों को बुर्जुवाजी का पहला लक्षण मानते थे। मधुजी को आश्चर्य हुआ हो तो उन्होंने लक्षित नहीं होने दिया। उनकी मुस्कराहट पर शिकन नहीं आई।

अशोकजी का आशीर्वचन साथ था ही, तो वह स्कॉलरशिप मुझे मिल गई और सितंबर 1971 में मैं इग्लैंड चला गया। तीन के चार साल लगे पीएच.डी. करने में तो नवंबर 1975 में लौटा। तब तक वह छोटी सी दुनिया पूरी बदल गयी थी। सप्रू हाउस का गुंबद तो वहीं खड़ा था पर विदेशी नीति अध्ययन का वह अलग -थलग संस्थान नए स्थापित जे.एन.यू. में समाहित हो गया था। पुष्पेश भी वहीं नौकरी पाकर तब बहुत ही सुदूर और दिल्ली से बाहर लगनेवाले उस पथरीले बियाबान कैंपस में रहने लगे थे, रमेश दीक्षित वापस लखनऊ चले गए थे, लखनऊ के ही शुक्लाजी को कहीं नार्थ-ईस्ट की किसी नई यूनिवर्सिटी में जगह मिली थी, सतीश जर्मनी में पढ़ रहे थे, और लक्ष्मी दिल्ली के कुछ कॉलेजों का दरवाजा खटकाने के बाद मद्रास और फिर बंबई पहुँचने को थीं। विदेश जाने की हड़बड़ी में चार साल पहले मैं आखिरी महीने का कैंटीन का बिल नहीं चुका पाया था तो जब बकाया छब्बीस रुपये कुछ पैसे देने गया तो वहाँ की तो मेज कुर्सियाँ तक बदल गई थीं। मालिक दूसरा था, उसने पैसे लेने से इनकार कर दिया। बस एक नेपाली लड़का आधा पहचान रहा था, आधा नजरें चुरा रहा था। बस एक प्रयाग शुक्ल वहीं थे जहाँ छोड़ के गया था। शायद 'दिनमान' से 'नभाटा' में आ गए थे, बस। मैंने पूछा, पदोन्नति हुई है? तो बोले, हरीशजी, पदोन्नति तो मेरे स्वभाव में ही नहीं है। उन्हीं से पता चला कि कौन कहाँ है और क्या कर रहा है, जिसका लब्बो-लुआब यह था कि हम छुट्टे-निखट्टे लोग बेफिक्र जवानी की दहलीज पार कर के जहाँ भी थे वहीं नौकरी-शुदा और शादी-शुदा हो चुके थे और गृहस्थ-धर्म का पालन कर रहे थे। उन्होंने ही बताया कि अशोकजी भी वापस कलकत्ता चले गए हैं। उन्हीं से अगले पैंतीस-चालीस साल कभी-कभार अशोकजी की कुशल-क्षेम मिलती रही।

इस बीच मैं भी कलकत्ते कई बार गया पर अशोकजी से मिलने जाने का न कोई संयोग बना और न अचानक ही कहीं भेंट हुई। वे दो साल एक बंद किताब की तरह अपनी जगह पड़े रहे। मुद्दतें गुजरीं तेरी याद भी आई न हमें/और हम भूल गए हों तुझे ऐसा भी नहीं। पर फिर अकस्मात् अशोक-प्रसंग में एक नया अध्याय जुड़ा। 1999 में मैं शिकागो विश्वविद्यालय जा रहा था कुछ भाषण देने, तो ऐसे ही मैंने प्रयागजी से पूछा की आज-कल नया क्या पढ़ रहे हैं। उन्होंने नाम लिया कलिकथा वाया बाइपास का तो वह मैं साथ लेता गया और वहाँ पर मैंने उसकी चर्चा भी की। लौटकर उस पर अंग्रेजी में समीक्षा लिखी और लंदन से प्रकाश्य एक संग्रह के लिए उसके एक अध्याय का अनुवाद भी किया। इस तरह अलका सरावगी से परिचय हुआ, पहले उस अद्भुत पुस्तक के माध्यम से और फिर साक्षात्।

और फिर अलका से बात-चीत में धीरे-धीरे अशोकजी की एक नई छवि उद्घाटित हुई। वे उनके गुरु-स्थानीय प्रतीत हुए, उनके सतत प्रेरक और उनके लगभग आँगन-कुटी में सुलभ निंदक भी। मुझे लगा कि चुहल सी करते हुए, जग का मुजरा लेते हुए, गहरी सहानुभूति के साथ बेधड़क अप्रिय सत्य बोलते हुए, यह तो वही अशोक हैं, बस अब कुछ और सिद्ध और मलंग हो गए हैं। जैसे कि अलका ने बताया की उन्होंने एक दिन अशोकजी से कहा कि एक सज्जन ने उनके किसी उपन्यास का अंग्रेजी अनुवाद करके भेजा है जो उन्हें बहुत ही बुरा लग रहा है, तो अशोकजी ने सांत्वना-सी दी: अनुवाद तो बुरे होते ही हैं!

बहरहाल, सन 1971 के बाद 2012 में अशोकजी से फिर मिलना हुआ। मैं एक पखवाड़े के लिए जादवपुर यूनिवर्सिटी में विजिटिंग प्रोफेसर होकर गया और वहीं ठहरा। एक शाम अलका ने व्यवस्था की कि वहाँ से गाड़ी मुझे लेकर अशोकजी के यहाँ जाएगी और फिर हम दोनों अलका के घर पहुँचेंगे। अशोकजी के कमरे के बारे में मैंने बहुत कुछ सुन रखा था। उसका हिंदी साहित्य-जगत में कुछ वैसा ही माहात्म्य था जैसे कई दशकों तक निर्मल वर्मा की करोलबागवाली बरसाती का रहा था। मैं पहुँचा तो तैयार था कि फर्श से उगते पौधों की तरह किताबों और पत्र-पत्रिकाओं के बड़े होते अंबार दिखेंगे, दीवालों से दूर कमरे के बीचो-बीच एक चारपाई-नुमाँ चीज बिछी होगी और शायद एक-दो किसी प्रकार की कुर्सियाँ भी हों। पर जिस बात के लिए तैयार नहीं था वह था उनका सहज भावाविष्ट स्वागत। लपक कर पास आए और दोनों हाथों से मेरा चेहरा देर तक थपथपाते रहे और एकटक देखते हुए चुपचाप मुस्कराते रहे।

बिना ज्यादा कुछ कहे फिर हम लोग अलका के घर पहुँचे और वहाँ भी एक-डेढ़ घंटे जो तीन-चार लोगों के बीच वार्तालाप हुआ उसमें उनकी शिरकत बहुत ही कम रही। कुछ वही आलम जो सप्रू हाउस के लॉन में रहता था। दर्शन ही होने थे, बस दर्शन ही हुए। दिल की एक हूक निकल गयी, नहीं तो अब जाने कैसा लगता। लौटने पर निर्मल की कहानी 'कौवे और काला-पानी' का एक प्रसंग भी अकस्मात् याद आया। बड़े भाई घर-बार छोड़ कर चले गए हैं और एक पहाड़ पर रहते हैं, कई साल बाद छोटा भाई जायदाद के कागज-पत्तर पर दस्तखत कराने आता है जो वे तुरंत ही कर देते हैं, और फिर चलते-चलते छोटा भाई कहता है, सोचा न था कि इस जन्म में फिर आपके दर्शन होंगे। बड़े भाई सहज स्वर में कहते हैं, कोई और भी जन्म होता है क्या? इस जन्म में अशोकजी को जो थोड़ा-बहुत जाना उसका इस तरह बरसों के अंतराल या रिक्ति के बाद समापन हुआ तो भाग्यवश ही एक प्रकार की पूर्ति हुई।

भाई साहब, बिहार आंदोलन और वार्ता

बजरंग सिंह

अशोकजी से मेरी पहली मुलाकात 1973 के मध्य में 'चौरंगी वार्ता' (लोहियावादियों की साप्ताहिक पत्रिका) के कोलकाता स्थित कार्यालय 8, इंडियन मिरर स्ट्रीट में हुई थी। तब मैं पटना विश्वविद्यालय के श्रम एवं समाज कल्याण विभाग में एम.ए. (अंतिम वर्ष) का छात्र था। संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी (संसोपा) और समाजवादी युवजन सभा के मध्य एवं लघु स्तर के नेताओं के संपर्क में आ चुका था। वर्ष 1973 के प्रारंभ के महीने में पटना विश्वविद्यालय के परिसर में घुसकर छात्रों के आंदोलन को दबाने के लिए पुलिस ने आँसू गैस के गोले दागे थे और गोलियाँ भी चलाई थीं। पटना विश्वविद्यालय के परिसर में पुलिस बर्बरता की शायद यह पहली घटना थी। विश्वविद्यालय के इतिहास में अभी तक पुलिस उसके परिसर के अंदर नहीं घुसी थी। इस पुलिस बर्बरता की कहानी जब मैंने सयुस के अख्तर हुसैन, सूर्यनारायण चौधरी (साहित्यिक संस्था रचना के सचिव) और रामेश्वर प्रसाद सिंह (पटना से प्रकाशित 'जन' के संपादक)को सुनाई तो उन्होंने इस घटना के बारे में चौरंगी वार्ता में लिखने के लिए उत्प्रेरित किया। तब तक चौरंगी वार्ता का मैं पाठक बन चुका था। आँखों देखी इस पुलिस बर्बता की कहानी मैंने वार्ता को भेजी। वार्ता में इस रपट को प्रमुखता से प्रकाशित किया गया। किसी पत्र-पत्रिका में प्रथम बार अपना छपा हुआ नाम देखकर मुझे अत्यंत खुशी हुई। लेकिन इससे भी ज्यादा खुशी तब हुई जब अशोकजी का एक पोस्ट कार्ड मिला-'बजरंगजी, आपकी रपट अच्छी लगी। चौरंगी वार्ता के लिए लिखा करें'।

वर्ष 1973 के अंत में जब मैं अपने अध्ययन के सिलसिले में कोलकाता गया तो चौरंगी वार्ता के कार्यालय में जाना हुआ। वहीं प्रथम बार अशोकजी और पूरी वार्ता टीम से भेंट हुई। मैं उस समय अत्यंत ही दुबला-पतला था, सो अशोकजी ने मेरे नाम के साथ मेरी काया की तुलना करके देखना शुरू किया-'बजरंगजी, मैं तो सोचता था कि आप मोटे तगड़े और बड़ी-बड़ी मूँछवाले होंगे।' संध्या का समय था इसलिए चौरंगी वार्ता की पूरी टीम (यमुना सिंह, रामअवतार उमराव, रमेशचंद्र सिंह, योगेंद्र पाल और दिनेश दास गुप्त,अशोक सेकसरिया) से इकट्ठे मुलाकात हो गयी। उनके साथ आधा-एक घंटा अत्यंत ही आत्मीय माहौल में रहने का अवसर प्राप्त हुआ। लगा ही नहीं कि मैं पहली बार इन लोगों से मिल रहा हूँ। इस छोटी सी मुलाकात का असर मेरे मन पर इतना अधिक हुआ कि मैं भी उस टीम का सदस्य अपने आप को मानने लगा। तब से चौरंगी वार्ता के लिए छोटी-बड़ी रपटें लिखने लगा।

इसी बीच 18 मार्च 1974 को बिहार में छात्रों का आंदोलन शुरू हुआ। तबसे तो चौरंगी वार्ता के प्रायः प्रत्येक अंक में 'पटना की रपट' शीर्षक से मेरे द्वारा भेजी गई खबरें प्रकाशित होने लगीं। एकाध बार तो ऐसा हुआ कि स्वास्थ्य की खराबी या अन्य व्यस्तताओं के कारण आंदोलन की रपट मैं नहीं भेज पाया तो अशोकजी ने उस अंक को रोक दिया और पटना की रपट मुझसे मँगवाने के बाद संयुक्तांक निकाला। जयप्रकाशजी ने आंदोलन के दौरान चौरंगी वार्ता को आर्थिक सहयोग भी दिया था। यही नहीं, इस पत्रिका के प्रकाशन में जो समाजवादी जमात लगी हुई थी वह भी पूरी तरह आंदोलन में सक्रिय था। ओमप्रकाश दीपक, किशन पटनायक और दिनेश दास गुप्त जो इस जमात के अगुवा साथी थे, बिहार आंदोलन को वैचारिक आधार देने में लगे थे। दीपकजी ने जय प्रकाशजी के राजनैतिक सलाहकार के रूप में पटना में रहकर महीनों तक अपनी सेवाएं दीं।

अशोकजी अपना पूरा समय देकर चौरंगी वार्ता को आंदोलन की पत्रिका बनाने में लगे थे। जिस रपट में अशोकजी की कलम चल जाती थी उस रपट या लेख का कायांतरण हो जाता था। बिहार आंदोलन के दौरान बिहार में अशोकजी का आना तो कम ही हुआ, किंतु वार्ता टीम के दिनेश दास गुप्त, रमेशचंद्र सिंह, योगेंद्र पाल और राम अवतार उमराव का पटना तथा बिहार के दूसरे हिस्सों में बराबर आना-जाना बना रहा। वार्ता टीम के लोगों ने अशोकजी के गुणों के बारे में इतना कुछ बता रखा था कि उनसे मिलकर कुछ बात करने, सीखने की जिज्ञासा बढ़ती जा रही थी। अवसर की तलाश में रहता था। पटना के जिस स्टॉल पर उन दिनों चौरंगी वार्ता आती थी उसके बंडल में मेरे लिए अशोकजी के कुछ संदेश जरूर होते थे। पोस्ट कार्ड या अंतर्देशीय भी बीच-बीच में उनके आ जाते थे। आंदोलन का असर शहर और गाँव के गरीब तबकों में किस तरह हो रहा है यह जानने की उनकी उत्सुकता होती थी। गाँव-गाँव में जनता सरकार बनाने का कार्यक्रम जब बिहार आंदोलन में जुड़ा तो उसकी खबरों को समेटने का विशेष अभियान चौरंगी वार्ता ने चलाया। रघुपति, शिवानंद और शिवपूजन सिंह से इस कार्यक्रम के ऊपर लिखवाने का विशेष आग्रह उन्होंने किया। उनके आग्रह और दबाव पर सबों ने चौरंगी वार्ता में लिखा भी। इमरजेंसी में पुलिस का छापा पड़ने के कारण चौरंगी वार्ता बंद हो गयी।

इमरजेंसी के दौरान ज्यादातर लोग जेल में रहे या फिर भूमिगत होकर अपनी गतिविधियाँ जारी रखीं। 'मुक्ति संग्राम' के नाम से साइक्लोस्टाइल करके चार-छह पेज की पत्रिका कभी पटना से तो कभी इलाहाबाद से निकलती रही।

केंद्र जनता पार्टी की सरकार स्थापित होने के कुछ समय बाद राज्यों में विधान सभा के चुनाव हुए तो उसमें भी जनता पार्टी की विजय हुई। लोहिया विचार मंच के शिवपूजन सिंह और सूर्यदेव त्यागी जैसे कई सक्रिय साथी विधायक बन चुके थे। मंच ने तय किया कि आंदोलन के मुद्दे को जिंदा रखने तथा कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण के लिए पत्रिका निकाली जाए। 15 अगस्त 1977 से प्रकाशन की तिथि भी तय हो गई। यह भी तय किया गया कि चौरंगी वार्ता को तकनीकी कारणों से कोलकाता से पटना शिफ्ट करना संभव नहीं है इसलिए इसके नाम, स्वामित्व एवं प्रकाशकीय -संपादकीय टीम का गठन भी किया जाए। बिहार आंदोलन के चर्चित युवा नेता अख्तर हुसैन के स्वामित्व तथा राजेंद्र कुमार बिंदल की प्रबंधकीय व्यवस्था में सामयिक वार्ता का प्रकाशन होना तय हुआ। किशन पटनायक इसके मुख्य संपादक होंगे तथा अशोकजी और मैं उन्हें संपादकीय सहयोग करेंगे। मेरे लिए किशनजी और अशोकजी के सानिध्य में काम करना बहुत बड़ी बात थी। सो मैं अनुग्रह नारायण समाज अध्ययन संस्थान, पटना की अनुबंधवाली शोधकर्मी की नौकरी छोड़कर सामयिक वार्ता के कार्यालय में पूर्णकालिक कार्यकर्ता हो गया। अशोकजी कोलकाता से पटना आ गए। किशनजी भी घूम-फिरकर पटना में ही रहने लगे। सामयिक वार्ता का पटना कार्यालय ही उनका पत्राचार का पता हो गया।

वासुदेवपुर चंदेल गाँव का एक राजपूत लड़के (ओमप्रकाश सिंह) ने उसी गाँव की एक दलित लड़की (उर्मिला) से प्रेम विवाह कर लिया था। समाज ने साथ नहीं दिया और उस लड़के को प्रताड़ित किया गया। रघुपतिजी के मार्फत बात सामयिक वार्ता तक पहुँची। अशोकजी ने इस मुद्दे को भावनात्मक स्तर पर पकड़ लिया और खींचकर सामयिक वार्ता, लोहिया विचार मंच, युवा जनता दल के माध्यम से इतनी दूर तक ले गए कि बिहार के तत्कालीन मुख्यमंत्री कर्पूरी ठाकुर जैसे व्यक्ति को जवाब देना मुश्किल हो गया।

समायिक वार्ता के प्रवेशांक की योजना बनी। जय प्रकाश जी का आशीर्वाद जरूरी था। उनसे साक्षात्कार के लिए समय मांगा गया। 4 अगस्त 1977 को प्रातः 11 से 12 बजे का समय निर्धारित हुआ। किशनजी और अशोकजी जयप्रकाशजी से पूछे जानेवाले सवालों को पहली अगस्त से ही आकार देने में लग गये। शिवानंद तिवारी, रघुपति, नीतीश कुमार, अख्तर हुसैन, शिवपूजन सिंह, सूर्यदेव त्यागी, विजय कृष्ण, मंगनीलाल मंडल आदि दर्जनों छात्र नेताओं से अशोकजी और किशनजी ने जय प्रकाशजी से होनेवाले साक्षात्कार के संबंध में राय ली। उनसे तब की राजनीतिक, सामाजिक परिस्थिति के अनुरूप क्या प्रश्न पूछे जाएँ और कैसे पूछा जाए, यह बड़ा अहम था। जनता पार्टी की सरकार के कुछ ही महीने हुए थे, सो असमंजस तो था ही। इसलिए एक-एक प्रश्न को गढ़ने में काफी संजीदगी एवं सावधानियाँ बरती गयीं।

4 अगस्त 1977 की सुबह मैंने अशोकजी का और दिनों से अलग रूप देखा। रोज की दिनचर्या से बिल्कुल अलग। फकीरी और औघड़ी शैली का यह व्यक्ति बार-बार रूम और बेसिन में जाकर अपनी शारीरिक सफाई में लगा हुआ था। जब रहा नहीं गया तो हम लोगों ने उत्सुकतावश किशनजी से पूछा-"अशोकजी तो आज पहचान में नहीं आ रहे हैं।" किशनजी ने बताया - "जय प्रकाशजी और अशोकजी के पिताजी (सीताराम सेकसरिया) राष्ट्रीय आंदोलन के मित्र हैं। जब भी जयप्रकाशजी कोलकाता जाते हैं तो उन्हीं के घर में ठहरते हैं, सो अशोकजी को पुत्र-तुल्य मानते हैं। जयप्रकाशजी को साफ-सफाई बहुत पसंद है, इसे अशोकजी बखूबी जानते हैं। चूँकि आज जयप्रकाशजी के पास अशोकजी को इंटरव्यू के लिए जाना है इसलिए सफाई पर विशेष ध्यान है"।

धुले हुए कपड़ों में अशोकजी उस दिन फब रहे थे, सो मजाक करने का मन किया— "आज सचमुच दुल्हे की तरह लग रहे हैं भाई साहब।" हम दोनों की बातों का उन्होंने बुरा नहीं माना। संकोच और हँसी का मिश्रित भाव प्रकट करते हुए वे सवालों को टाल गए। मैं और बिंदल ही नहीं एक दूसरे को हँसने-हँसाने के लिए कार्यालय की साफ-सफाई और रसोई बनाने की जिम्मेदारी निभानेवाला परमानंद भी हम सबों के बीच हँसी-मजाक के समय समान अधिकार से शामिल हो जाता था। अभिव्यक्ति की पूरी स्वतंत्रता और समानता का पूरा ख्याल रखा गया था। सामयिक वार्ता के डिस्पैच का समय आता तो सबके सब लग जाते थे। पटना में किशनजी होते तो वे भी हाथ बँटाते।

साक्षात्कार के लिए जब हम लोग जयप्रकाशजी के पटना के कदमकुँआ स्थित चरखा समितिवाले निवास पर पहुँचे तो देखा कि जर्मन टी.वी. के लोग घंटों पहले से जेपी को घेरे हुए हैं। हम लोग तो निराश हुए कि जेपी इन लोगों के साथ बात करते-करते थक चुके होंगे। लेकिन ऐसा नहीं था। अशोकजी ने जेपी को पैर छूकर प्रणाम किया। किशनजी ने जेपी को हाथ जोड़कर प्रणाम किया। जेपी ने अशोकजी से घर-परिवार का हाल-चाल पूछा, फिर किशनजी और शिवानंदजी से बातें कीं। चार व्यक्तियों के उस टीम में मैं ही एक ऐसा व्यक्ति था जिसका पूर्व से परिचय नहीं था, किशनजी ने परिचय कराया। आरंभ में सामयिक वार्ता के प्रकाशन के बारे में जेपी को जानकारी दी

गई। यह जानकर उन्हें बहुत खुशी हुई कि अशोकजी और किशनजी पटना में रहने लग गए हैं। साक्षात्कार के दौरान ज्यादातर सवाल किशनजी ने ही जेपी से पूछे। जेपी के दिये गए उत्तर को मैं और अशोकजी लिख रहे थे। शिवानंदजी टेप से रिकार्ड कर रहे थे। करीब एक घंटे के साक्षात्कार में जयप्रकाशजी ने सामयिक वार्ता को इतनी सारी सामग्री दी जिसकी अपेक्षा भी हम लोगों को नहीं थी। उनके चेहरे पर थकान का कोई चिन्ह नहीं था। किंतु इस बीच कुमार प्रशांत और जानकी बहन की आवा-जाही जारी रही। जैसे एक बजने को आया उनका इशारा घड़ी की सुई की तरफ होने लगा। अभी तक जेपी वार्ता के तीस-पैंतीस प्रश्नों का जवाब दे चुके थे और सब टेप में रिकार्ड हो चुका था। जेपी से विदा लेकर हम लोग सामयिक वार्ता के कार्यालय पहुँचे। मिल-बैठकर बातचीत होने लगी। तय हुआ कि पहले टेप से अक्षरशः उतारा जाए। इसमें तीन-चार दिनों का समय लगा। अशोकजी ने दिन-रात कड़ी मेहनत करके साक्षात्कार को प्रकाशित होने लायक बनाया। फिर तय हुआ कि 'प्रेस-वार्ता' करके इस इंटरव्यू को सभी अखबारों एवं एजेंसियों को दिया जाए। बहुत महत्त्वपूर्ण इंटरव्यू था। पहली बार जेपी ने अपनी ही बनाई सरकार के खिलाफ मुँह खोला था। 'प्रेस-वार्ता' होने भर की देर थी कि देशभर में हंगामा मच गया। जनता पार्टी के सभी बड़े-बड़े नेताओं का पटना आना शुरू हो गया। इंटरव्यू के शुरू में जेपी के मुँह से कही गई बातों को ही झुठलाने की कोशिश की गई। जेपी ऐसा नहीं कह सकते, किशन पटनायक ने अपनी बातें जेपी के मुँह में डाल दी हैं, आदि,आदि। जेपी के कार्यालय पर दिल्ली और पटना के सत्ताधारी नेताओं का इतना दबाव पड़ा कि सामयिक वार्ता को टेप की कॉपी जेपी कार्यालय को भेजनी पड़ी। सामयिक वार्ता अभी प्रेस से प्रकाशित होकर बाहर भी नहीं निकला था कि देश भर में चर्चित हो गया। देश के चौक-चौराहे के बुक स्टॉलों पर लोग इसे खोजने लग गए थे। प्रवेशांक की दस हजार प्रतियाँ छपीं और हाथो-हाथ बिक गईं। इस बीच अशोकजी ने किशनजी को 'नेपथ्य' में रहकर जो बौद्धिक संबल प्रदान किया वह अदभुत था। अशोकजी में गजब की बौद्धिक सक्रियता थी। उन दिनों तीन-चार घंटों से ज्यादा सोते हुए मैंने अशोकजी को नहीं देखा।

> *4 अगस्त 1977 की सुबह मैंने अशोकजी का और दिनों से अलग रूप देखा। रोज की दिनचर्या से बिल्कुल अलग। फकीरी और औघड़ी शैली का यह व्यक्ति बार-बार रूम और बेसिन में जाकर अपनी शारीरिक सफाई में लगा हुआ था। जब रहा नहीं गया तो हम लोगों ने उत्सुकतावश किशनजी से पूछा-''अशोकजी तो आज पहचान में नहीं आ रहे हैं।'' किशनजी ने बताया - ''जय प्रकाशजी और अशोकजी के पिताजी (सीताराम सेकसरिया) राष्ट्रीय आंदोलन के मित्र हैं। जब भी जयप्रकाशजी कोलकाता जाते हैं तो उन्हीं के घर में ठहरते हैं, सो अशोकजी को पुत्र-तुल्य मानते हैं। जयप्रकाशजी को साफ-सफाई बहुत पसंद है, इसे अशोकजी बखूबी जानते हैं। चूँकि आज जयप्रकाशजी के पास अशोकजी को इंटरव्यू के लिए जाना है इसलिए सफाई पर विशेष ध्यान है''।*

चाय और सिगरेट उनकी बौद्धिकता के ईंधन थे। खाना और नाश्ता तो सिर्फ शरीर की आवश्यकता भर थी।

अशोकजी के साथ अगस्त 1977 से 1982 तक साढ़े चार-पांच साल पटना में व्यतीत हआ। सामयिक वार्ता का कार्यालय और निवास एक ही था। 'कम्यून' की जिंदगी। सब कुछ साथ-साथ, सिर्फ कार्य की जवाबदेही का विभाजन। सचमुच लगता था कि समाज को बदलकर ही हम लोग मानेंगे। गैरबराबरी पर आधारित हमारी सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था आज न तो कल जरूर बदलेगी। हम सबों का संकल्प और समर्पण जरूर रंग लाएगा। अशोकजी अत्यंत ही संवेदनशील एवं भावुक प्रकृति के व्यक्ति थे इसलिए समाज में व्याप्त अन्याय उन्हें औरों से ज्यादा कचोटता था। जब ओमप्रकाश और उर्मिला के प्रेम प्रसंग में समाज की क्रूरता एवं सरकार की विफलता सामने आयी तो वे अत्यंत दुखी रहने लगे। बात ऐसी थी कि वैशाली के महनार के वासुदेवपुर चंदेल गाँव का एक राजपूत लड़के (ओमप्रकाश सिंह) ने उसी गाँव की एक दलित लड़की (उर्मिला) से प्रेम विवाह कर लिया था। समाज ने साथ नहीं दिया और उस लड़के को प्रताड़ित किया गया। रघुपतिजी के मार्फत बात सामयिक वार्ता तक पहुँची। अशोकजी ने इस मुद्दे को भावनात्मक स्तर पर पकड़ लिया और खींचकर सामयिक वार्ता, लोहिया विचार मंच, युवा जनता दल के माध्यम से इतनी दूर तक ले गए कि बिहार के तत्कालीन मुख्यमंत्री कर्पूरी ठाकुर जैसे व्यक्ति को जवाब देना मुश्किल हो गया। अशोकजी उसके दुख से इतने दुखी हुए कि ओमप्रकाश को अपने साथ वार्ता कार्यालय में ही रख लिया। उसके भोजन, वस्त्र तथा जरूरी चीजों का स्वयं ख्याल रखने लगे। समाजवादी महिला नेता तथा लोहिया की जीवनी लिखनेवाली इंदुमति केलकर को पुणे से बुलवाया और इस मामले में न्याय दिलवाने के लिए कहा। प्रशासन की ओर से जब न्याय नहीं मिला तो मामला कोर्ट में गया। कोर्ट में हम लोग हार गए।

इस तरह पटना में सामयिक वार्ता के प्रकाशन के दौर की अनेक स्मृतियाँ अभी भी मेरे दिमाग में कौंधती रहती हैं। सामयिक वार्ता के कार्यालय में देश भर के समाजवादी साथियों, साहित्कारों

एवं बुद्धिजीवियों का आना होता था। सबों से मिलना-जुलना और बात करना अच्छा लगता था और खासकर अशोकजी और किशनजी होते थे तो मजा आ जाता था। किशनजी जहाँ समाजवादी विचारों एवं आग्रहों से पूरी तरह बँधे हुए थे, वहीं अशोकजी स्वतंत्र ख्याल के व्यक्ति थे। किसी भी वाद (समाजवाद,मार्क्सवाद, गांधीवाद) से ऊपर इन्सान की इन्सानीयत उन्हें ज्यादा प्रिय थी। वादों में बँधकर वे अपने आप को नहीं रख सकते थे। बचपन में उन्हें घर में जो संस्कार मिला था वह हमेशा उन्हें गांधी के करीब ले जाकर खड़ा करता था। उनके व्यक्तित्व में सरलता और सादगी इतनी अधिक थी कि हम सबों में किसी के लिए भी अनुकरण करना दुरूह था। फक्कड़ स्वभाव के समाजवादी कवि रामप्रिय मिश्र 'लाल धुआँ' भी उनकी सरलता, सादगी और विनम्रता के कायल थे। प्रूफ रीडिंग के समय पटना के नया टोला के जन कल्याण प्रेस में और उससे फुर्सत मिलती तो चौराहे की चाय की दुकानों पर देश की राजनीति और संस्कृति पर घंटों चर्चाएँ होतीं। लालधुआँजी भी अशोकजी की तरह ही 'नेपथ्य' में रहकर काम करना पसंद करते। खुद लिखते और दूसरे, तीसरे के नाम से छपवाते। आज जहाँ बुद्धिजीवियों में दूसरे की कृति को चुराने की होड़ लगी रहती है वहाँ ऐसा इन्सान भी हो सकता है, कल्पना से परे लगता है। इसलिए 'लालधुआँ' और अशोकजी की दोस्ती उम्र में फर्क के बावजूद खूब जमती थी। अशोकजी की तरह ही लालधुआँजी साहित्य, संस्कृति और राजनीति के ज्ञानी थे। बिहार आंदोलन के दौरान नुक्कड़ कवि सम्मेलन में शामिल बाबा नागार्जुन, फणीश्वर नाथ 'रेणु', गोपीबल्लभ, परेश सिन्हा, बाबूलाल मधुकर, सत्यनारायण के बीच 'लालधुआँ' की पहचान अलग तरह की थी।

किशनजी की पत्नी वाणी मंजरी दास के पटना आने पर वार्ता कार्यालय का महौल थोड़ा गंभीर हो जाता था। बात ऐसी थी कि हम लोगों का खाना-पीना, साफ-सफाई पर उतना ध्यान नहीं रहता था। वार्ता कार्यालय का चोखा-भात उन दिनों पटना के राजनीतिक क्षेत्र में चर्चा का विषय था। महेशजी, जो सामयिक वार्ता के कार्यालय के साथ जुड़ गए थे, ऐसी बातों को आसानी से फैला देते थे। वे इसमें 'रस' लेकर दूसरों को बताते थे कि चावल में आलू डालकर मिनटों में कैसे हम लोग चोखा-भात बनाकर खा लेते हैं। वाणीजी जब आतीं तो हम लोगों को डाँट पड़ती-''इस तरह का खाना खाकर कोई इन्सान जिंदा रह सकता है। आप सब लोग बीमार हो जाएँगे तो देश और समाज का काम धरा का धरा रह जाएगा। बीमार होंगे तो कोई पूछने नहीं आएगा''। जब तक वे पटना में रहतीं हम लोग थोड़ा डरे-सहमे रहते। धीरे-धीरे जब उनके बेबाक अभिभावकीय अंदाज से परिचित हुए तो उनकी बातों में 'रस' आने लगा। आखिर वे कहती तो हैं हम ही लोगों के भले के लिए। जब तक वे रहती भोजन में दाल, भुजिया और सब्जी भी शामिल हो जाता था। वे स्वयं भी रसोई बनाने में अपने आप को शामिल कर लेतीं। कार्यालय के फर्श पर पोछा और बाथरूम में फेनाइल भी डाल दिया जाता था।

पटना छोड़कर मैं जब संताल परगना में आदिवासियों के बीच रचनात्मक कार्य करने के लिए आया तब भी अशोकजी से बराबर संपर्क कायम रहा। 1982 में सामयिक वार्ता के बनारस चले जाने के बाद अशोकजी भी पटना से कोलकाता आ गए। बराबर फोन पर बातचीत होती रहती थी। वे कहते रचनात्मक कार्य को देखने की इच्छा है। किशनजी तो वाणीजी के साथ और अकेले भी कई दफा आए। निधन के तीन-चार माह पूर्व भी किशनजी वाणीजी के साथ मिहिजाम आए। परंतु अशोकजी मिहिजाम नहीं आ सके, इसका अफसोस हमें हमेशा रहेगा।

वर्ष 2010-11 में अन्ना हजारे के नेतृत्व में भ्रष्टाचार का आंदोलन जब देश में तेज हुआ तो जयप्रकाशजी के बिहार आंदोलन की भी चर्चा फिर से जोर पकड़ने लगी। साथियों का सुझाव आया कि चौरंगी वार्ता में प्रकाशित बिहार आंदोलन की सामग्री को इकट्ठा करके प्रकाशित करना चाहिए ताकि नई पीढ़ी को बिहार आंदोलन की सामग्री उपलब्ध हो सके। इस संबंध में साथियों की राय जब मैंने अशोकजी को बताई तो वे बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा कि 'लग जाइए बड़ा काम होगा। बिहार आंदोलन पर सामग्री बहुत कम है'। सचमुच मैं उसमें लग गया। करीब एक वर्ष में सारी सामग्री टाइप करके अशोकजी के पास पहुँचा दी। वे बेहद प्रसन्न हुए। खराब स्वास्थ्य के बावजूद दो-तीन महीनों में उन्होंने इसे एक पुस्तक का स्वरूप दिया। पुस्तक की भूमिका लिखने का प्रस्ताव रखा तो इनकार कर गये। इसके लिए उन्होंने कुछ नाम अवश्य बता दिये। फिर वे प्रकाशक खोजने में जुट गये। आखिर में 'प्रभात प्रकाशन' ने ''आंखन देखी बिहार आंदोलन'' के नाम से 382 पेजों की पुस्तक प्रकाशित की। बिहार आंदोलन के ऊपर चौरंगी वार्ता में छपे उनके अपने नाम के लेख को भी अशोकजी पुस्तक में देने के लिए राजी नहीं थे, फिर मेरे बार-बार अनुरोध करने पर उन्होंने सहमति दी। प्रकाशक से पटना में जैसे ही पुस्तक प्राप्त हुई मैं और अख्तर हुसैन कोलकाता जाकर अशोकजी को पुस्तक भेंट की।

अशोकजी के साथ पटना में रहते हुए हमेशा बाबा नागार्जुन की यादें आ जाती थीं। दोनों की जीवनशैली में बहुत साम्य था। नियमित स्नान करने, कपड़ा बदलने, ब्रश करने, तेल-पाउडर लगाने से 'भाई साहब' को उतना ही परहेज था जितना कि बाबा नागार्जुन को। चाय दोनों को समान रूप से प्रिय थी। फर्क था सिर्फ सिगरेट और पान का। बाबा की पनबटी और भाई साहब का सिगरेट का डिब्बा-दोनों के रहने के अंदाज और रुचि में थोड़ा फर्क लाता था। सोच में तो फर्क था ही। दोनों जनेश्वर थे, वाचस्पति थे। उत्कृष्ट मानवीय गुणों से संपन्न दोनों के साथ महीनों, वर्षों एक ही छत के नीचे पटना में रहने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ-'बाबा' के साथ इमरजेंसी से पूर्व बिहार आंदोलन के समय में, वहीं 'भाई साहब' के साथ इमरजेंसी के बाद सामयिक वार्ता के प्रकाशन के समय में।

जमीन पर धरना देता परमहंस

विजय बहादुर सिंह

अशोक सेकसरिया के चेहरे को देखता तो परमहंस का चेहरा याद आता शायद कुछ तो वैसा ही दाढ़ी के कारण या फिर दाँतों के चलते। परमहंस को तो देखा नहीं, मेरी पैदाइश के ही पहले विवेकानंद भी चले गए थे। पर तस्वीरों में देख मन पर एक छाप तो पड़ ही जाती है। इससे लगता था परमहंस भी सिर्फ तन को ढँकने के लिए कपड़े पहनते थे, बगैर किसी बनाव या सजाव के। दाढ़ी भी कुछ यूँ ही बढ़ सी आई होगी और उन्होंने उसे काटा नहीं होगा या फिर छिलवाना गैरवाजिब माना होगा।

अशोकजी के साथ भी उनकी दाढ़ी कुछ इसी तरह उग आई थी जो उनके चेहरे को अतिरिक्त भराव देती थी। मैं जानता हूँ वे न तो दिव्य शक्तियों से संपन्न परमहंस थे, न चारों खाने चित्त कर डालनेवाले प्रचंड तर्कसिद्ध। मैंने जब उन्हें पहली बार देखा तो आपातकाल में चौरंगी वार्ता के संपादक और अपने परम मित्र रमेशचंद्र सिंह के साथ देखा। आपातकाल के समाप्ति की घोषणा हो चुकी थी और मैं रमेशबाबू को उनके प्रबल साहस के लिए बधाई और धन्यवाद देने गया था। जब मैं सागर का छात्र नहीं विदिशा के जैन कालेज के स्नातकोत्तर हिंदी विभाग का अध्यक्ष था। यह वही विदिशा था जिसे कालीदास ने अपने मेघदूत में प्रसन्न विभोर होकर वर्णन किया है। आपातकाल में चौरंगी वार्ता के संपादक यमुनाबाबू जब जेल चले गए तो सेंट जेबियर्स स्कूल के अध्यापक और विद्वान रमेशबाबू ने उसका संपादन क्षमता के साथ किया और लोहियावादियों की तरह का अपना साहस प्रदर्शित किया। अशोकबाबू भी लोहिया विचारों से प्रभावित थे।हिंदी के विशिष्ट पत्रकार और लेखक कथाकार तो थे ही संयोग ही था कि उनका एकमात्र कथा संग्रह मेरे पास रिव्यू के लिए आया। तभी मुझे उनकी कहानियों को पढ़ने का अवसर मिला।

रमेशबाबू ने दूर से उन्हें आता हुआ देख लिया था और कहा–वो देखिए अशोकजी भी चले आ रहे हैं उनसे भी भेंट हो जाएगी। मैंने उन्हें आते हुए देखा– मटमैला सा कुर्ता चमकहीन सफेद पायजामा और चप्पलों का तो खैर कहना ही क्या। किंतु उनके दाएँ हाथ की मुट्ठी में उस दिन के अखबार थे। अशोकबाबू से मेरा परिचय कराया उन्होंने और हम तीनों कुछेक देर साथ–साथ चलते भी रहे। उन दोनों ने परस्पर एक–दूसरे की खोज–खबर ली और बातें करते रहे जो इंदिरा गांधी की राजनीति से जुड़ी थी।

अशोकबाबू को इस धज में देख मुझे विचित्र प्रकार की अनुभूति हुई। कहाँ उनके शुभ्र धवल गांधीवादी और विरल समाज संस्कृति सेवक सीताराम सेकसरिया और कहाँ कुजात गांधीवादी लोहिया के अनुगामी उनके ये बड़े बेटे अशोकबाबू। लोहिया यों तो प्राय: खादी के धोती कुर्ता में ही रहते थे और काफी साफ–सुथरा वस्त्र पहनते थे परवाही के साथ जबकि अशोकजी में अपने कपड़ों को लेकर एक प्रकार का लापरवाही का भी भाव था। लोहियाजी को मैंने दसियों बार कलकत्ता के फुटपाथ पर आम आदमी से गप –शप करते चलते–फिरते देखा। पाँच–सात बार मनुमेंट के मैदान में उनके सुदीर्घ प्रवचनों भाषणों को दत्तचित्त होकर सुना। जब यह मालूम पड़ा कि वे तो मेरी ही तहसील अकबरपुर के बाजार शहजादपुर में ही पैदा हुए और बचपन के दिन और पढ़ाई–लिखाई सहित वहीं गुजारा तो जमीनी लगाव के चलते मुझे लोहिया को सुनते–पढ़ते प्यार और आत्मगौरव होने लगा। लगा कि मेरी धरती पर सिर्फ भगवान राम ही नहीं आचार्य नरेंद्र देव महान गायिका बेगम अख्तर और असाधारण लोक विचारक और जुझारू नेता लोहिया पैदा हुए। मेरे पिता कांग्रेसी और नेहरू के फैन थे। इसलिए मुझे पं. नेहरू को सुनने कई बार जाना पड़ा पर उस कच्ची उम्र में मैं यह नहीं तय कर पाया कि नेहरू और लोहिया का फर्क क्या है। लोहिया नेहरूवादी शासन पद्धति और उनकी ग्लैमरस रहन–सहन को लेकर इतने तीखे और आक्रामक क्यों हैं। पर जैसे–जैसे किशोरावस्था की प्रौढ़ता में पहुँचा और उसकी देहरी पार की लोहिया के विचार और तर्क मेरी आँखें खोलने लगे और मुझे जनतंत्र का अर्थ नए सिरे से समझ में आने लगा। कुजात गांधीवादी लोहिया नेहरू के उधार के समाजवाद और पश्चिमोन्मुखी मानस से भिन्न सोच रखते हुए गांधी को तब भी भारत के विकास के लिए लाइटहाउस मानते थे और उसमें एक खास तरह का देशी समाजवाद जोड़कर उसके मार्फत प्राचीन भारत का क्रांतिकारी नव निर्माण करना चाहते थे। मौलिक और स्वदेशी चिंतक होने के नाते लोहिया ने रामकृष्ण और शिव की नई व्याख्या की। रामायण मेला लगवाया और ग्रामीण लघु उद्योग में छोटी–मोटी मशीनों का संयोग कराकर उसके अद्यतनता देनी चाही। रमेशबाबू अशोकजी या पूरे देश में फैले प्रखर लोकतांत्रिक और जुझारू जन मसलन मधु दंडवते, मधु लिमये, जार्ज फर्नांडीज आदि लोहिया अनुगामियों ने मुझे निरंतर आकृष्ट किया और मैं समझने की इस प्रक्रिया से जुड़कर यह समझ पाया कि विकास का सच्चा अर्थ तो मूल से जुड़कर उसका कायाकल्प करना है न कि उसे उखाड़कर कुछ ऐसा परदेशी रोपना जो मूल का विनाश करके ही मानता है। अशोक बाबू या मित्रवर रमेश बाबू (रामचंद्र सिंह) मुझे इसलिए अपने अधिक करीब लगने लगे और मुझमें

अपनत्व का भाव भी भरता गया। पर अशोकजी ऐसा क्यों पहनते है हैं, ऐसे क्यों रहते हैं, लोहिया की तरह सिगरेट क्यों पीते हैं, यह समझने में तो वक्त लगा ही और मैं अब भी, जब वे जा चुके हैं यह समझने में ही लगा हूँ कि जब उनके कांग्रेसी और कट्टर गांध ीवादी पिता शुभ्र हिमालय की तरह धवल और पवित्र प्रभाव छोड़ते हैं, तब अशोकजी को देखकर हमेशा मैं सोचता कि उन्होंने यह जीवनशैली किन कारणों के चलते अपनाई। उनके मन में आखिर क्या था?

नई सदी में अर्थात दो हजार आठ के अक्टूबर में कोलकाता की अति प्रतिष्ठित सांस्कृतिक और साहित्यिक संस्था भारतीय भाषा परिषद में निर्देशक के तौर पर मैं गया। पता चला कि इस संस्था की नींव भी भारतीय सांस्कृति संसद की तरह सीतारामजी सेकसरिया ने अपने साथी और मित्र भागीरथ कानोड़िया के साथ और सहयोग से मिलकर रखी थी। काम करने के दौरान अशोकबाबू से मिलने-जुलने उनके साथ बैठने का सुयोग बना। परिषद के कार्यक्रमों में जब-तब आने के लिए मैंने उन्हें राजी कर लिया था। परिषद के पुस्तकालयाध्यक्ष बालेश्वरजी अशोकबाबू के साथ सपरिवार रहकर उनकी देखभाल और भोजन आदि की व्यवस्था करते थे। जिसके एवज में वे छह हजार मासिक उन्हें दे दिया करते और रहने का किराया एक पैसा भी नहीं लेते। वहाँ जाने पर कभी-कभी अलका सरावगी से भेंट भी होती। वहीं कभी गंभीर विचारक और लेखक सच्चिदानंद सिन्हा आते, तो अरुण कुमार 'पानीबाबा'। इनमें से कोई गांधीवादी तो कोई लोहियावादी। सबके सब बेहद समर्पित और आचारपरक जीवनशैली के प्रति निष्ठा से भरे हुए। अशोकबाबू की अति असाधारणता ही मुझे उनकी पारिवारिक और बौद्धिक हैसियत को देखते हुए विलक्षण और असाधारण लगती।

परिषद का झूठ और साजिश से भरा माहौल मुझे रास नहीं आया और मैंने अंततः एक दिन अपना त्यागपत्र लिखकर भिजवा दिया। अशोकबाबू को जाकर बताया, तो वे बोले आपको ऐसा करने की क्या जरूरत थी। आपको तो मैंने रहने के लिए ही हमेशा कहा। यह आपने क्या किया। पर मैं तो अपना त्यागपत्र दे चुका था।

मेरी विदाई के दिन वे मेरे द्वारा समस्त कर्मचारियों को दिए गए भोज में भी शामिल हुए और मेरे रवाना होने तक अशोकबाबू बैठे रहे।

भाषा परिषद के कर्मचारियों के समर्थन में उन्होंने जो प्रत्यक्ष संघर्ष किया उससे उनका शोषण कम हुआ। परिषद के कर्मचारियों के हक में उन्होंने वहाँ पर स्वयं जमीन पर बैठकर ध ारना दिया। वे उन लोगों के आत्मविश्वास और उम्मीद की तरह थे जो समाज में न्यायपूर्ण जिंदगी बसर करना चाहते हैं और सुनीतियों और मूल्यों के पक्षधर हैं। उनके हमेशा के लिए चले जाने पर ऐसे लोगों का भरोसा और आत्मबल थोड़ा कम हुआ है। उनकी दुनिया का एक कोना सूना हुआ है।

मद्धिम आँचवाली मुस्कान

निशांत

होली का दिन था, मेरे चाचाजी ने कहा—तुम्हारे लिए एक पोस्टकार्ड आया है। मैं उठाकर लाया। देखकर खुश हुआ। अलका सरावगीजी (दीदी) ने मेरे पत्र का उत्तर दिया था। उसमें यह लिखा था कि नैहाटी कोलकाता से ज्यादा दूरी पर नहीं है। कभी कोलकाता आना हो तो फोन करके आओगे, तो अशोक सेकसरिया के यहाँ हम लोग बैठकर मिलकर बातें कर पाएँगे। अशोक सेकसरिया के नाम से मेरा पहला परिचय था।

पाँच-छह महीने बाद कोलकाता जाना हुआ और मैं ढूँढ-ढाँढ़ कर लार्ड सिन्हा रोडवाले उनके कमरे में पहुँचा। देखा कि एक बूढ़ा आदमी पालथी मारकर अपनी खाट पर बैठा है और अलका सरावगीजी सामने कुर्सी पर बैठकर बातें कर रही हैं। जितना भव्य मकान और उसका लॉन था, वह कमरा उतना ही दीन-हीन। हाँ वहाँ किताबें, अखबारों का ढेर, पत्र-पत्रिकाएँ और सिगरेट के धुएँ की महक बहुत थी।

एक-डेढ़ घंटा मैं वहाँ रहा। दो बार चाय पी। अशोकजी ने ढेर सारे सवाल पूछे। वे बहुत धीरे-धीरे और बहुत ही मुलायम आवाज में बोलते थे। उनके ज्ञान ने मुझे प्रभावित किया था पर साथ ही साथ उनकी हँसी मुझे बहुत अच्छी लगी थी। बिना मिलावटवाली हँसी थी उनके पास। वैसी हँसी फिर कहीं देखी हो, मुझे याद नहीं आता। बाद के दिनों में वो हँसी कम होती गई थी, फिर भी गाहे-बगाहे किसी न किसी बहाने अशोकजी के पास वो आ जाती थी। अधिकतर तब आती थी जब वे किसी के बारे में अच्छी खबर सुनाते थे या किसी की प्रशंसा करते थे। दूसरों के बारे में अच्छी खबर लोग थोड़ी जलनशील हँसी के साथ सुनाते हैं या सुनाते ही नहीं हैं। लेकिन अशोकजी की हँसी जैसे कहती थी कि नहीं! यह मेरी उपलब्धि है। ऐसी मुस्कुराहटवाला एक ही व्यक्ति था मेरे परिचय में, वह भी नहीं रहा।

अशोकजी के देहावसान की खबर मिली तब मैं अपनी भतीजी की शादी के सिलसिले में गाँव (बस्ती,उप्र) गया हुआ था। आना संभव नहीं था लेकिन इस खबर ने मुझे अंदर तक विचलित कर दिया। बहुत दिनों से अशोकजी से मिलना नहीं हो पाया था। लेकिन मन में एक आशा थी कि जब भी जाऊँगा, वे अपने बिस्तर पर लेटे हुए मिलेंगे, आँखें मूँदे हुए। मैं थोड़ी देर तक उनके पायताने बैठा रहूँगा। फिर अचानक वे आँखें खोलेंगे और जल्दी-जल्दी उठकर बैठने की कोशिश करेंगे। चाय के लिए बोलेंगे और बातें शुरू होने लगेंगी। शुरुआती दिनों में जब

मिठाईलाल के नाम से मैं कविताएँ लिखता था, तब एक उत्साह रहता था कि वे पूछेंगे कि क्या लिखा है। मैं तुरंत अपने थैले से कविताएँ निकालकर सुनाऊँगा। बाद में मैं उनसे इधर-उधर की बातें करता। कई बार उनका हाथ पकड़कर एक-दो मिनट चुप हो जाता। मेरे पास अशोकजी का वही स्पर्श है और कुछ नहीं। उन्हें छूकर मैं 'फील' करना चाहता था। इसीलिए छूता था। उनके पास एक शांति थी। मुझे वही खिंचती थी। अभी भी लगता है कि उस घर में जाऊँगा तो वही शांति मिलेगी।

अशोकजी इस पदार्थमय जगत के व्यक्ति नहीं थे, न हो पाए थे। सुकरात ने कहा था—'बाजार में कितनी चीजें हैं। मुझे किसी भी चीज की जरूरत नहीं।' मोबाइल और टेलीफोन जैसी निहायत ही जरूरी वस्तुएँ भी अशोकजी के पास नहीं थीं। बहुत बाद में, जब टेलीफोन के कनेक्शन कटने शुरू हो गए थे। तब अशोकजी के यहाँ टेलीफोन आया था।

अशोकजी को क्रिकेट देखना पसंद था। वे अधिकतर पास की किसी बिल्डिंग में क्रिकेट देखने जाते थे। बाकी दिन हमेशा वो अपने कमरे में बैठे-लेटे या कुछ पढ़ते-लिखते हुए मुझे मिले। जिन दिनों परिषद की पत्रिका 'वागर्थ' का काम देखता था, महीने में एकाध बार जरूर अशोकजी के यहाँ चला जाता था 'वागर्थ' की प्रति देने के बहाने। तब वे मेरा हालचाल पूछने के बहाने परिषद के एक-एक कर्मचारी का हालचाल पूछते थे। 'वागर्थ' में क्या-क्या पढ़ने लायक छपा है, यह जरूर पूछते। अच्छी चीजें पढ़ने की सहज इच्छा उनके अंदर थी। मुझे भी कोई लेख, कहानी या पुस्तकें पढ़ने का सुझाव देते थे। शुरुआती दिनों में 'सामयिक वार्ता' मैं उन्हीं से प्राप्त करता था। कुँवर नारायण और गिरधर राठी का काव्य संग्रह उनके कहने पर पढ़ा था। किशन पटनायक की पुस्तक 'विकल्पहीन नहीं है दुनिया' भी उनके कहने पर पढ़ी। किशनजी से मुलाकात भी वहीं हुई थी। बेबी हालदार से भी वहीं मिला था।

बेबी हालदार की पुस्तक 'आलो आँधारि' उन्होंने मुझे पढ़ने को दी थी। बाद में वह किताब मैंने खरीदी थी।उन दिनों सब समय बेबी हालदार की चर्चा किया करते थे। बाद में सुशीलाजी की पुस्तक उन्होंने सुशीलाजी के पीछे पड़कर लिखवाई। लोगों से लिखवाने का कार्य वे बड़े आराम से ले लेते थे। जरूरत पड़ने पर मदद भी करते थे। मेरे लघु शोध प्रबंध के दिनों में जीवनानंद और बांग्ला कविता के बारे में कई महत्वपूर्ण बातें उन्होंने बताई। अपनी आलमारी खोलकर सामयिक वार्ता का एक अंक दिया था ओर एक लंबी कविता के बारे में बताया था कि यह जीवनानंद की वनलता सेन कविता से प्रभावित है। मैं कभी-कभी आश्चर्यचकित हो जाता था—बांग्ला साहित्य के बारे में इतना विपुल ज्ञान! वे बांग्ला के कुछ लेखकों को व्यक्तिगत रूप से भी जानते थे। एक बार मैंने बुद्धदेव दासगुप्ता की कुछ बांग्ला कविताओं का हिंदी में अनुवाद किया था। उनके सुझाव पर एकाध शब्दों को ठीक कर दिया था। इसके लिए उन्हें धन्यवाद भी लिखा था, जब वे 'पहल' में छपी तब। इसके लिए उन्होंने मुझे डाँटा भी था पर प्रेम से। वे नहीं चाहते थे कि उनका नाम कहीं छपे।

2006 के बाद मैं जएनयू चला गया और उनसे मिलना-जुलना कम होता चला गया। पिछली बार मिला तो इस बार अशोकजी थोड़े बदले-बदले नजर आए। बच्चोंवाला मन और उत्साह तो था लेकिन शरीर बूढ़ा हो गया था। तबीयत भी खराब रहने लगी थी। खाँसी ज्यादा होती थी और सिगरेट को तोड़कर पीते थे। मैंने अपने जीवन में पहले और अंतिम व्यक्ति को देखा है जो सिगरेट तोड़-तोड़कर पीते थे। क्या पैसे की कमी थी? या अपनी सेहत का ख्याल? पहले के दिनों में उन्हें देखकर सोचता था कि एक आदमी बिना नौकरी किए इतने बड़े महानगर में अपना रोटी पानी कैसे चलाता है? बाद में एक अंग्रेजी कहानी पढ़ी, जिसका नायक अपने उत्तराई के दिनों में शहर से दूर एक टापू में जाकर रहता है, शांति से और सुकून से रहने के लिए। क्या गुणेंद्र सिंह कंपानी ने दिल्ली और वहाँ के जीवन को छोड़कर कोलकाता के इस 16, लार्ड सिन्हा रोड को ही अपना टापू बना लिया था? उस कमरे की शांति क्या किसी निर्जन द्वीप की शांति की तरह नहीं थी? वहाँ हवा, चिड़िया, रोशनी और शांति की तलाश में कोई भी आ-जा-सकता था। इतने बड़े संसार और उसकी निरर्थकता पर ही शायद अशोकजी मुस्कुराते थे। वह मद्धिम आँचवाली मुस्कान। आज मुझे वही सबसे ज्यादा याद आती है।

पत्रिका नहीं वैचारिक आंदोलन

सामयिक वार्ता

पढ़ें, पढ़ाएँ, ग्राहक बनाएँ
मित्रों को उपहार दें

देश और दुनिया की घटनाओं व हलचलों को जानने-समझने और विश्लेषण में मददगार एक पत्रिका

दीनबंधु

बालेश्वर राय

(अशोक सेकसरिया के साथ 1981-82 से परिचित और 1988 से उनकी देखभाल के लिए उनके साथ रहनेवाले बालेश्वर राय ने न सिर्फ उनकी दिनचर्या को बल्कि उनके सुख-दुख, उनकी परेशानियों-हैरानियों और उनकी छोटी-बड़ी आदतों को निकट से देखा है। इस 'देखे हुए' को उन्होंने जब लिखना शुरू किया तो लिखते चले गए और अभी तक करीब सवा सौ पन्ने लिख दिए हैं। उनका लिखना अभी जारी है। उसमें से शुरू का एक अंश यहाँ दिया जा रहा है।)

यह 1981-82 की बात है जब अशोक सेकसरियाजी से मेरा परिचय हुआ था। नवंबर 1980 में मैं पहली बार मधुबनी (बिहार) से कोलकाता आया और संयोग से उनके पिता सीताराम सेकसरिया की बनाई संस्था 'भारतीय भाषा परिषद' में नौकरी करने लगा। अशोकजी परिषद के पुस्तकालय में बीच-बीच में आते-जाते रहते। मेरा उनसे परिचय पुस्तकालय में ही हुआ। सीताराम सेकसरिया के बेटे होने के नाते उन्हें भी यहाँ खूब सम्मान मिलता। लेकिन उनका व्यक्तित्व अलग था। उनके सरल मिलनसार स्वभाव के कारण मैं उनसे ज्यादा ही घुलमिल गया था।

एक दिन की बात है,अशोकजी पुस्तकालय में आए हुए थे। काफी परेशान लग रहे थे। मैंने उनसे पूछा,'' आपकी तबीयत ठीक नहीं है क्या?'' वे अजीब भाव बनाते हुए बोले,''नहीं, ठीक है!'' अचानक उन्होंने मुझसे कहा,'' आपसे कुछ बात करनी है।'' पुस्तकालय में अधिक नहीं,दो-तीन लोग ही थे, अत: मैंने कहा, ''कहिए।''

अप्रत्याशित रूप से वे पूछने लगे,''आप रहते कहाँ हैं?''

मैंने कहा, ''भाषा परिषद में ही छत पर रहने का कमरा मिला हुआ है।''

'' क्या वेतन है?''

''पौने तीन सौ रुपए।''

''आपके साथ कौन-कौन रहते हैं?''

''अकेला रहता हूँ।''

''खाने पर कितना खर्च आ जाता है?''

''करीब डेढ़ सौ रुपए।''

''इतने में किस तरह चला लेते हो?''

''किसी तरह चलाना ही पड़ता है।''

''आप लोग रुपया बढ़ाने के लिए कहते क्यों नहीं?''

''आपको शायद मालूम नहीं है, ये रुपए भी जो मिल रहे हैं, उसके लिए एक साल तक आंदोलन हुआ है।'' यह सुनते ही संस्थान के पदाधिकारियों के प्रति वे असंतुष्ट दिखाई देने लगे।

''शादी हो गई है?''

''जी हाँ।''

''बच्चे भी हैं?''

''जी नहीं।''

''घर में और कौन-कौन हैं?''

''माता-पिता। मुझसे बड़ा और एक छोटा भाई, पर आप मुझसे क्या बात करना चाहते हैं?''

उनका जवाब था, ''कल बात करेंगे।''

उस दिन वे चले गए। मैं मन ही मन सोचने लगा, आखिर इतने बड़े आदमी, अशोकजी मुझसे क्या बात करना चाहते हैं, क्या जानना चाहते हैं?, 'इतने बड़े आदमी' से मेरा मतलब था उनका सीताराम सेकसरियाजी का बेटा होना, भारतीय भाषा परिषद संस्थापक के परिवार का सदस्य होना। उसी रिश्ते के कारण हम सब कर्मचारी अशोक सेकसरियाजी को भी काफी सम्मान की दृष्टि से देखते थे। वे जो बात मुझसे कहना चाहते थे, शायद संकोच के कारण नहीं कह पाए। अगले दिन भी पुस्तकालय आए। उनको देखने से लग रहा था, न तो नहाए हैं और न ही खाना खाए हैं। वही कुर्ता-पायजामा, मानो सप्ताह भर से वह एक ही जोड़ा पहन रहे हों। एक बार उनके बारे में सोचने लगा—इतने बड़े बाप के बेटे हैं और इस तरह से रहते हैं। यह संभव नहीं है, जरूर गरीब दिखने का नाटक करते हैं। अत: मैंने ही पहल करते हुए कहा, ''कल कुछ बात करना चाहते थे, बताइए।''

उन्होंने पूछा,''खाना कैसे बनाते हैं?''

''केरोसिन तेलवाले स्टोव पर।''

''कितना लीटर लगता है?''

''महीने में दस-पंद्रह लीटर।''

''कितने रुपए लगते हैं?''

''करीब चालीस रुपए।''

उन्होंने फिर कहा,'' कल आऊँगा तो बताऊँगा।'' एक हाथ से पायजामा और दूसरे हाथ से कुछ पत्रिकाएँ पकड़े चले गए।

उनके चले जाने के बाद, मैंने अपने सहकर्मी बजरंग बहादुर श्रीवास्तव (जो उन दिनों भारतीय भाषा परिषद पुस्तकालय के अध्यक्ष हुआ करते थे)से अशोकजी के बारे में विस्तार से जानना चाहा। उन्हीं से पता चला कि अशोकजी ने शादी नहीं की है। उनके छोटे भाई, दिलीप सेकसरिया की शादी हुई है, जिनके दो बेटे हैं—गौरव और सौरभ सेकसरिया। अशोकजी के बारे में उन्होंने विस्तार से बताया, ''वह पहले दिल्ली में नौकरी करते थे, आजकल कलकत्ते में ही रविवार पत्रिका में नौकरी करते हैं। बहुत भले आदमी हैं।'' मैंने पूछा, ''वे इस तरह क्यों रहते हैं?'' श्रीवास्तवजी का कहना था कि उन्होंने जब भी अशोकजी को देखा है उसी वेश-भूषा में देखा है, किसी भी तरह का बदलाव नहीं, हमेशा खादी के पायजामा और कुर्ता में ही। अशोकजी के जीवन में एकरूपता है। गरीबों के मददगार हैं। जो भी आदमी उनसे अपनी असुविधा और मुश्किलों के बारे में बताता है,सुनकर वे अपने को रोक नहीं पाते हैं और खुद परेशानी में पड़कर भी दूसरों की परेशानी को दूर करने की प्राणपण कोशिश करते हैं। उनके बारे में अब मेरी जिज्ञासा और बढ़ गई और मैंने मन ही मन संकल्प किया कि आएँगे तो जरूर यह जानकर रहेंगे कि कल वे मुझे क्या बताना चाहते थे।

पुस्तकालय में आते ही मैं उनके सामने बैठ गया। अभी वे पत्रिकाएँ पलटने में लगते कि उससे पहले मैं उनसे पूछ बैठा,''आज आपको बताना ही होगा कि आप क्या बात करना चाहते हैं।'' मेरा उतावलापन देख वे हँसे और तुरंत ही कहा कि वे अकेले रहते हैं इसलिए वे चाहते हैं कि मैं उनके साथ रहूँ और खाना-पीना करूँ। क्या मुझे मंजूर है? मैंने कहा,'' मैं कुछ समझा नहीं। आप आखिर क्या कहना चाहते हैं?'' उन्होंने तुरंत ही कहा,''आज नहीं, कल बात करेंगे, अभी छोड़िए।'' वे चले गए और मैं बैठे-बैठे यही सोचता रहा कि आखिर वे कहना क्या चाहते थे। सारा दिन सोचने में बीत गया। कभी-कभी मुझे लग रहा था कि वे मेरे बारे में तो नहीं कहना चाहते थे कि मैं उनके साथ खाना बनाऊँ और खाऊँ। फिर सोचने लगा—क्या यह संभव है! मुझे क्यों कहेंगे? क्या मैं भाग्य का इतना तेज हूँ कि अशोकजी के साथ खाना खाने को मिलेगा? मुझे मेरी माँ की बात याद हो आई, वह हमेशा कहती थी,''जो बहुत भाग्यवाले होते हैं, उसी का फकीर से मेल-जोल होता है।'' मैं उनके साथ खाना खाने की बात सोच रहा हूँ, यह मूर्खता नहीं तो और क्या है! अगर ऐसा होता है, तो निश्चय ही मेरा आगे कुछ अच्छा होनेवाला है! थोड़ी देर तक मुझे ऐसा लगता रहा जैसे कि मैं कोई स्वप्न देख रहा हूँ! किसी तरह रात बीती, सुबह हुई, कुछ भी करते अच्छा नहीं लग रहा था। उनकी बात बार-बार सामने आ जाती। मैं स्वयं को कोसने लगा कि मैंने उनसे क्यों नहीं पूछ लिया वे क्या कहना चाहते थे।

दूसरे दिन अशोकजी पुस्तकालय खुलने से पहले ही पहुँच गए। उस दिन वे ज्यादा ही उदास दिख रहे थे। लग रहा था कि दो-चार दिनों से ठीक से सोए नहीं और न ठीक से खाना ही खाए हैं। मैं उनके पास बैठ गया और पूछने लगा, ''कल आप क्या कहना चाहते थे, मुझे साफ-साफ बताइए। मैं रात भर परेशान रहा।'' वे उस दिन भी टाल देना चाहते थे, लेकिन मैं जिद करके बैठा था कि बिना कहलवाए छोड़ूँगा नहीं। अशोकजी कहने लगे—उनका घर बगल में ही है, यदि मैं उनके साथ खाना खाऊँ, तो ठीक रहेगा। मुझे ऐसा लगा मानो मैं सचमुच में स्वप्न देख रहा हूँ। अचानक खयाल आया—अरे, मैं तो हकीकत में उनसे बात कर रहा हूँ! मैं मन ही मन बहुत खुश हो रहा था कि शायद मेरी चाह पूरी हो जाए। वे कहने लगे, दोनों आदमी मिलकर खाना बनाएँगे, जो खाने में खर्च होगा, उसे वे दे देंगे। मुझे लगने लगा कि मेरे भाग्य का उदय हो रहा है। मैंने खुशी-खुशी तुरंत ही अशोकजी से कहा,''आपके साथ मैं खाना खाऊँ, इससे बढ़कर सौभाग्य की बात मेरे लिए और क्या हो सकती है!'' तब उन्होंने कहा,'' एक दिन मेरे यहाँ आ जाइए, सब देख लीजिए।'' मुझे आज भी वह दिन और तिथि याद है—अगस्त महीने की 26 तारीख, दिन शुक्रवार। एक सितंबर 1988 से साथ खाने-पीने की बात तय हुई।

चार दिनों तक इस खुशी को मैं किस तरह बाँधे रखा, बता नहीं सकता। मेरे लिए खुशी की बात होती भी कैसे नहीं! मुझे पहला लाभ यह हो रहा था कि अब खाने के लिए पैसा नहीं लगेगा, दूसरा लाभ—उन्होंने कहा था कि कुछ पॉकेट खर्च भी दे दिया करेंगे। इन सबसे बड़ी बात यह थी कि जिस फकीर के बारे में इतना सुना था और सोचा था वह वास्तव में फकीर है या नहीं, इसकी पोल खोलने के लिए, जानने का अवसर मुझे मिलनेवाला था।

महीना लगने में दो रोज बाकी थे कि अशोकजी के 16,लार्ड सिन्हा स्थित घर में गया। गेट पर बृहस्पति नामक दरबान ने बताया, ''दो तल्ले में हैं, चले जाइए।'' मैं वहाँ पहुँचा तो वे सो रहे थे। मुझे देखते ही फौरन उठ बैठे, तीन बाई छह फुट के पलंग को अपने हाथों साफ कर मुझे उस पर बैठने के लिए कहा। मैं उनके पलंग पर बैठने में संकोच बोध कर रहा था, मगर उन्होंने जबरदस्ती मेरा हाथ पकड़ मुझे पलंग पर बिठा दिया। थोड़ी देर बैठने के बाद मुझसे कहने लगे,''वहाँ चलिए, जहाँ मैं परसों से घर बसाना चाहता हूँ।'' पहले तल्ले में उनके लिए सफाई करवा दी गई थी। चूल्हा-चौकी सब कुछ मौजूद था। उन्होंने मुझसे कहा, ''और जो कुछ लगेगा, धीरे-धीरे से लिया जाएगा।'' मैंने सब कुछ देख लिया, जो-जो सामान घर बसाने के लिए लगता है, वह सब था। मैंने कहा,''ठीक है, सब कुछ देख लिया है। परसों आऊँगा, तो खाना बनाने के लिए जो कुछ लगेगा ले आऊँगा। अभी मैं जा रहा हूँ।'' अशोकजी मुझसे कहने लगे ,''मैं तो घर में चाय भी नहीं पिला सकता हूँ। चलिए, बाहर चाय पीते हैं।'' मेरे विरोध करने और बार-बार मना करने पर भी वे नहीं माने और उनके साथ मुझे चाय की दुकान पर आना ही पड़ा। सबसे पहले उन्होंने एक केक

लिया और जिद करके मुझे खिलाने लगे। चलते समय उन्होंने तीन सौ रुपए सामान के लिए दिए और कहा,'' परसों आप यहाँ आ जाइए।'' मैं वहाँ से सीधे भारतीय भाषा परिषद आ गया। लार्ड सिन्हा रोड से लौटने के बाद रूम में चुपचाप लेट गया। बार-बार अशोकजी के बारे में सोचने लगा। उनका व्यक्तित्व मेरे मन-मस्तिष्क पर हावी होने लगा था। वास्तव में पुस्तकालयाध्यक्ष श्रीवास्तवजी उस दिन उनके बारे में ठीक ही बता रहे थे। जिस तरह से वे इतने बड़े घर में रहते थे, उसमें इस तरह से कोई असली फकीर ही रह सकता है। ड्यूटी से छूटा, तो बाजार गया। लार्ड सिन्हा रोडवाले नए आशियाने के लिए जो-जो सामान लेना था, ले लिया। दूसरे दिन सुबह-सुबह सीधे अशोकजी के यहाँ आ धमका। उस फ्लैट की चाभी मुझे पहले ही दिन दरबान ने दी थी। ऊपर गया, उनसे मिला और उन्हीं के साथ नीचे आया। थोड़ी ही देर में उनका पलंग नीचे पहले तल्ले में आ गया, साथ में उनकी बिखरी किताब-कॉपी भी!

उस नई गृहस्थी की शुरुआत तीन कप चाय से हुई। एक कप अशोकजी को दिया, एक कप दरबान को और एक कप स्वयं पीने लगा। उनसे पूछा क्या बनाऊँ? उनका जवाब था, ''जो आपको अच्छा लगे।'' मैंने कहा, ''आप भी तो कुछ बताइए?'' उन्होंने कहा, ''जो बनेगा खाऊँगा।'' नाश्ते में हलवा बनाया, दोपहर के लिए भात-दाल और एक सब्जी। उन्हें नाश्ता करवाकर खुद खाना खाया और उनको कहा ''मैं दफ्तर जा रहा हूँ, आप खाना निकालकर खा लीजिएगा।'' उन्होंने कहा, ''ठीक है, आप जल्दी जाओ!'' दफ्तर से सात बजे लार्ड सिन्हा रोड वापस आ गया। रात में क्या खाना बनेगा उनसे पूछने गया, तो उन्होंने फिर कहा,'' जो बनेगा खा लूँगा।'' रात में रोटी-सब्जी और सलाद बनाकर उनको खिलाया। रोटी गरम-गरम खा रहे थे। उनको गरम रोटी खाते अच्छा लगा। उन्होंने मेरे पूछने से पहले ही कहा,'' बहुत अच्छा बना है।'' मैंने उनसे कहा,''मैंने बनाया ही क्या है?'' रात के दस बज रहे होंगे। मैंने कहा,''परिषद सोने जा रहा हूँ। सुबह जल्दी आ जाऊँगा।''

सुबह सात बजे लार्ड सिन्हा रोड पहुँच गया। अशोकजी को देखा, वे अखबार पढ़ रहे थे और मेरा इंतजार कर रहे थे। दो कप चाय बनाई, एक कप उनको दिया और एक कम चाय लेकर उन्हीं के पास बैठकर पीने लगा। चाय पीकर मैं नाश्ते के प्रबंध में जुट गया। पूछने पर एक ही जवाब मिलता, ''जो बनेगा खा लूँगा।'' इसलिए उनसे न पूछकर बाहर गया और पास की दुकान से ही ब्रेड और मक्खन ले आया। ब्रेड में मक्खन लगाकर उनको नाश्ते में दे दिया। थोड़ी देर में फिर एक कप चाय बनाकर उनके सामने रख दिया। बहुत खुश हुए। मैं खाना बनाने की तैयारी करने लगा,क्योंकि मुझे साढ़े दस बजे दफ्तर पहुँचना होता था, सो बिना विश्राम किए खाना बनाया, खाया और दफ्तर चला गया। शाम को लौटा, तो अशोकजी ने पहले मुझे अपने पास बुलाया। पूछा, ''दोपहर में आपने क्या खाना खाया है?'' मैंने कहा,'' भरपेट भात-दाल खाकर गया था, भूख नहीं थी!'' उन्होंने तुरंत कहा, '' नहीं कल से आप दोपहर के लिए दो-चार रोटियाँ बनाकर ले जाइएगा।'' मैंने कहा, ''ठीक है।'' दूसरी बात उन्होंने कही, ''आप ड्यूटी के समय यहाँ नहीं रहिएगा, क्योंकि कल आपके पदाधिकारी कहेंगे कि आप मेरे यहाँ रहते हैं और इसी का लाभ उठा रहे हैं। इस बात का विशेष ध्यान रखिएगा।'' मैंने कहा,'' ठीक है, मैं सही समय पर अपनी ड्यूटी पर पहुँच जाया करूँगा।'' इस तरह से मेरी दिनचर्या चलने लगी। अशोकजी को किसी तरह पता चल गया कि मैं दोपहर के लिए रोटी नहीं ले जा रहा हूँ। उन्होंने एक उपाय खोज निकाला। उन्होंने कहा, ''मेरे लिए भी दो रोटी बनाकर रख जाइएगा।'' बाध्य होकर मुझे अपने लिए दोपहर का खाना ले जाना पड़ता। उनके लिए दो रोटी बनाकर रख देता। शाम को देखता अशोकजी रोटी नहीं खाते हैं, वैसी की वैसी ही पड़ी रहती है। पूछने पर जरूर कोई बहाना बना देते।

अशोकजी से मिलनेवाले लोगों की संख्या ज्यादा ही थी। दिन में जो लोग आते उनको वे खुद चाय बनाकर पिलाते थे। कई-कई बार उनको चाय बनानी पड़ती थी, क्योंकि शाम को घर लौटने पर पाता कि कप-गिलास सब बेसिन में पड़े हुए हैं। मुझे पता चल जाता काफी लोग आए हैं। उनके परिचितों में, कुछ लोगों से मेरा भी परिचय बढ़ने लगा था। बाहर का कोई मेहमान आने को होता, तो वे एक-दो हफ्ता पहले से ही मुझको कहना शुरू कर देते,''आपकी परेशानी बढ़ जाएगी।'' किसी दिन कहते,'' आपकी परेशानी बढ़नेवाली है।'' मैं उस पर कहता,'' आप चिंता क्यों करते हैं, सब ठीक हो जाएगा! कुछ परेशानी नहीं होगी!'' अशोकजी की यह आदत सी थी कि एक ही बात को वे कई-कई बार कहते। एक दिन किशन पटनायक आनेवाले थे। उनकी गाड़ी सुबह छह बजे हावड़ा पहुँचनेवाली थी। अशोकजी रात भर सोए नहीं, क्योंकि सुबह छह बजे से पहले ही हावड़ा पहुँचना था। अन्य अतिथियों के आगमन के समय भी यही बात होती थी।

मेहमान जब तक अशोकजी के साथ ठहरे रहते तब तक उनकी घबराहट देखने लायक होती। मुझसे उनकी घबराहट देखकर रहा नहीं जाता था। मैं पूछता,''आप इस तरह क्यों घबरा रहे हैं? आधे-एक घंटे पर ही वे मेहमान से जरूर कहते, ''चाय पी लीजिए।'' मेहमान से मिलने या उनसे मिलने जो भी आते उतनी बार वे खुद भी चाय पीते। इस तरह धड़ल्ले से चाय और साथ में सिगरेट पीते देख मुझे लगता अशोकजी ज्यादा दिन नहीं बचेंगे। जब मैं उनके यहाँ आया था तब उनकी उम्र 54 वर्ष की थी।

मुझे उनके यहाँ आए हुए एक महीना हुआ होगा कि उनकी तबीयत खराब हो गई। रात में खाना खिलाकर जाने की सोच रहा था कि मन में द्वंद्व होने लगा, उनको बुखार है; उन्हें इस अवस्था में छोड़कर कैसे जाऊँ! काफी खाँसी भी हो रही थी। मैं

रात में उनके पास ठहर जाना चाहता था, पर कहने में संकोच भी हो रहा था। उनके लगातार खाँसने की आवाज सुनकर उनके छोटे भाई दिलीप सेकसरिया उनके पास आए। उन्होंने मुझसे कहा,''तुम यहीं रह जाया करो, सुबह-सुबह आना पड़ता है।'' मैंने कहा,''ठीक है।'' अशोकजी के पलंग के पास ही नीचे में एक मैट्रेस हमेशा बिछा रहता था। जब मेहमान उनके यहाँ आते, तो वे खुद मैट्रेस पर सोते। बीमार अशोकजी जिद कर रहे थे कि मैं पलंग पर सोऊँ और वे नीचे। मैंने कहा, '' यह संभव नहीं है। मैं परिषद सोने चला जाऊँगा। मैं पलंग पर सोऊँ और आप नीचे, ऐसा नहीं होगा।'' उन्होंने अपने आप में बुदबुदाते हुए कहा,''मेरे यहाँ ऐसा कभी नहीं हुआ है।'' मैंने उन्हें समझाते हुए कहा, '' ठीक है, मैं तो कोई मेहमान नहीं हूँ। मैं तो घर का आदमी हूँ।'' इतनी बात मुँह से निकलते ही उन्होंने अलमारी से चादर निकाल लेने को कहा। अपने सोने के लिए बिस्तर तैयार कर लेने के बाद मैं उनके पलंग के किनारे बैठ गया और पूछने लगा, '' सिर दर्द कर रहा है?'' उन्होंने अनमने ढंग से जवाब दिया, ''थोड़ा-थोड़ा।'' मैं उनका सिर दबाने लगा। तुरंत कहने लगे, ''छोड़ दीजिए!'' मैंने सर दबाते-दबाते ही कहा,''आप चुपचाप सोने की कोशिश कीजिए, सब ठीक हो जाएगा। मेहमान आने पर आप जिस तरह से करते रहते हैं और घबराते हैं, इस तरह करने से कोई भी बीमार पड़ जाएगा।'' आज पहली रात मैं उनके यहाँ रुका था, इसलिए ज्यादा समझाना उचित नहीं लगा। उनके पारिवारिक डॉक्टर, संपत जैन आए थे। उनका प्रेशर आदि चेक कर कुछ दवाइयाँ लिखीं तथा दो-तीन दिन में स्वस्थ हो जाएँगे कहकर चले गए। मैंने अशोकजी से आग्रह किया कि मैं ऑफिस से दो रोज की छुट्टी ले लेता हूँ। उन्होंने इनकार करते हुए कहा, ''एकदम नहीं! आप दफ्तर जाइए।'' जैसे ही मैं उनके निकट आता कि वे आवाज लगाते,''बालेश्वरजी आप दफ्तर जाइएगा। छुट्टी लेने की कोई आवश्यकता नहीं है।'' वे इस तरह से व्यक्त करने लगे, मानो मैं छुट्टी लेकर उनके पास रह गया, तो उनकी तबीयत और खराब हो जाएगी। तब मैंने उनसे अनुरोध के स्वर में कहा,''ठीक है, मैं ऑफिस चला जाता हूँ, पर आप शांतिपूर्वक आराम करेंगे।'' उस दिन घर आया, तो देखा प्रयाग शुक्लजी की चिट्ठी आई थी कि वे कोलकाता आ रहे हैं और उनके साथ ही तीन रोज ठहरेंगे। प्रयागजी, राजकिशोरजी, गिरधर राठीजी, प्रबोध श्रीवास्तवजी जैसे लोग आते थे तो उन्हें घबराहट नहीं होती वरन उनको अच्छा लगता,क्योंकि उन लोगों के साथ उनकी सारी-सारी रात बातें होती रहती, लेकिन एक असुविधा रहती, सोने की, क्योंकि एक ही पलंग उनके घर होता। मेहमान जब चले जाते तब मुझसे कहते, ''पीठ अकड़ गई है। नीचे सोने की आदत भी डालनी चाहिए।''

एक बार जुगलदा के परिचित पपाई नाम का एक लड़का उनके यहाँ आया था। उसकी उम्र अठारह वर्ष की रही होगी। रात में जब सोने की बारी आई,तो अशोकजी लड़के से कह रहे थे कि वह ऊपर पलंग पर सो जाए परंतु वह लड़का नीचे ही सो जाना चाहता था। इस हाँ-ना में जोर-जोर से आवाज होने लगी। चूँकि मुझे यहाँ रहते कुछेक वर्ष हो गए थे और मैं भी खुद को उनके घर का सदस्य मानने लगा था; मैंने गुस्से से अशोकजी से कहा,''आप अपने आपको ही संवेदनशील समझते हैं।'' मेरी बात सुनकर वे तुरंत ही अपने पलंग पर सोने चले गए। पलंग पर कौन सोएगा, इस बात को किसी न किसी से तकरार होती थी। मैं अपने सोने के लिए मल्लिक बाजार से रुई का बना गद्दा ले आया था। मेरे सोने की जगह हमेशा सुरक्षित रहती, पर अशोकजी को सोने के लिए हमेशा ऊपर-नीचे करना पड़ता था। एक बार मेरे मन में हुआ कि एक और पलंग की व्यवस्था कर दूँ। पर समस्या यह थी कि एक और पलंग की व्यवस्था कर देने पर भी अशोकजी के सोने की समस्या वही बनी रहती, क्योंकि मेहमानों की संख्या हमेशा ही एक से ज्यादा हुआ करती थी। उस स्थिति में उनके सोने की समस्या हल नहीं होती। कुछेक मेहमान ऐसे होते, जो एक-आध महीने तक रह जाते। मेरे परिवार में अतिथि को ज्यादा से ज्यादा एक सप्ताह तक ही अतिथि माना जाता है, परंतु अशोकजी के साथ ऐसी बात नहीं थी। यहाँ आतिथ्य की कोई सीमा नहीं थी। यहाँ जो भी ठहरते, सुबह उठते ही अशोकजी उनसे पूछते, ''रात में अच्छी नींद आई?'' मेरे आ जाने से उनके मेहमानों की संख्या बढ़ती ही चली गई, लेकिन अशोकजी को हर वक्त इस बात का अहसास भी रहता कि मेरी परेशानी बढ़ रही है। सबसे ज्यादा परेशानी तब होती थी, जब मैं दफ्तर से आता तो बेसिन बर्तनों से भरा मिलता। कुछ बर्तन वे धोकर रख देते थे; ताकि मुझे कम परेशानी हो, लेकिन उनके धोए बर्तन को धोने में मुझे और ज्यादा परेशानी होती।

अशोकजी के साथ रहते-रहते मेरे अंदर का क्रोध मानो कम होता जा रहा था। मैं जब भी उनके बारे में सोचता, तो लगता मानो वह व्यक्ति दूसरों की भलाई के लिए ही संसर में पैदा हुआ है। मैंने एक दिन उनसे यह पूछ ही लिया,''अच्छा यह बताइए कि आपके घर में कोई चीज की कमी नहीं है। पाँच-छह नौकर-दाई, ड्राइवर, माली, दो-दो दरबान। फिर भी आप इन लोगों से अलग क्यों रहते हैं? नीचे में चार-चार सब्जियाँ बनती हैं, यहाँ तो एक या कभी दो, इससे ज्यादा बनती नहीं। खाना आप नीचे से भी मँगा सकते हैं।'' मेरी बातें उन्होंने खूब ध्यान से सुनी और कहने लगे कि उनसे जो लोग मिलनेवाले होते हैं, वे नीचेवाले कमरे में रह रहे उनके भाइयों की तरह नहीं हैं अर्थात पैसेवाले नहीं हैं। उनकी क्लास भी दूसरी है। इस स्थिति में उन्होंने फैसला किया है कि वे अपने भाई से अलग रहेंगे और उनके यहाँ जो भी लोग आएँगे, जितना उनसे बन सकेगा, उनके लिए वे जरूर करेंगे।

शुरू के दिनों में एक बार एक अजीब घटना हुई। मैं भीतर ही भीतर डर गया था और सोच रहा था यहाँ रहूँ या नहीं। कभी-कभी रात में रोटी बच जाया करती थी पर इसके

दूसरे दिन सुबह उठता, तो देखता, जहाँ मैंने रोटी रखी थी वहाँ नहीं है। मैं पूरा रसोईघर तलाश लेता। कहीं भी रोटी नहीं मिलती। मैं सोचता शायद चूहा ले गया हो। ऐसा सोचकर चुप रहता।अब जब कभी रोटी बचती, तो सुरक्षित यानी जिस पर रोटी बनती थी उससे ढक कर रख देता और ऊपर से सिलबट रख देता। उसके बाद भी सुबह देखूँ तो रोटी गायब रहती। मैं भीतर से डरने लगा था। अशोकजी को बताने का साहस नहीं होता कि कहूँ उनके घर में भूत वास करता है। भवानीपुर के जग्गू बाजार से एक स्टील का डब्बा रोटी रखने के लिए ले आया। अशोकजी ने कहा, ''कोई आनेवाले हैं। दो रोटी ज्यादा ही बना लीजिएगा, वह आएगा पक्का नहीं है।'' उस दिन छह-सात रोटियाँ बच गईं। डब्बे में रोटियाँ रख दीं। सुबह उठा तो देखा दो रोटियाँ कम हैं। मुझे उस दिन विश्वास हो गया कि जरूर इस घर में भूत का वास है। रात में खाना खाने के बाद मैंने उनसे कहा, ''मुझे यहाँ रहते डर लगने लगा है।'' उन्होंने पूछा, ''किसका डर ?'' आपके घर में अजीब घटना घट रही है। इतने दिनों तक आपसे कहा नहीं, लेकिन आज कहना ही पड़ेगा। जब कभी रात में रोटी बच जाती है, तो मैं सुबह के लिए रख देता हूँ और जब सुबह उठता हूँ तो देखता हूँ कि रोटी गायब रहती है। पहले सोचता था चूहा ले जाता है। उसके बाद स्टील का डब्बा भी ले आया और उसमें रोटी रखने के बाद भी रोटी गायब हो जा रही है।'' मेरी बात पहले उन्होंने बहुत ध्यान से सुनी, उसके बाद खूब हँसे। फिर मुझसे कहे, ''रात में रोटी मैं खा जाता हूँ।'' रात में नींद की दवा लेने के बाद भी उन्हें नींद नहीं आती थी। उस स्थिति में रात भर वे पढ़ने-लिखने का काम करते रहते थे। भूख लगती तो चाय के साथ रोटी खा लेते। उनकी बात सुनकर मेरे भीतर का डर समाप्त हुआ था।

अशोकांत

अशोक वाजपेयी

अशोक सेकसरिया का अकस्मात देहावसान स्तब्धकारी है; उनके गिरने और पैर की सर्जरी जरूरी होने की खबर थी और यह भी कि वे जल्दी ही ठीक हो जाएँगे। उनकी मृत्यु दिल के दो दौरे एक के बाद एक पड़ने से होगी यह किसी ने नहीं सोचा था, शायद स्वयं उन्होंने भी नहीं। उन्हें व्यापक हिंदी साहित्य-समाज न भी जानता रहा हो, उसके कई महत्त्वपूर्ण लेखकों के वे बहुत आत्मीय मित्र रहे। कलकत्ते में उनका घर सचमुच एक तरह का तीर्थ था और जो भी बड़े-छोटे लेखक वहाँ जाते, उनसे मिलने जरूर पहुँचते। एक कमरे में अपना भौतिक जीवन सीमित कर वे दीन-दुनिया की पूरी खबर रखते थे। उनकी शख्सियत में अपार अनुराग, सच्ची-खरी बौद्धिकता और गहरी असहमति सब एक साथ थे। वे न तो किसी से आतंकित होते थे और न ही स्वयं किसी को आतंकित करते थे। अलबत्ता वे स्वयं अभिभूत होते थे और औरों को अभिभूत करने की उनमें सहज क्षमता थी।

अशोक से मेरी पहली भेंट दिल्ली में हुई थी, जब 1960 में पढ़ने सेंट स्टीवेंस कॉलेज में आया था। तब कनॉट प्लेस में प्राय: हर शाम जो मित्रमंडली जुड़ती थी, जिसमें श्रीकांत वर्मा, कमलेश,महेंद्र भल्ला, रमेश गोस्वामी बाद में प्रयाग शुक्ल आदि थे अशोक के अलावा। मैं भी उसमें शामिल हो गया था। कॉलेज के आतंककारी अंगरेजी माहौल से हिंदी की इस आत्मीय दुनिया में आकर अपनापा लगता था और राहत भी मिलती थी। यों तो सभी नई पुस्तकें और विशेषकर नए विदेशी लेखकों को पढ़ने में गहरी दिलचस्पी रखते थे, अशोक की इस सबमें दिलचस्पी गहरी थी। वीएस नायपाल, सेजारे पावेज आदि अनेक गद्यकारों से हमारा पहला परिचय अशोक ने ही कराया था। उस समय इन लेखकों के नाम तब कोई सेंट स्टीवेंस में नहीं जानता था।

अशोक ने हिंदी पत्रकारिता में खेल पर अथक उत्साह और गहरी समझ के साथ लिखने की शुरुआत की थी। वे अक्सर अखबार में रात देर की ड्यूटी लेते थे। दो-तीन छद्म नामों से उन्होंने कई अनूठी कहानियाँ भी लिखीं। पर अपने पहरावे से लेकर अपने लेखन तक उनमें बेपरवाही थी। हमारी मंडली में वे आत्मविलय के बिरले व्यक्तित्व थे। अपने को कष्ट में डालकर भी दूसरों की मदद करना उनका निजी अध्यात्म बन गया, जिसे वे जिंदगी भर निभाते रहे। जो उनके निकट पहुँचता वह उनके परिवार का सदस्य बन जाता था। उसके बारे में उनकी उत्सुकता और चिंता दोनों ही पारिवारिक किस्म की हो जाती थीं। अशोक ने शायद कभी किसी पर अपना रत्ती भर बोझ नहीं डाला, भले कइयों का बेवजह बोझ वे बखुशी उठाते रहे।

समाज,भाषा,साहित्य, राजनीति, खेल आदि उनके सरोकारों में शामिल थे और इनमें से हरेक की उनकी समझ और व्याख्या अनूठी होती थी। कई पीढ़ियों के लोगों को उनकी इस बौद्धिक प्रखरता और आत्मीयता ने स्वयं अपना समय और सच समझने में मदद की। अब हम इस दुखद अचरज में घिरे हैं कि हमारे बीच ऐसा व्यक्ति भी था, जो इतना निर्मल-सजल वीतराग था, जबकि हमारे समय में ऐसी सहज, पर बौद्धिक रूप से सघन-समृद्ध संतई लगभग असंभव, अकल्पनीय हो गई है।

साभार : जनसत्ता, 7 दिसंबर 2014

प्रिय अशोकजी

स्मिता

अशोकजी नहीं रहे। उनके देहांत ने हम सबको स्तब्ध और शोकाकुल कर दिया है। मेरा उनसे परिचय अनेक सालों से था। ऐसा याद पड़ता है कि 1983 में समता संगठन में शामिल होने के बाद से ही हमारा संपर्क बना रहा। इन पिछले तीस सालों में अलग-अलग विषयों पर मेरी अशोकजी के साथ लगातार पत्राचार और बातचीत चलती रही। भाषा, उपन्यास, राजनीति और कई बार मेरे जीवन के व्यक्तिगत सवाल और समस्याएँ को लेकर मैं उनसे चर्चा करती। मैंने उन्हें जो पहला पत्र लिखा वो अंग्रेजी में था और उनके लिए मैंने 'प्रिय अशोकजी' का संबोधन इस्तेमाल किया था। मेरे इस पत्र से सुनील को दो आपत्तियाँ थीं। एक तो यह कि मैं अशोकजी को अंग्रेजी में क्यों पत्र लिख रहीं हूँ और दूसरा कि मुझे 'प्रिय अशोकजी' की जगह 'आदरणीय अशोकजी' संबोधन का प्रयोग करना चाहिए। मैंने सुनील को जवाब देते हुए कहा कि अशोकजी यह पसंद करेंगे कि मैं उन्हें खराब हिंदी में पत्र लिखने के बजाय अच्छी अंग्रेजी में पत्र लिखूँ और अंग्रेजी में पत्र लिखते समय अंग्रेजी भाषा के हिसाब से 'आदरणीय' सही संबोधन सूचक शब्द नहीं है। और इसके बाद मेरे सारे पत्राचार उनसे अंग्रेजी में ही हुए। अशोकजी को खराब भाषा और भाषा की गलतियाँ काफी कष्ट देती थी। भाषा के प्रति उनका प्रेम, कटिबद्धता और समर्पण और भी कई वाकयों में याद आता है। मेरी मातृभाषा बंगाली है। अशोकजी अक्सर इस बात पर आश्चर्य करते कि मेरी मातृभाषा बंगाली होने के बावजूद मैंने कभी उस पर अपनी पकड़ सुधारने के गंभीर प्रयास नहीं किये। उनकी राय में प्रवासी बंगालियों के बीच में अपनी मातृभाषा का प्रयोग करनेवालों का सबसे खराब उदाहरण मैं प्रस्तुत करती थी। उनके पत्र और बाद के दिनों में उनके फोन मेरे लिए ज्ञानवर्धक तो होते ही थे साथ ही मन को शांति पहुँचानेवाले भी होते थे।

असल रूप में उनके भाषा और संपादन के प्रति निष्ठा, समर्पण और विद्वता को ठीक से समझने का मौका मुझे मिला उनके केसला प्रवास के दौरान। किशनजी के गुजर जाने के बाद किशनजी के लेखों के संपादन और उसे संकलित कर किताबों का रूप देने के उद्देश्य से वे हमारे घर आकर दो महीने रहे। हमारा घर काफी छोटा था और अशोकजी ने अपने लिए हमारे किचन का एक कोना चुना अपनी खाट, किताबें और कागज जमाने के लिए। हमारे बहुत विरोध के बाद भी उन्होंने अपनी जगह नहीं बदली। आज मुझे इस बात का अफसोस होता है कि हम लोग फोटो लेनेवाले लोगों में से नहीं थे, नहीं तो अशोकजी और उन क्षणों को हमेशा के लिए कैमरा की तस्वीरों में कैद कर लेते। जिसमें एक कोने में अशोकजी हमारे गाँव के घर में खाट पर काम में तल्लीन हैं अपनी किताबों, पत्रिकाओं, कागजों के साथ और दूसरे कोने पर लकड़ी का चूल्हा जल रहा है धुआं छोड़ते हुए। वो गर्मी का मौसम था और हमारे यहाँ काफी गर्मी पड़ती है लू चलने के साथ। पर अशोकजी बिना रुके लगातार दिन भर काम करते रहते और कभी-कभार ही बीच में छोटा सा ब्रेक लेते। इस प्रवास के दौरान बीच-बीच में अशोकजी कोलकाता को याद करते। खासकर काम करते-करते हुए जब सिगरेट या अखबार खरीदने के लिए घर से बाहर जाने का उनका मन करता। हमारे घर से पास का बाजार करीब आधे किलोमीटर की दूरी पर था और इन दोनों चीजों के लिए उन्हें भरी गर्मी में वहाँ तक पैदल जाना होता । और वो कहते नहीं पर मुझे हमेशा महसूस होता कि वो कोलकाता के अपने मित्रों और उनके वार्तालापों की भी कमी महसूस करते।

सुनील और अशोकजी किशनजी की किताबों पर साथ मिलकर काम कर रहे थे। कुछ चीजों के बारे में सुनील और उनके व्यक्तित्व में काफी भिन्नता थी। सुनील सारे कागजों को सलीके से जमाकर रखने, लगातार उन पर से धूल झाड़ने में लगा रहता और अव्यवस्था से परेशान हो जाता। अशोकजी को यह पसंद था कि सारी सामग्री जो उन्हें चाहिए वो उनके पास हो। वे उनके व्यवस्थित रहने न रहने के बारे में चिंता नहीं करते थे।उनके दिमाग में सारी जानकारियाँ और ज्ञान (जो अस्पष्ट है वो भी) व्यवस्थित रूप से जमा रहता था। इस तरह की भिन्नता होने के बावजूद भाषा और संपादन को लेकर गंभीरता, सुनील और अशोकजी की एक दूसरे से मेल खाती थी। दोनों मिलकर उपयुक्त शब्द और भाषा के चयन में काफी समय लगाते। कभी-कभी पूरा दिन निकल जाता एक सही शब्द खोजने में।अशोकजी अलग-अलग डिक्शनरी देखते और जब तक उनके मन-माफिक और सटीक शब्द नहीं मिलता चैन नहीं लेते । मेरी हिंदी पर पकड़ काफी खराब होने के कारण भाषा और शब्दों को लेकर हो रही ये सारी चर्चाएँ मेरे सिर के ऊपर से जाती। इन दो महीनों के काम से निकली किशनजी की दों किताबें-भारतीय राजनीति पर एक दृष्टि और किसान आंदोलन-दशा और दिशा, अशोकजी की विद्वता, भाषा पर पकड़ और कड़ी मेहनत का सबूत है।

सुनील के गुजर जाने के बाद अशोकजी सामायिक वार्ता के भविष्य को लेकर काफी चिंतित थे। वो दिन में ज्यादा समय लेखों के संकलन, संपादन आदि पर काम करते हुए, उसके बारे में चिंता करते हुए बिताते। उनके काम और मेहनत के फलस्वरूप ही उनके निर्देशन में सुनील के जाने के बाद वार्ता के 3 बहुत अच्छे अंक निकले हैं। वार्ता के सुनील स्मृति अंक के निकलने के दौरान मेरी अशोकजी से काफी बार फोन पर बातें हुई। ये बातचीत मेरी तरफ से भावुक और गुस्से में भरी हुई होर्ती और अशोकजी की ओर से सहानुभूतिपूर्ण और उदार होती। इन बातचीतों के दौर ने हमें पहले से और करीब लाया। मैंने उन्हें अगली गर्मी में कोलकाता जाकर मिलने का वायदा किया था। अब उम्मीद है कि जो लोग उनके सबसे करीब थे-संजय भारतीजी, यमुनाजी और उनका परिवार, बालेश्वरजी और सुशीलाजी का परिवार, उनसे कोलकाता जाने पर मुलाकात होगी।

अशोकजी के साथ जुड़ी हुई अनेक यादें और तमन्नाएँ थी। उनमें से कुछ ऐसी ही आज उन्हें याद करते हुए मन में आ रही है। उनका ये कहना कि स्मिता तुम अपना वजन कम करो फिर मैं तुम्हें कोलकाता मिनीबस में घुमाऊँगा। मेरा उनसे सत्यजीत राय की बंगाली में लिखी बच्चों की किताबों को माँगने का आग्रह और सुनील का ऐसा करने से मना करना । मेरी उनके साथ उत्तम कुमार और सुचित्रा सेन की फिल्मों के बारे में चर्चा करने की इच्छा, जो अब अधूरी ही रह गई। ऐसी ही अनगिनत बातें, विचार और इच्छाएँ हैं जो अशोकजी के जाने के साथ इस मन में यादों का हिस्सा बन कर रह गई हैं ।

वह अस्त-व्यस्त खुला हुआ कमरा

अमित जालान

अशोकजी से पहली बार 2002 के जुलाई में मिला था। मेरी पत्नी शर्मिला ने कहा था कि चलिए अशोकजी से मिलने चलते हैं। उनसे मिलकर आपको बहुत अच्छा लगेगा। 16 लार्ड सिन्हा रोड में हम लोग शाम के 6 बजे पहुँचे। अशोकजी अकेले ही थे। कुछ लिख रहे थे। बोले-आइए, अमित कैसे हैं? उन्होंने मुझे मेरी उम्र से ज्यादा सम्मान दिया। उनके यहाँ का माहौल इतना सहज था कि मैं तुरंत सहज हो गया। इधर-उधर की बातें होने लगीं। अचानक अशोकजी ने खेद प्रकट करते हुए कहा -मैं यहाँ अकेला ही रहता हूँ। आज और कोई भी नहीं है। आपको चाय भी नहीं पिला पाऊँगा। उनके चेहरे पर चाय ना पिला पाने का अफसोस साफ-साफ झलक रहा था। जो भी हो उस मुलाकात के बाद वहाँ जाने का सिलसिला चल पड़ा।

वे एक सहज इनसान थे और इससे उनके यहाँ जाने में कोई संकोच नहीं होता था। लोग उनके यहाँ कभी भी उनको सूचित किए बगैर आते-जाते रहते थे। कोई अपनी समस्या लेकर आता और कोई अपनी रचना लिए उन्हें पढ़ाने चला आता। कुछ लोग बेमतलब भी आ जाते। उनके कमरे में एक फोन था जिसकी घंटी जब तब बज जाती। ऐसा लगता कि एक अस्त-व्यस्त सा दरबार खुला हुआ है जहाँ कोई भी, किसी तबके का, किसी धर्म का किसी वर्ग का बेरोक-टोक आ सकता था। अशोकजी एक 'मल्टीफेरियस' व्यक्तित्व थे। लेखक, समाजवादी चिंतक,राजनीति पर नजर रखे हुए, क्रिकेट के शौकीन, अपने मानदंडों और विचारों पर अडिग एवं किसी की कुछ मदद करने को तत्पर...।

मुझे याद है एक दफा उन्होंने मुझसे पूछा था- तुम्हें सेंतजेवियर्स कॉलेज में अंग्रेजी कौन पढ़ाते थे। मैंने कहा 'विश्वनाथन'। अरे! वे तो मुझे भी पढ़ाते थे। जानते हो उन्होंने मुझे कहा था कि तुम अंग्रेजी कभी नहीं सीख सकते। ऐसा कहने के बाद अशोकजी ने बात को आगे बढ़ाते हुए कहा-विश्वनाथन, ने बहुत बार मुझे, तुम अंग्रेजी नहीं सीख सकते कहकर 'पिक' किया था। मैंने कहा उन्होंने मुझे भी कई बार 'पिक' किया था। यह सुनकर अशोकजी चौंके, बोले-अच्छा! तुम्हें भी किया था। अच्छा तो यह विश्वनाथन की आदत थी ऐसा कहकर वह हँसने लगे और उनके चेहरे पर यह भाव थे कि आज उन्होंने जान लिया कि विश्वनाथन ने कइयों का परिहास किया है। सिर्फ उनका ही नहीं। इस तरह विश्वनाथन और सेंतजेवियर्स कॉलेज पर बातचीत करना हम दोनों के बीच का एक सामान्य चर्चा का विषय बन गया।

एक बार उन्होंने मुझे एक कैसेट दिखाया उस पर एक पुरानी फिल्म की नायिका का चित्र था उन्होंने कहा क्या बता सकते हो यह किसकी तस्वीर है? मैंने तुरंत कहा 'योगिता बाली'। वे बहुत खुश हुए और मुझसे हाथ मिलाया। इसी तरह वे कई बार कुछ पूछते और मेरे सही जवाब को सुन मुस्कुरा देते। राजनीति और क्रिकेट पर हम दोनों की काफी बातें होर्ती। जब बात ही बात में मैंने उन्हें बताया कि मैंने सी.ए.बी. अंडर 15 खेला और मेरे बड़े भाई (ताऊ के लड़के) मनीष जालान ने बंगाल को अंडर 18 में रीप्रजेंट किया था तब उन्होंने अपने भतीजे पोद्दारजी के बारे में बताया जिनका भारतीय क्रिकेट टीम में चयन हुआ था और वे बंगाल एवं राजस्थान के लिए रणजी ट्राफी खेलते रहे। उसी समय उन्होंने क्रिकेट पर लिखी अपनी पुस्तक की चर्चा भी की थी।

हर महीने के एक या दो शनिवार या रविवार को मैं 16 लार्ड सिन्हा रोड जाता ही जाता था। अब उनके जाने के बाद हर सप्ताह आनेवाले शनिवार और रविवार को मैं कहाँ जाऊँ समझ में नहीं आ रहा ।

दया का दरिया

नवीन

अशोकजी के साथ जिस किसी का भी संबंध रहा, वह जरूर इस खुशफहमी में रहा होगा कि अशोकजी उसे ही सबसे ज्यादा चाहते हैं और इसके पर्याप्त साक्ष्य उसके पास होंगे। जाहिर है, मैं भी इस खुशफहमी में रहा कि अशोकजी औरों की अपेक्षा मुझे 'थोड़ा' ज्यादा चाहते थे और इसके आधार भी मैंने ढूँढ लिए थे। मसलन अशोकजी के तकरीबन छह सौ पत्र मेरे पास हैं, अमूमन हर पखवाड़े उनका फोन आता था। वे कुछ ऐसी बात मुझे कहते थे कि इसे अपने तक रखिएगा, आप ही को बता रहा हूँ। 1988 के उत्तरार्द्ध में वाराणसी से वरिष्ठ साथी सोमनाथ त्रिपाठी सामयिक वार्ता के फाइल, कागजात और ब्लॉक लेकर मुजफ्फरपुर आए थे। बात चलने पर उन्होंने कहा कि अशोकजी मन की बात सिर्फ दो ही लोगों से करते हैं—चंचल मुखर्जी और नवीन से। अशोकजी का पारिवारिक विवाद जब पराकाष्ठा पर पहुँच गया था तब समस्या से निजात पाने के लिए उन्होंने मुझे गोद लेना चाहा था, इसके लिए उन्होंने मुझ पर अतिशय दबाव भी डाला था, जिसे मैंने दृढ़ता मगर विनम्रता के साथ नकार दिया था।

अशोकजी के साहित्यिक और राजनैतिक कर्म इतने घुले-मिले हैं कि उनको पृथक् किया ही नहीं जा सकता। अशोकजी आचार्य शिवपूजन सहाय की परंपरावाले साहित्यकार थे। शिवजी के शिष्य रामप्रिय मिश्र लालधुआँ से अशोकजी (सामयिक वार्ता के पटना प्रकाशन के दौरान) भाषा की गुत्थियों को सुलझाने में मदद लेते थे। जिस तरह शिवजी ने उपन्यास सम्राट प्रेमचंद और उनके समकालीन शीर्षस्थ साहित्यकारों की रचनाओं को सँवारा-संपादित किया, उसी तरह से अशोकजी ने भी नई पीढ़ी के साहित्यकारों की रचनाओं को सजा-सँवारकर संवर्द्धित किया। अलका सरावगी,शर्मिला बोहरा जालान, बेबी हालदार की कृतियाँ शायद उनके प्रोत्साहन के बिना लिखी नहीं जातीं। घरेलू कामकाजी महिला सुशीला राय से उन्होंने 'एक अनपढ़ कहानी' लिखवा ली। सुशीलाजी के पति बालेश्वर राय ने भी शुरुआत में अच्छी टिप्पणियाँ लिखी थीं, मगर बाद में वह लेखन कर्म से विरत हो गए।

भाषा की शुद्धता के प्रति अशोकजी अतिशय संवेदनशील थे। सामयिक वार्ता के रघुवीर सहाय पर केंद्रित अंक के अतिथि संपादक गिरिधर पाठक राठी थे। अशोकजी ने पहले ही खबरदार कर दिया था कि प्रूफ की गलतियाँ कतई न रहें, वरना राठीजी बुरा मान जाएँगे। माडर्न रिव्यू के संपादक रामानंद चटर्जी का वह उदाहरण देते थे। मामूली अशुद्धि पर भी रामानंद चटर्जी फिर से छपवाते थे। यदि कोई उनसे कहता कि बड़ी आर्थिक क्षति होगी तो रामानंद समझाते थे कि खाने के कौर में यदि कंकड़ आ जाता है तो उसे निगला नहीं, फेंका जाता है। मुजफ्फरपुर से वार्ता प्रकाशन के दिनों में हम लोग प्रेस से चार पेज छपते ही फौरन अशोकजी के पास भेज देते थे। बाद में अशोकजी सारे पृष्ठों की अशुद्धियों को दुरुस्त कर संपूर्ण अंक बनाकर वापस कर देते थे।

किशन पटनायक के लगभग दो हजार पृष्ठों के लेखन को उन्होंने तीन खंडों में सुनील के साथ मिलकर संपादित किया था। 'विकल्पहीन नहीं दुनिया' और 'भारतीय राजनीति पर एक दृष्टि' के नाम से दो किताबें छप चुकी हैं। तीसरे खंड का काम अशोकजी ने केसला में रहकर किया था।इसी क्रम में एक छोटी पुस्तिका किसान आंदोलन: दशा और दिशा भी प्रकाशित हुई है। करीब आठ साल से अशोकजी किशनजी की जीवनी पर काम कर रहे थे। अस्सी फीसदी काम हो भी चुका था। वाणीजी अत्यधिक विलंब के कारण चाहती थीं कि उसी रूप में छप जाए। अशोकजी मुझसे कहते थे, ''वाणीजी को बोल दीजिए, मरने के पहले मैं किशनजी की जीवनी जरूर पूरी कर दूँगा।'' एक यही काम अधूरा रह गया। स्वर्गीय बालकृष्ण गुप्त के संपूर्ण लेखन को भी अशोकजी ने बहुत मेहनत से संपादित किया था जो 'हाशिए पर पड़ी दुनिया' के नाम से छपा। अशोकजी उत्कृष्ट कोटि के अनुवादक भी थे। सच्चिदानंदजी की किताब 'इमरजेंसी इन परस्पेक्टिव' का अनुवाद अशोकजी ने ही किया था जो 'भारत में तानाशाही' के नाम से छपी और प्रसिद्ध हुई। सामयिक वार्ता हिंदी की पहली ऐसी पत्रिका थी जिसमें चीन की 'थ्येन आन मान चौक' की घटना छपी थी। यह अशोकजी का कौशल था कि ब्रिटिश अखबार इंडिपेंडेंट के 10जून 1989 के लेख को तुरत अनुवाद कर दिया और वार्ता के जुलाई 1989 में प्रमुखता से यह छप भी गया।

दुनिया की पहली किताब 'लेखकी' होगी, जिसके छपने की सूचना लेखक को नहीं थी। अशोकजी ने मुझे कृति के सितंबर 1959 और सारिका के जुलाई, 1968 के अंक इस वचन के साथ दिए थे कि इन्हें मैं किसी और को नहीं दूँगा। कृति में उनकी कहानी 'रन्दवू' गुणेंद्र सिंह कंपानी के नाम से और सारिका में 'लेखकी' मूल नाम से छपी थी। जब उनकी कहानियों का संकलन चोरी-चुपके निकालने की योजना बनी तो मैंने 'विश्वासघात ' कर के दोनों कहानियों के जेरॉक्स अरविंद मोहन को दे दिए। सोचा था कि छपने पर अशोकजी बेहद गुस्सा करेंगे, मगर अशोकजी ने कुछ नहीं कहा। रामफजल नाम से उन्होंने खेल विषयक कई लेख लिखे।1982 के एशियाड आयोजन पर

रविवार में उन्होंने अत्यंत मार्मिक लेख लिखा था। उन्होंने बताया था कि एशियाड के लिए स्टेडियम निर्माण में 68 मजदूर मारे गए, मगर उनकी स्मृति में मौन तक नहीं रखा गया। 1980 के दशक में ही उनका एक लेख रविवार में छपा था- यह है विधानसभा में बहस का स्तर। रमणिका गुप्ता पर की गई अश्लील टिप्पणी पर उन्होंने जनमानस को झकझोरनेवाला लेख लिखा था। क्रिकेट पर उन्होंने एक किताब भी लिखी थी, जो अब नहीं मिलती। इतिहास प्रसिद्ध चट्टगाँव शस्त्रागार कांड के अभियुक्त दिनेश दासगुप्त ने एक बार बताया था कि अशोकजी की किसी कहानी पर फिल्म भी बनी थी। दिनेश दा उस कहानी का नाम भूल गए थे। पूछने पर अशोकजी ने इसे सिरे से ही नकार दिया था।

अशोकजी लोहियावादी-समाजवादी धारा से अभिन्न रूप से जुड़े थे। मगर वे डा. लोहिया के भक्त नहीं थे। व्यक्तिगत रूप से वह जयप्रकाशजी के प्रशंसक थे। संसोपा,लोहिया विचार मंच, समता संगठन के बाद वह समाजवादी जनपरिषद से जुड़े थे। सोशलिस्ट पार्टी की पत्रिका 'जन' में वह ओमप्रकाश दीपक के घनिष्ठ सहयोगी थे। जयप्रकाश आंदोलन के दिनों में वह कोलकाता से प्रकाशित ' चौरंगी वार्ता' के सक्रिय संपादकीय सहयोगी थे।1977 से मृत्युपर्यंत वह 'सामयिक वार्ता' से जुड़े रहे। सुनील की मृत्यु के बाद वार्ता का पूरा दारोमदार अशोकजी पर ही आ गया था। मृत्यु शैया पर भी वह वार्ता के भविष्य को लेकर चिंतित थे। वार्ता के दस ट्रस्टियों में वह भी एक सदस्य थे। लेकिन वार्ता ट्रस्ट की किसी भी बैठक में कभी अशोकजी शामिल नहीं हुए। वार्ता के सुचारू ढंग से प्रकाशन में तकनीकी बाधाएँ आ रही थीं। इसको लेकर वे बहुत व्यथित थे। मरने से 15 दिन पहले उन्होंने मुझसे वरिष्ठ साथी योगेंद्र यादव से इस विषय पर बात करने को कहा था। उन्होंने अपनी विवशता जताते हुए कहा था—''ना तो मैं वार्ता ट्रस्ट की बैठक में बाहर कहीं जा सकता हूँ और न ही इसकी बैठक बुला सकता हूँ।''

आपात्काल का एक प्रसंग वह अक्सर सुनाया करते थे। जार्ज फर्णांडीस की एक विशेष मीटिंग,अत्यंत विश्वस्त लोगों की (शायद तेरह-चौदह लोगों की थी, संख्या मैं भूल रहा हूँ, संभवत: योगेंद्रपालजी को स्मरण हो। उन्होंने आयोजित की थी। जार्ज के कोलकाता छोड़ते ही अशोकजी को पुलिस ने अपनी गिरफ्त में ले लिया। दिनेशदा ने बताया था कि उनके पिताजी सीतारामजी सेकसरिया की पहुँच- पैरवी से अशोकजी को छोड़ दिया गया। मगर अशोकजी स्वयं को निकृष्ट कोटि का आदमी सिद्ध करते हुए कहते थे कि यदि पुलिस की एक भी लाठी पड़ती तो मैं सब कुछ उगल देता, जार्ज को फाँसी पर चढ़वा देता। एक मर्तबा किशनजी से इस प्रसंग का जिक्र चला तो उन्होंने मुझे झिड़कते हुए कहा था, ''तुम अशोकजी को बिलकुल नहीं जानते, वे मर जाते मगर एक शब्द भी नहीं उगलते।''

अशोकजी चुपचाप काम करनेवाले प्रतिबद्ध राजनैतिक कार्यकर्ता थे। मंच से उन्हें बोलते शायद ही किसी ने सुना हो। आत्म-प्रचार से कोसों दूर। यदि किसी ने तारीफ कर दी तो वह बुरा मान जाते थे। कृष्णबिहारीजी मिश्र ने 1992 में 'प्रभात खबर' में उन पर एक लेख 'मेरे शहर का दरवेश' लिखा था। लेख के साथ संपादकीय टिप्पणी में हरिवंशजी ने लिखा था,' आत्म-प्रचार से दूर अशोकजी बहुत संभव है कि लेख छपने के बाद मुझसे व्यक्तिगत संबंध भी तोड़ लें। बहुत ईमानदार और कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति के भी हृदय में दमित इच्छा रहती है कि उसे सम्मान मिले। मगर अशोकजी तो दुर्लभ प्रजाति के मनुष्य थे। दान का तो शास्त्रीय सिद्धांत है कि दाएँ हाथ से दिया जाए तो बाएँ हाथ को पता न चले। बहुतेरे राजनैतिक कार्यकर्ताओं को उन्होंने प्रच्छन्न तरीके से मदद की थी। शिवानंदजी ने अपने लेख में और अख्तर हुसैन भाई ने पटना की शोकसभा में मदद मुतल्लिक अपने अनुभव साझा किए। मुजफ्फरपुर में जब हम लोगों ने विश्वबंधुजी के निधनोपरांत पारिवारिक सहायता का अभियान चलाया तो अशोकजी उसमें स्वाभाविक रूप से स्वत: जुड़ गए।

कुछ वर्ष पहले तक मैं अशोकजी को अजातशत्रु मानता था। मगर यह भ्रम 2006 में दिनेश दासगुप्तजी के निधनोपरांत टूट गया। दिनेशदा की मृत्यु के बाद उनके शव को मुलायम सिंह यादव की सोशलिस्ट पार्टी के दफ्तर ले जाया गया तथा उस पार्टी से जुड़े नेता के रूप में विज्ञप्ति निकाली गई। दिनेशदा कभी मुलायम सिंह यादव की पार्टी से नहीं जुड़े थे। अशोकजी ने दैनिक समाचार पत्रों में इस तथ्य का खंडन करते हुए पत्र लिखा था। अशोकजी ने मुझे बताया था कि एक दिन जब वह पैदल सड़क पार कर रहे थे तो पीछे से एक आदमी ने उनके कुर्ते को पकड़ लिया था और पत्र लिखने पर उन्हें खूब खरी-खोटी सुनाई।

अशोकजी से मेरा 38 वर्षों का सुदीर्घ संबंध था। क्रांतिकारियों के प्रति मेरा श्रद्धा भाव और जिज्ञासाओं को वे भली-भाँति जानते थे। भगत सिंह और आजाद से जुड़ा जो भी साहित्य वे पढ़ते थे, उसे मुझ तक भिजवा देते थे। इस बावत जानकारियाँ साझा करते थे। मरने से करीब बीस दिन पहले अशोकजी ने मुझे बताया था कि मेरे लिए उन्होंने यशपाल की डायरी के दोनों भाग खरीद लिए हैं, शीघ्र ही भिजवा देंगे।भगत सिंह की क्रांतिकारी साथिन सुशीला दीदी और शन्नो देवी का उल्लेख वह करते थे। बताते थे कि विख्यात क्रांतिकारिणी वीणा दास जब कारावास से बाहर आईं तो कोलकाता में उन्हें किसी ने भी काम नहीं दिया। यहाँ तक कि गुरुदेव टैगोर के शांतिनिकेतन में भी काम नहीं मिला। तब अशोकजी के पिताजी ने उन्हें अपने स्कूल में नौकरी दी। वे श्रद्धापूर्वक वीणा दास का स्मरण करते हुए बताते थे कि स्कूल बस में वह उन्हें अपने पास बिठाती थीं।

किशनजी, युगलकिशोर रायवीरदा और सुनील के बाद अशोकजी का चले जाना सजपा, वार्ता और मेरे जैसे अनेक लोगों के लिए अत्यंत पीड़ादायक है। उनसे जो सबसे बड़ी सीख मिली वह यह है कि बड़ा वह है जो किसी को छोटा न समझे और कोई उसके सामने पहुँचकर खुद को हीन न समझे।

जहाँ तलाश खत्म हो जाती है

अलका सरावगी

अशोक सेकसरिया को जाननेवाला हर व्यक्ति आज उनके जाने के बाद उन पर लिखते हुए संभवत: पहला वाक्य यही लिखेगा कि उनके बारे में लिखना आसान नहीं है। मगर अशोकजी की तरह निस्पृह यानी इच्छारहित व्यक्ति, जिसने आम आदमी को ताउम्र हाँकनेवाली धन,पद और यश की इच्छाओं को कभी पास तक फटकने नहीं दिया हो और जो बच्चों की तरह उत्सुकता से हर मिलने आए व्यक्ति की रोजमर्रा की बातों या घिसे-पिटे विचारों को सुनता रहा हो, उस पर लिखना कठिन क्यों है? क्या वह दुनिया का सबसे सरल व्यक्ति नहीं था?

मुझे लगता है कि जितने लोग इस बात पर सहमत होंगे, कमोबेश उतने ही लोग इस बात पर असहमत होंगे। सच तो यह है कि अशोकजी, अपने नाम के विपरीत (जैसा कि उनके एक घनिष्ठ मित्र ने एक बार कहा था) वह बेहद शोकग्रस्त और परेशान व्यक्ति थे। उन्हें न खुद चैन था और न कोई उनके पास जाकर बेचैन हुए बिना रह सकता था। कुल चौबीस साल की उम्र में मेरी जब उनसे पहली मुलाकात हुई, तो मुझे वे बेहद सरल व्यक्ति लगे थे। उनकी सरलता ऐसी थी कि उनके ही सुझाव पर अपनी लिखी पहली टिप्पणी या लेख (जो उन दिनों निकलनेवाली पत्रिका 'परिवर्तन' में छपा था) का एक शब्द मुझसे बिना पूछे बदल डालने के लिए मेरे नाराज होने पर उन्होंने मुझसे कम-से-कम दस बार माफी माँगी थी। पिछले तीस सालों के उनके सान्निध्य में मैंने बीसियों बार इसी तरह अधपढ़े, ज्ञानशून्य व्यक्तियों को उन पर बरसते या बहस करते देखा। हर बार अशोकजी अपनी गलती मानकर माफी माँगने लगते थे या फिर एकदम चुप रह जाते थे।

धीरे-धीरे जैसे-जैसे अशोकजी का बात-बात पर घबड़ाने और परेशान होने की आदत को जाना, तो मुझे बहुत उलझन हुई। घर-गृहस्थी, बीवी-बच्चों के झंझटों से मुक्त इस आदमी की परेशानी आखिर क्या है? यह तो एक निरा स्वतंत्र व्यक्ति है जो आराम से सारी जिंदगी सिर्फ लिखते-पढ़ते बिता सकता है यानी कि वह सुविधा जो मुझ जैसों को उपलब्ध नहीं थी। उनकी बेचैनी के कारणों को समझने में मुझे बहुत वक्त लगा क्योंकि दुनिया के तमाम राजनैतिक-सामाजिक-आर्थिक संदर्भों को जाने बिना उसे समझा नहीं जा सकता था। संदर्भों की जगह 'दुखों' कहना ज्यादा सही होगा। इस दुनिया के दुख अनंत थे और उनके रहते अशोकजी के लिए 'सुख' एक अश्लील शब्द था। जिस-जिस व्यक्ति ने अपनी जिस किसी तरह की परेशानी अशोकजी को बताई, उसे मालूम होगा कि अशोकजी स्वयं उससे भी ज्यादा परेशान हुए। उन्होंने अपने को बिलकुल ताकतविहीन बनाने का संकल्प किया था, ताकि वे इस देश के सबसे कमजोर आदमी का दर्द महसूस कर सकें, पर विडंबना यह थी कि ताकतवर लोग दिन-ब-दिन और बेहया और निरंकुश होते जा रहे थे।

जिस आदर्श की छाया में अशोकजी का बचपन बीता था, उसके लगातार टूटने-दरकने के शोक ने उन्हें अंतिम दिन तक घेरे रखा। गांधीजी की चेतना से अनुप्राणित अपने पिता सीतारामजी सेकसरिया को अशोकजी ने आँखें खुलते ही देश और समाज के

जागरण के यज्ञ में अपने को झोंकते देखा होगा। आजादी का सपना सच होते ही हर किसी संस्था को जिस तरह उन्होंने भ्रष्ट होते देखा, उसकी यातना अशोकजी को निराशा की अंधकार भरी बाबड़ी में उतारती चली गई। जाने वह कैसी घड़ी रही होगी जब अशोकजी ने अपने पिता, परिवार और समाज से बिलकुल अलग रहन-सहन और पहनावा धारण करने का निश्चय किया होगा। शिक्षायतन स्कूल में पढ़ते हुए उनके पिता सीतारामजी सेकसरिया यानी हमारे 'मंत्रीजी' को हमने बिलकुल बुर्राक सफेद धोती-कुर्ते में अपनी सौम्य मुस्कान की सज-धज के साथ बचपन से देखा था। खादी का मुसा-तुसा कुरता और मैले से पाजामे में टूटी सी चप्पल और हाथ में लंबा छाता लिए जब मैंने पहली बार अशोकजी को देखा, तो यकीन नहीं कर पाई थी कि वे मंत्रीजी के बेटे हो सकते हैं। उन दिनों हमारा परिवार भी लार्ड सिन्हा रोड पर ही रहता था। एक दिन मेरे ससुरजी ने मुझसे पूछा कि "तुम्हारे अशोकजी सीतारामजी के बेटे होकर ऐसे क्यों रहते हैं? अभी रास्ते में ईंट पर बैठे, नाई से हजामत बनवा रहे थे।" सुनकर मेरा सेर भर खून जल गया। मैंने कहा—" वे ऐसे ही हैं।" कोई रहकर तो दिखाए ऐसे, मैंने मन-ही-मन कहा। एक बार हिंदी के किसी लेखक के मरने पर किसी अखबार में 'महान साहित्यकार का निधन' पढ़कर उन्होंने कहा था कि 'मैं अभी इसीलिए नहीं मर रहा हूँ कि यह अखबार मेरे लिए भी कहीं यही शीर्षक न लगा दे।' शब्दों और उनके अर्थों से किसी तरह का दुराचार अशोकजी की यातना को बहुत बढ़ा देता था।

जिस देश में एक शख्स इसलिए प्रधानमंत्री बन गया क्योंकि वह किसी का बेटा और किसी का पोता था, उसी देश में अशोकजी ने हरसंभव काबिलियत होते हुए (हालाँकि वे इस बात को कभी न मानते) भी अपने पिता द्वारा स्थापित संस्थाओं से अपने को हमेशा दूर रखा। अलबत्ता उन संस्थाओं के चलानेवालों के स्वार्थ,लोभ और आत्मप्रचारात्मक आचरण से वे हतप्रभ, निराश और शोकग्रस्त होते रहे। इस अर्थ में वे संस्थाएँ हमेशा उनकी चेतना और पिता से जुड़ाव का हिस्सा बनी रहीं और उनकी यातनाओं को कई गुणा बढ़ाती रहीं। अशोकजी की वेश-भूषा और अपनी बात को धड़ल्ले से न कह पाने की हकलाहट से ताकतवर लोगों को यह सुविधा रही कि उन्हें अव्यावहारिक और सनकी करार देकर उनकी बातों को दरकिनार कर दिया जाए।

लेकिन क्या अशोकजी महज एक दुखी आत्मा थे? क्या अपने समय से निराश होकर हार गए थे? क्या एक उपन्यास न लिख पाने का कष्ट लेकर चला जाना उनके जीवन को बेमतलब बना देता है? मुझे नहीं लगता कि अशोकजी को जाननेवाला एक व्यक्ति भी इस बात पर व्यग्र होकर चिल्ला नहीं उठेगा—'बिलकुल नहीं'! अपनी मृत्यु के दो सप्ताह पहले तक 'सामयिक वार्ता' के लिए बीस-बीस घंटे काम करनेवाले अशोकजी की ज्ञान-पिपासा ऐसी थी कि किसी नई किताब के बारे में बात करते हुए उनकी आँखों में बच्चों के से उत्साह की चमक रहती। जाने कैसे उन्हें हर बात का पता रहता था। अपनी खटिया के चारों ओर अखबार और किताबें फैलाए धूल और सिगरेट की राख से घिरे बैठे अशोकजी बिना कंप्यूटर, मोबाइल फोन और यहाँ तक कि घड़ी-विहीन होते हुए भी अपने समय की नब्ज को पकड़े हुए थे। खुद छद्म नाम से कहानियाँ लिखनेवाले इस शख्स का वश चलता तो वह अपने पास आनेवाले हर किसी को एक लेखक बना देता। कोई अपना लिखा कुछ भी ले आता उसे उत्साह से पढ़ने लगते। इस व्यक्ति के लिए लेखक होने से बड़ा और कोई न धर्म था और न ही कोई कर्म।

हमारे जैसे लोगों के लिए अशोकजी का कमरा एक ऐसी दुनिया था, जिसमें जाने का मतलब था 'साहित्य' के आगे हर किसी और चीज का निरर्थक हो जाना। वहाँ सिर्फ 'साहित्य' की कीमत थी और उसको परखने-समझने के पैमानों को निरंतर धार करने की इच्छा। वहाँ अगर कोई महत्वाकांक्षा पल सकती थी, तो कोई अद्भुत कालजयी साहित्य को रचने या पढ़ने की। लेखक को निगल जानेवाली हर शै से अशोकजी बेहिसाब भयभीत रहते थे। मेरे, श्रीकांत वर्मा पुरस्कार लेने दिल्ली जाते समय वे परेशान थे। साहित्य अकादमी पुरस्कार पहले उपन्यास पर मिल जाने के कारण मेरी रचनाशीलता को कुंद कर देगा, यह सोचकर दुखी थे। पर हिंदी की दुनिया का मानस उनके इस 'दुख' पर संदेह व्यक्त कर चुका है। 'कलि-कथा' उनके द्वारा लिखे जाने के हास्यास्पद आरोप के बारे में उनका कहना था कि लेखक बने रहने के लिए घटियापन से लड़ने से बचना जरूरी है। मुझे बुरा इसलिए ज्यादा लगा था कि यह अशोक सेकसरिया की ईमानदारी पर भी आक्षेप था। अशोकजी पहले लेख से पहली कहानी से अंतिम उपन्यास तक लिखने के लिए हिम्मत देते रहे, पर साथ ही साथ अपनी आलोचना से हिम्मत तोड़ते भी रहे। खुद के हर वाक्य पर संदेह करने और बार-बार फाड़कर फिर लिखने की उनकी आदत से मुझे बहुत झुँझलाहट भी होती थी। लिखने में उनके जैसी मेहनत करने की मैं कल्पना भी नहीं कर सकती। प्राय: हरदम मेरा पहला ड्राफ्ट ही मेरा अंतिम ड्राफ्ट होता था। उनकी तरह आत्मविहीन, अहंकारविहीन और आत्मालोचक बनकर कोई नहीं जी सकता और न ही लिख सकता है। मैंने अपनी तमाम कमियों की तरह इस बात को स्वीकार कर लिया था पर वे एक ऐसी कसौटी जरूर थे जिस पर हर रोज अपने को खरा साबित करना होता था। इसीलिए मैंने शुरू में ही कहा कि उनसे मिलना बेचैनी में जीने की आदत डालना था। इसके बावजूद जो कोई उनसे मिलने जाता था, उसे पता होता था कि एक इन्सान- सही अर्थों में एक इन्सान की तलाश उनके पास आकर खत्म हो जाती है।

सादे से भी कम सादा कमरा

उदयन वाजपेयी

उन्हें महज विलक्षण कहना अपर्याप्त है। यह इसलिए क्योंकि वे विलक्षणों में भी अद्वितीय थे। आज के हमारे समय में ऐसे व्यक्ति की कल्पना करना असंभव है जो अपने लिए लगभग कुछ भी न सोचता हो, जिसने अपना तमाम जीवन बिना किसी घोषणा के अन्यान्य लोगों के बौद्धिक और संवेदनात्मक उत्थान में लगा दिया हो। अशोकजी ठीक ऐसे ही व्यक्ति थे। वे अपने चारों ओर के युवा लेखकों, पत्रकारों, समाजवादी कार्यकर्ताओं, पाठकों आदि को अपनी पूरी शक्ति और समय लगाकर समृद्ध करने का अनवरत प्रयत्न करते रहे। यह सब करने के पीछे उनकी कोई भी व्यक्तिगत आकांक्षा नहीं थी। यह सब कार्य वे किसी गहरे दायित्वबोध के चलते किया करते थे। यह दायित्वबोध उन्हें किसी ने भी सुझाया नहीं था, यह उनके अपने अंतस से सहज उत्पन्न हुआ था। उनके इस अनवरत प्रयास के फलस्वरूप कई बेहतरीन लेखक, पत्रकार और समाजवादी कार्यकर्ता क्रियाशील हो सके। वे कोलकाता में अपनी विशाल कोठी जैसे पैतृक निवास के एक कमरे में न्यूनतम सुविधाओं के साथ रहा करते थे। जब मैं पहली बार कोलकाता की पार्क स्ट्रीट के पीछे की गली की विशाल कोठी में अशोकजी से मिलने गया, मुझे सीढ़ियों के रास्ते जिस कमरे में पहुँचाया गया वह मेरे लिए बिलकुल अप्रत्याशित था। मैंने यह सुन रखा था कि अशोकजी अत्यंत सादा जीवन जीते हैं। पर जिस कमरे में वे रह रहे थे उसे सादा कहना भी मुश्किल है। वह सादे से भी कुछ और ही था। कमरे के लगभग बीच में बहुत छोटे पायोंवाला एक तखत था जिस पर बिलकुल साधारण चादर बिछी हुई थी, पास ही कहीं एस्ट्रे रखी थी जो पूरी भरी हुई थी। तखत के चारों ओर किताबें बिखरी थीं जिनमें अधिकतर बाँग्ला की थीं। सामने दीवार पर एक रैक था जिसमें बे-तरतीब किताबें रखी हुई जान पड़ रही थीं। इस कमरे के साथ लगे हुए कमरे में अशोकजी के परिचति बालेश्वरजी का परिवार रह रहा था। अशोकजी अपने परिवार से अपने खर्च के लिए बहुत थोड़ा-सा पैसा लिया करते थे। उसी से वे अहर्निश सिगरेटें पीते थे और उसी में बालेश्वरजी के परिवार की मदद से अपने भोजन का इंतजाम भी करते थे। यह सब उनका अपना चयन था। वे एक बड़े गांधीवादी उद्योगपति सीताराम सेकसरिया के पुत्र थे (जिनकी डायरियों के संग्रह की अशोकजी ने अद्‌भुत भूमिका लिखी है) और साठ के दशक में खुद भी एक बड़े अखबार में नौकरी कर चुके थे। मैं नहीं जानता कि वे अखबार की अपनी नौकरी छोड़कर कलकत्ते क्यों चले आये थे, पर इतना स्पष्ट था कि उन्होंने अपने जीविकोपार्जन के लिए न्यूनतम संसाधनों का जो चुनाव किया था उससे वे सारी उम्र बंधे रहे।

अशोकजी की समकालीन हिंदी और बाँग्ला साहित्य पर बराबर नजर रहा करती थी। कई वर्ष पहले जब मेरी किसी पत्रिका में शायद पहली या दूसरी कहानी छपी, मुझे याद है, उन्होंने मुझे फोन करके मुझसे उस कहानी के विषय में बातचीत की थी। यह थोड़ी-सी बातचीत मेरे जैसे सुनामधन्य युवा लेखक के लिए कितनी प्रेरणादायक रही होगी, आज बताना मुश्किल है। बाद में अशोकजी से बराबर भेंट होती रही। मैं उनकी सहज सादगी पर मुग्ध था। एक बार वे मुझे पार्क स्ट्रीट पर शायद टैक्सी स्टैंड तक छोड़ने जा रहे थे। रास्ते में एक रुकी हुई टैक्सी से कोई व्यापारी-सा लगनेवाला व्यक्ति बाहर आया और वह टैक्सी की छत पर रखे अपने सामान को निकालने के लिए किसी व्यक्ति को खोजने लगा। उसे अशोकजी को देखकर लगा कि यह व्यक्ति इसी किस्म के काम किया करता होगा। जब उसने अशोकजी से अपना सामान नीचे रखने में मदद माँगी, अशोकजी ने बिना किसी हिचक के उसकी मदद की और फिर चुपचाप मेरे साथ टैक्सी स्टैंड की ओर चल दिए। यह सब करते हुए उनके चेहरे पर लेशमात्र यह भाव नहीं था कि उस अज्ञानी व्यापारी ने उनका अपमान करने की चेष्टा की है। मुझे लगता है कि अशोकजी की दृष्टि में सभी काम एक जैसे गरिमापूर्ण थे। यह दृष्टि पारंपरिक भारतीय और बाद में महात्मा गांधी की दृष्टि से मेल खाती है।

यह सच है कि अशोकजी समाजवादी दृष्टि से प्रभावित रहे, पर इसका यह कतई आशय नहीं था कि वे अन्य सामाजिक, राजनैतिक और दार्शनिक दृष्टियों की अवहेलना करते रहे हों। मैंने उनमें हमेशा ही एक जिज्ञासु व्यक्ति को पाया। इस अर्थ में वे उन राजनैतिक व्यक्तियों से बिलकुल अलग थे जो अपनी राजनैतिक दृष्टि के अलावा किसी भी अन्य दृष्टि पर विचार करना आवश्यक नहीं समझते। इन वैचारिक दृष्टियों और साहित्य के प्रति इस उदारता के कारण अशोकजी से मिलनेवालों और उनसे संपर्क रखनेवालों में पर्याप्त विविधता थी। वे अपने सत्य पर अडिग रहकर भी औरों के अपने सत्यों का सम्मान कर सकते थे। यह गुण कम से कम उन व्यक्तियों में बहुत कम पाया जाता है जो किसी राजनैतिक दृष्टि से किसी हद तक संबद्ध रहते हैं। शायद राजनीति की यही सीमा भी है। अशोकजी अपने वैचारिक खुलेपन से स्वयं राजनीति की सीमाओं को विस्तृत करने का प्रयास करते रहे।

अशोक सेकसरिया ने साठ के दशक में अनेक खूबसूरत कहानियाँ लिखीं वे ये कहानियाँ अपने नाम से लिखने के साथ-साथ गुणेंद्र सिंह कंपानी के नाम से भी लिखा करते थे। वे दिल्ली के संभवत: सबसे पढ़े-लिखे लेखकों की मंडली के सदस्य भी उन दिनों थे। इस मंडली में निर्मल वर्मा, कमलेश, प्रयाग शुक्ल, जितेंद्र कुमार और अशोक वाजपेयी जैसे कवि और लेखक शामिल थे। ये लोग अक्सर साथ बैठकर साहित्य एवं राजनीति के विषयों पर लंबी-लंबी चर्चाएँ किया करते थे। अशोकजी एक समय पर आ कर कहानी लिखना छोड़ दिया था। वे अपना कहानी संग्रह प्रकाशित कराने तक के पक्ष में नहीं थे। पर उनके कुछ मित्रों ने बिना उन्हें बताये उनका एक कहानी संग्रह 'लेखकी' प्रकाशित कराया। इस प्रकाशन में अशोकजी के अनन्य मित्र प्रयाग शुक्ल की प्रमुख भूमिका थी। यह हिन्दी के पिछले 40 वर्षों में प्रकाशित बेहतर कहानी संग्रहों में एक है।

अशोकजी की मृत्यु हम सब लेखक मित्रों के लिए गहरा आघात तो है ही पर यह एक ऐसे व्यक्ति की मृत्यु हुई है जो गहरी मूल्यवत्ता का लगभग सारी उम्र वहन करता रहा। अब जब भी कोई युवा या वरिष्ठ लेखक कुछ बेहतर लिखेगा उसे सच्चे मन से सराहनेवाला एक पाठक नहीं होगा।

ड्रॉप आउट : अशोक सेकसरिया

मनोहर श्याम जोशी

अशोक सेकसरिया जो कुछ वर्ष पहले तक गुणेंद्र सिंह कंपानी के नाम से सन् साठ के बाद की कहानी का कल्याण करते रहे थे अब यह मानने के लिए भी तैयार नहीं हैं कि उन्होंने इस या किसी और नाम से कहानियाँ लिखीं। बीटनिक होने की बात इधर अक्सर फैशन के लिए की जाती रही है लेकिन यार लोग सही मायने में बोहेमियन तक बन नहीं पाते। अशोक इस माने में अपवाद हैं। सेहत, सफाई, लिबास, नाम और नामे के मामले में इतना लापरवाह आदमी ढूँढ़े नहीं मिलेगा। उन्होंने न सिर्फ महत्वपूर्ण बनना नहीं चाहा बल्कि जब भी उन्हें महत्वपूर्ण बनाने की कोई 'कुचेष्टा' की गई है तब उन्होंने यही माना है कि कोशिश करनेवाला उन्हें और दुनिया को 'बना रहा' है। अशोक ज्यादातर खेल-कूद और राजनीति की ही बातें करते पाए गए हैं और ये बातें भी उनके कंठ से लगभग असंबद्ध वाक्यांशों के रूप में ही फूटती हैं। जहाँ लंबी-चौड़ी बहस हो रही हो वहाँ अशोक चेहरे पर एक नि:शब्द हँसी का आवरण डालकर मानसिक और आध्यात्मिक रूप से सो जाते हैं । यों अगर कहीं रतजगेवाला डौल हो जाए तो वह डेढ़ दो बजे के करीब बड़ी-से-बड़ी बहस करने और बहस को बड़े-से-बड़े झगड़े की हद तक पहुँचाने की स्थिति में आ जाते हैं। अशोक सेकसरिया से मेरी बातचीत दिन-दोपहर और वह भी दफ्तरी आलम में हुई। लिहाजा बहुत कोंचे जाने पर भी उन्होंने शब्दों को मुँह में चबाते-घुमाते हुए इतना ही वक्तव्य दिया, 'अरे क्या यार बकवास—छोड़िए, मेरी कोई व्यूज ही नहीं है—कमिट क्या करना है—ओ इंटरव्यू—ड्राप कीजिए इसको- सारिका में है क्या? हद है !!' इसी अदा के कारण जनता यह कहती है कि अशोक भी हद हैं।

मनोहर श्याम जोशी ने सन 62 के आसपास 'सारिका' के लिए दिल्ली के नए-पुराने साहित्यकारों के व्यक्ति-चित्र प्रस्तुत किए थे जो 'एक और तसवीर' शीर्षक स्तंभ में छपते रहे। 'बातों-बातों में' पुस्तक में उन सबका संकलन 'राजधानी के सलीब पर कई मसीहे चेहरे' शीर्षक से हुआ है। उसमें शामिल अशोक सेकसरिया का यह 'व्यक्ति-चित्र' आभार सहित छापा जा रहा है।

बाबूजी

सुशीला राय

बाबूजी (अशोक सेकसरिया) के बारे में मैं क्या लिखूँ कुछ समझ में नहीं आता। मेरे पति बाबूजी के पास रहते थे और मैं गाँव में। बाबूजी को पता चला कि मैं पढ़ी-लिखी नहीं हूँ। बाबूजी हमेशा पत्र में लिखते कि तुम्हें हर हालत में पढ़ना है। जब भी कलकत्ता से चिट्ठी आती मैं बहुत खुश होती कि जरूर मेरे बाबूजी की चिट्ठी होगी। उनकी चिट्ठी में मेरे पति भी कुछ लिख दिया करते थे। मैं तुरंत सब काम छोड़कर किसी से चिट्ठी पढ़ाने दौड़ती। चिट्ठी का जवाब तुरंत तो मैं नहीं दे पाती क्योंकि लिखनेवाला कहता बाद में लिख दूँगा और इस तरह आज-कल करते-करते एक-दो सप्ताह बीत जाता और जब तक मैं जवाब न देती तब तक मेरी छटपटाहट बनी रहती। एक बार पत्र में लिखवाया—बाबूजी मैं जरूर अपने हाथ से चिट्ठी लिखकर भेजूँगी। इस बात को पढ़कर बाबूजी ने बहुत खुश होकर लिखा कि तुमने कमाल की बात लिखी है। बाबूजी महीने में छह-सात पत्र जरूर लिखते थे। मैं जवाब में एक-दो लिख पाती। इस तरह बाबूजी से मेरी बातचीत 15 साल तक चलती रही।

बाबूजी मेरे पति के साथ सन 1992 में मेरे गाँव (बिहार में) आए। घर पहुँचते ही तुरंत मेरे कमरे में आए और बोले सर पर से घूँघट हटाओ। इसके बाद मेरे पति को बुलाकर कहने लगे 'तुम बदमाश हो, तुम शहर के चमक-दमक के कारण बिगड़ गए हो। इतनी अच्छी पत्नी है और कहते हो तुम्हें पसंद नहीं है' बाबूजी मेरे पति पर घंटों घुनघुनाते रहे। वे मेरे ससुराल में पाँच दिन तक रहे। मुझे उतने दिनों में पता चल गया कि बाप-बेटी का क्या रिश्ता होता है। जब बाबूजी वापस कलकत्ता आने लगे, उस वक्त मेरे मन में आया कि क्यों न मैं भी उनके साथ कलकत्ता चलूँ? उन्होंने कहा कुछ दिन और गाँव में रहो। मैं बालेश्वर (मेरे पति) को कहूँगा कि तुम्हें कलकत्ता लेता आए। महीने दिन तक मेरे पति मेरे साथ गाँव में रहे लेकिन कोई भी ऐसा दिन नहीं था जिस दिन मैं बाबूजी के लिए व्याकुल न होती।

मेरे पति या उनके कोई परिचित गाँव आते तो बाबूजी मेरे लिए ढेर सारी कॉपी और किताबें भेज दिया करते और साथ में चिट्ठी होती कि 'सुशीला बेटी तुम रोज कम से कम एक-दो घंटे किताब देखकर लिखती रहना, समय मिले तो कहनी पढ़ना।' इस तरह मेरी पढ़ाई-लिखाई बाबूजी के निर्देशन में कलकत्ते से होने लगी। उनको जब भी मैं कोई चिट्ठी लिखती, तो वे सुधारकर मेरे पास वापस भेजे देते और कहते सुधारवाली चिट्ठी जरूर फिर से पढ़ना। मुझे आज भी याद है 1993 में मैंने पहली बार अपने हाथ से चिट्ठी लिखकर बाबूजी को भेजी। बाबूजी अति प्रसन्न हुए और उन्होंने किसी के हाथ चालीस-पचास अंतर्देशीय पत्र एक साथ भेज दिए और पत्र में लिखा कि 'तुमको अब चिट्ठी खरीदने के लिए पोस्ट ऑफिस नहीं जाना पड़ेगा। तुम हर सप्ताह एक पत्र जरूर लिखना।' मुझे लगा कि मेरे जीवन में मेरी रक्षा के लिए कोई 'अशोक सेकसरिया' नाम का व्यक्ति देवता बनकर आए हैं। मैंने मन ही मन उन्हें प्रणाम किया। मुझे जब समय मिलता किताब देखकर लिखती गई। बाबूजी अपने चिट्ठियों में लिखते कि सुशीला बेटी, लिखती रहना, छोड़ने से भूल जाओगी। मैं भी उनकी चिट्ठियों का जवाब देती रही पर मैं महीने में दो-तीन ही लिख पाती क्योंकि मैं बहुत धीरे-धीरे लिखती। मैं गाँव में रहकर उनसे चिट्ठियों से बात करती रही। उस समय टेलीफोन की सुविधा नहीं थी। पड़ोसी और गाँव के लोगों को आश्चर्य होता आखिर इतनी चिट्ठियाँ इस अनपढ़ औरत को कौन लिखता है? मुझसे कोई पूछता तो मैं तपाक से कहती कि, 'कलकत्ता में मेरे दूसरे बाबूजी भी हैं।' मेरे जीवन में बाबूजी जैसे व्यक्ति मिलेंगे, मैंने सपने में भी नहीं सोचा था। जब मैंने उनसे पहली बार बात की थी तब उसी समय मुझे समझ में आ गया था कि मेरा जीवन बदलनेवाला है। जैसे सीता माता को ऋषि बाल्मीकि ने बेटी बनाकर रखा और हर समय समझाते रहे कि 'बेटी तुम धीरज धरो।' जब मेरा परिचय बाबूजी से नहीं था तो मैं हर पढ़ी-लिखी औरत को देखकर उसके जैसी बनने के लिए तरसती रहती थी। जगह-जगह भटकती रहती थी कि किसको कहूँ कि वो मेरे पति को चिट्ठी लिख दे। सोचती कि किसी को अपने मन की बात बताऊँगी तो वह कहीं घर में सास-ससुर को न कह दे? कभी सोचने लगती कि पति कभी कह दे कि मैं पढ़ी-लिखी नहीं हूँ और मेरा त्याग कर दे, तो मैं क्या करूँगी? ये सब बातें सोचकर मैं हताश रहती। भगवान से प्रार्थना करने लगती कि मेरी सहायता कौन करेगा? मेरी यह प्रार्थना भगवान ने सुन ली और बाबूजी को भेज दिया। मुझे वे चिट्ठी लिखकर समझाते थे कि तुम क्यों रोती कलपती हो, तुम्हारे आनेवाले दिन चमकनेवाले हैं। वे मुझे पढ़ने के लिए छोटी-छोटी कहानियाँ भेजते और कहते—पढ़ते हुए तुम इन्हें देखकर लिखती जाओ। धीरे-धीरे तुम अपने मन की बात लिखने लगोगी। इससे न तुम इधर-उधर की बातों में आओगी और न ही तुम्हें किसी के ऊपर क्रोध आएगा और न किसी बात से चोट पहुँचेगी।

बाबूजी ऐसे व्यक्ति थे जो अपने बारे में न सोचकर हर वक्त

दूसरे के बारे में सोचते थे। अपने कष्ट और दुख को झेलते हुए दूसरों के सामने अपना दुख प्रकट नहीं करते थे। लेकिन दूसरे के कष्ट के बारे में जानकर उनके मन में बेचैनी रहती थी। यह सब देखकर मैं हैरान हो जाती। ऐसे मनुष्य के दर्शन पाने के लिए बहुत लोग हर पल, हर समय इंतजार करते हैं, तब जाकर उन्हें ऐसे व्यक्ति से मिलने का सौभाग्य प्राप्त होता है। सबसे बड़ी बात यह थी कि हर व्यक्ति के पास जाकर मनुष्य नहीं बना जा सकता। जो व्यक्ति अपनी भलाई न देखकर दूसरों की भलाई देखे, उससे बढ़कर भगवान और कौन हो सकता है। मैं बाबूजी के बारे में सोचने लगी कि वे कैसे मनुष्य हैं, जिनका जीवन दूसरों की भलाई करते-करते बीतता है। सबसे बड़ी बात यह थी कि गरीब से गरीब, छोटे से छोटा बाबूजी के लिए सब एक समान थे। वे सबका सम्मान करते थे। उनके मन में यह नहीं आता था 'मैं इतना बड़ा आदमी हूँ, यह मामूली आदमी मेरे पास आया है इससे मैं क्यों परिचय करूँ?' सबसे बड़ा बाबूजी में मैंने गुण देखा कि वे निरक्षर लोगों को साक्षर बनाने की कोशिश करते थे।

2003 में बाबूजी के कहने पर मेरे पति मुझे कलकत्ता ले आए। मैं तबसे बाबूजी के पास कलकत्ता में ही रहने लगी। एक बार मेरा चचेरा भाई मेरे पास रक्षाबंधन के पर्व पर आया था। बाबूजी बड़े प्यार से उससे पूछने लगे —बेटा तुम क्या काम करते हो? कितने पढ़े-लिखे हो? उसने कहा—बाबूजी मैं गाड़ी चलाने का काम करता हूँ, मैं पढ़ा-लिखा नहीं हूँ, किसी तरह अपना नाम लिख लेता हूँ। इस पर बाबूजी तुरंत बोले— तुम मेरे पास आ जाना, पढ़ा दूँगा। उसने कहा—मैं बहुत दूर रहता हूँ। तो बाबूजी ने कहा —सप्ताह में एक दिन आने से भी कुछ-कुछ लिख-पढ़ सकोगे। चचेरा भाई तो नहीं आया लेकिन इसके बदले विकास नामक एक घरेलू नौकर सप्ताह में कम से कम दो-तीन दिन जरूर आता। आज वह बैंक का काम खुद कर लेता है।

बाबूजी मुझे समझाते हुए कहते कि पढ़ो-लिखो, बच्चों से बातचीत करो, पढ़ाई-लिखाई के बारे में जो नहीं जानती हो वह मुझसे पूछो या अपने बेटे से पूछो (मेरे बेटे बाबूजी के पास ही रहते थे)। वे कहते तुम्हारा बेटा अखबार पढ़कर अंग्रेजी जानने लगा है। तुम भी अखबार पढ़ो, जगह-जगह की जानकारी मिलेगी। बहुत सारी महिलाओं का नाम लेकर कहने लगे—वे दिन भर काम करती हैं। इतनी मेहनत करने के बाद रात में पढ़ाई-लिखाई करती है। यह सब बात सुनकर मैं सोचने लगती थी कि दुनिया में इतने लोग हैं बाबूजी की तरह कहाँ है? कोई मिलने आता तो तुरंत चाय के लिए आवाज लगाते थे; दोपहर में खाना खाते समय कोई आ जाता तो मुझे कहने लगते, ''बेटा अपने लिए फिर बना लेना, इनको खिला दो।'' बाबूजी दुखी व्यक्ति को खाना खिलाते थे और अपनी बातों से उनका दुख भी दूर कर देते थे।

मेरा बेटा बचपन में पढ़ने में बहुत तेज था, पढ़ाई भी मन से करता था। उसे बाबूजी से ही प्रेम,भाव और ज्ञान मिलता था। बाबूजी जब भी किसी काम से घर के बाहर जाते तो उसे अवश्य ले जाते थे। उसकी मनपसंद चीज खिलाते थे। बाबूजी के साथ बातचीत भी बहुत करता था। यह सब देखकर मेरे पति खुश हो जाते थे और कहते थे कि दादाजी के पास रहकर रवींद्र जरूर कुछ बनेगा। बड़े होने पर बेटे का ध्यान भटकने पर मेरे पति बेटे को समझाते थे कि ''अशोकजी जैसे व्यक्ति के पास रहकर अगर तुम कुछ नहीं बनोगे तो बताओ कहाँ बन पाओगे? ऐसे गुणी से गुण और ज्ञान सीखने के लिए लोग न जाने कहाँ-कहाँ से आते हैं और एक तुम हो जो उनसे कटे रहते हो। ऐसे ज्ञानी के पास मनुष्य नहीं बन पाओगे तो कहीं नहीं बन पाओगे।

कहाँ-कहाँ के लोग अपनी-अपनी कहानी, कविता, उपन्यास बाबूजी से ठीक कराने के लिए आते थे। बाबूजी की आदत थी कि वे अपनी सारी किताबें और अखबार अपने पलंग के चारों तरफ फैलाकर रखते थे। मैं बाबूजी से कहती मुझे किताब सजाने दीजिए क्योंकि जो लोग घर में आते हैं सोचते होंगे कि मैं घर सँवारती नहीं। उस पर बाबूजी कहते कि ''उन्हें कहने दो और जो सामान इधर-उधर पड़ा है, पड़े रहने दो। तुम्हारे सजाने से मेरे जरूरी कागज खो जाएँगे।''

बाबूजी रात भर पढ़ते रहते थे क्योंकि दिन में बहुत सारे लोग आ जाते और उन लोगों से बातचीत करने में समय बीत जाता। उनको जो पढ़ना होता था रात भर में ही पढ़ जाते । सुबह तीन या चार बजे थोड़ा सोते थे। उम्र होने से बीच-बीच में तबीयत खराब हो जाती थी। कभी सर्दी लग जाती थी तो कभी पेशाब ज्यादा होने लगता था। कभी-कभी इतना परेशान हो जाते थे कि मैं डर जाती कि कुछ हो न जाए। तबीयत खराब होने पर वे बार-बार रट लगाते रहते थे— हमारे नहीं रहने पर तुम लोगों का क्या होगा? बहुत ही मुश्किल होगी, बच्चे लोग कहाँ रहेंगे? आजकल कौन किसको पूछता है। यह हम लोगों के नसीब में लिखा था कि हमें उनका ऐसा लाड़ और प्यार मिलता रहा। हम लोगों के गाँव समाज के लोग आते थे तो वे कहते— लोग मंदिर में पूजा-याचना करते हैं तब भी उनकी मनोकामना पूरी नहीं होती, तुम लोगों ने क्या किया जो बिना मंदिर गए ही रोज भगवान के दर्शन हो जाते हैं। यही बात मेरे पति भी कहते थे कि क्या पता यदि अशोकजी के पास नहीं रहता तो मेरा परिवार साथ रहता कि नहीं? या मैं अपने बच्चों को यहाँ लाकर पढ़ा पाता कि नहीं?

बाबूजी कुछ दिनों किसी बात के कारण परेशान रहते थे। नीचे उनके परिवार में कोई बात हो गई थी। न खाना खाते थे न ही रात-रात भर सोते थे। हर समय डरे-डरे जैसे रहते थे। कहते थे क्या होगा क्या नहीं? एक दिन खाना बनाकर मैंने कहा— बाबूजी आप आराम कीजिए, मैं बाजार से आती हूँ। वे तुरंत कहने लगे— नहीं-नहीं, चलो साथ चलो साथ में मैं भी चलता हूँ। मैंने कहा— आप मत जाइए, इतने घबराए हुए हैं। कहने लगे— नहीं, घर में डर लग रहा है। लगता है घर गिर जाएगा। मेरा जी घबरा रहा है। तुम्हारे साथ बाहर घूमकर अपने मन को मजबूत करूँगा। मैंने कहा—चलिए, आप जाएँगे तो बस से चलूँगी। कहने लगे—

नहीं, पैदल चलेंगे। फिर कहने लगे— ठहरो, मैं अपने से बात करता हूँ। कहने लगे— अशोक तुम ऐसा क्यों करते हो? ऐसे करने से कैसे काम चलेगा? अपने मन को शांत करो, इतना घबराने से मुश्किल होगी। बात करने के बाद कहा—चलो सुशीला। मैंने कहा— हाँ, चलिए देर हो रही है। यद्दुबाबू बाजार तक हम लोग बात करते-करते पैदल ही पहुँच गए। वहाँ जाकर मैंने बाबूजी से कहा कि आप तब तक घर (भवानीपुर में मेरे पति ने एक घर लिया हुआ था।) में जाकर आराम कीजिए, मैं सब्जी लेकर आती हूँ। बाबूजी ने कहा नहीं हम लोग साथ रहें। जहाँ-जहाँ मैं सब्जी लेने जाती थी वहाँ-वहाँ वे मेरे साथ-साथ जाते थे। सब्जी लाकर घर लौटते समय वे बोले— तुम आगे-आगे चलो, मैं पीछे चलता हूँ, कहीं तुम्हें गाड़ी कुचल न दे? मैंने कहा बाबूजी आप इतने बेचैन क्यों हो रहे हैं, मैं आपके साथ ही चल रही हूँ। रास्ते में हमसे पूछा— कुछ खाओगी? मैंने कहा—घर में खाना बनाकर आई हूँ। कहा—नहीं मेरे साथ कुछ खाओ। मैंने कहा क्या खाएँगे, तो कहा दालपूड़ी खाओ, घर में खाना देर से खाएँगे। दो-दो करके पूड़ी खाई और फिर वहाँ से घर आ गए। आते ही कहा, पानी दो। पानी पीकर कहने लगे —बहुत थक गए हैं, काम भी करना है। मैंने कहा पहले आराम कीजिए, फिर काम कीजिए। कुछ ही देर बाद देखती हूँ उठकर कोई किताब या अखबार फर्श पर बैठकर खोज रहे थे। मैंने पूछा—नीचे बैठकर क्या खोज रहे हैं? उन्होंने कहा— मैंने एक जरूरी कागज रखा था नहीं मिल रहा है। मैं भी ढूँढने लगी। मुझे कहने लगे, तुम सफाई करने में छेड़छाड़ कर देती हो, मैं तुम्हें बार-बार कहता हूँ जो जैसा है वैसा ही रहने दो। मैंने कहा बाबूजी ठीक से याद कीजिए। मैंने कोई भी कागज इधर-उधर नहीं किया। मुझे ख्याल आया कहीं अलमारी में तो नहीं रख दिया है। वहाँ मिल गया, मैंने दिखाया और कहा देखिए ये कागज है? कहा हाँ मैं सचमुच पागल हो गया हूँ। सोच बैठा कि तुम्हीं ने इधर- उधर कर दिया था। कोई काम से या सिगरेट लाने घर से बाहर जाने लगते तो मुझे बार-बार आकर कहते, किसी का फोन आएगा तो तुम नाम पूछ लेना और क्या बात है,यह भी पूछ लेना। या अगर कोई आए तो कहना, बैठिए बाबूजी आ रहे हैं। मैंने मजाक में कहा, हाँ अगर नहीं बैठेंगे तो हाथ पकड़कर बैठा दूँगी। आप जल्दी आ जाइए। कहीं जाने लगते तो मैं कहती, बाबूजी कपड़ा बदल लीजिए तो कहते मैं जल्दी-जल्दी कपड़ा इसलिए नहीं बदलता हूँ कि तुम्हारा काम बढ़ जाएगा। एक बार पोस्ट आफिस जा रहे थे। रास्ते में मोटरसाइकिल वाले ने बाबूजी के कुरते में अपना हैंडल या कुछ लगा दिया। इससे बाबूजी का कुरता-पायजामा दोनों फट गए। घर आते ही कहा, सुशीला इधर आओ, देखो मेरी मौत नहीं आई, पर कुरता पायजामा फट गया।

मैं घबराकर पूछने लगी कि कहीं चोट तो नहीं लगी। इसके बाद कहीं अकेले जाने लगते तो घर में रवींद्र या अवनींद्र रहते तो मैं कहती बच्चों को साथ ले लीजिए। आप बीच रास्ते से चलते रहते हैं। उस दिन अगर बड़ी गाड़ी से टक्कर होती तो क्या होता, आपको फुटपाथ पर चलना चाहिए।

2006 में बाबूजी के भाई दिलीपबाबू की तबीयत खराब हुई तो उन्हें अस्पताल में भर्ती करवाया गया। एक महीने तक बाबूजी सुबह-शाम भतीजे के साथ भाई से मिलने जाते थे। उसी अस्पताल में एक और लड़का भर्ती था। पैसे की लाचारी के कारण उसका इलाज बढ़िया से नहीं हो रहा था। इस बात का पता बाबूजी का चल गया क्योंकि उनकी आदत थी किसी की भी मजबूरी जानने की। वहाँ से आए तो मुझे पुकारा, सुशीला इधर आओ। आवाज से मैं समझ गई परेशान हैं एक गिलास पानी लेकर आई। मैंने कहा पानी पी लीजिए।कैसे हैं दिलीपबाबू? कहा—वे तो ठीक है लेकिन एक और मुसीबत आ गई है। मैंने कहा— क्या हुआ? तो कहने लगे—एक गरीब बेचारा मुसीबत में पड़ा है। उसी रात को ग्यारह बजे भतीजे का फोन आया कि पापा की तबीयत बिगड़ गई है सो जाना पड़ेगा। भाई की चिंता से रात-रात भर सोते नहीं थे। हर समय गुमसुम रहते थे। उस समय हम लोगों ने भी भवानीपुर जाना छोड़ दिया था। बाबूजी ने मुझे कहा, मैं अस्पताल जा रहा हूँ, दिलीपबाबू की तबीयत बिगड़ गई है। फिर अलमारी से पैसा निकालकर मुझे दिया और कहा—गिनो पाँच हजार हैं ना, मैं बाथरूम से आता हूँ। मैंने कहा इतनी रात को किसी को कैसे देंगे? बोले—जरूरी है देना।

कभी-कभी कहते थे—सुशीला अगर दो-तीन साल में मैं नहीं मरा तो बहुत ही मुश्किल होगी। मैं कहती—बाबूजी अभी आप नहीं मरेंगे। इतने लोगों को जो आप खिला रहे हैं उनका क्या होगा। जो बीच-बीच में अपनी बात आपको सुनाती रहती हूँ, किसको सुनाऊँगी। जिस दिन बाबूजी पलंग से उठते समय गिर गए थे उस दिन मैं घर में नहीं थी। बाजार से जब लौटी तो देखती हूँ बाबूजी पलंग के किनारे बैठे थे, मेरे दोनों बेटों ने किसी तरह बैठा दिया था। जिस तरह कर पैर फैलाकर बैठे थे यह देखकर मैंने पूछा कि ऐसे क्यों बैठे हैं? इतने में अवनींद्र ने कहा कि दादाजी गिर गए हैं। यह सुनकर मेरे तो होश उड़ गए, मैंने पूछा कैसे? कहा, पलंग से उठते समय। तीनों माँ-बेटे पकड़कर उठाने लगे तो देखा बायाँ पैर घूमने लगा, यह देखकर मैं हैरान रह गई। मैंने बेटे को कहा बाबूजी के भतीजे मुन्नाबाबू को बुलाओ क्योंकि उस समय घर में मेरे पति भी नहीं थे। बाबूजी ने कहा,नहीं मुन्नाबाबू को मत बुलाओ, वो सो रहा होगा। जिस समय गिरे उस समय उनको लगा कि मोच आई है। दर्द के बारे में बता रहे थे, पता नहीं कहाँ दर्द हो रहा है। साहसी आदमी सह रहे थे। जो लोग घर बाबूजी से मिलने आते थे वे कहते, अगर कोई दूसरा होता तो दर्द से चिल्लाते-चिल्लाते आप लोगों को परेशान करता। बाबूजी मुझे बार-बार कहते सुशीला, तुमको बहुत कष्ट दे दिया बेटा, इतना करना पड़ता है। आप इतना दर्द सह रहे हैं, सो कुछ नहीं, मेरे कष्ट को देख रहे हैं। जब मैं बीमार पड़ती और देख लेते कि चादर ओढ़ के सो गई, बस उनको परेशानी होने लगती। बार-बार आकर पूछने लगते सुशीला तबीयत खराब हो गई?मेरे पति से

आकर बार-बार पूछते बालेश्वरजी सुशीला को क्या हो गया? वे कहते क्या हुआ होगा, दवा खाएगी ठीक हो जाएगी। इसमें परेशानी की क्या बात है। तब मेरे पास आते और पूछते सुशीला सर दर्द करता है। कुछ खा लो। नहीं बाबूजी अभी कुछ खाने का मन नहीं कर रहा है, थोड़ी देर आराम करने दीजिए। लेकिन उनको चैन कहाँ? कुछ देर के लिए चले जाते, फिर आते, बेटा अब कैसी हो? पहले से आराम है। बाबूजी अभी तो पूछ के गए हैं, कुछ देर जाने दीजिए न। कहते, हमको अच्छा नहीं लगता है बेटा। पता नहीं मेरे मन में क्या-क्या आने लगता है। कहते पानी पी लो, चाय पियोगी? बना देते हैं। कहती नहीं बाबूजी कुछ भी खाने-पीने का मन नहीं है। जरा सा बुखार लगने पर तुरंत कहते, मलेरिया का खून टेस्ट कराओ। कितनी बार तो अपने साथ ले जाते थे। किसी दिन ऐसा नहीं होता जो वे नहीं पूछते, आज सर दर्द कैसा है, हाथ दर्द कम है न।

बाबूजी के जाने के बाद लगता है, अब यदि मेरी तबीयत खराब होगी तो कौन है जो मुझे बार-बार आकर पूछेगा। बच्चे अपनी दुनिया में मगन रहते हैं, पति ऑफिस में रहते हैं। मैं अकेली घुटती रहूँगी। अब मुझे पता चल रहा है कि एक पिता का प्यार क्या होता है, जब तक रहूँगी तब तक लगता रहेगा कि मेरे सिर पर ऐसे स्नेही पिता का साया नहीं रहा। मैं किचन में रहती हूँ तो लगता रहता है बाबूजी मुझे बुला रहे हैं। सुशीला इधर आओ, बेटा चाय दोगी। कभी लगता है पलंग पर बैठे सिगरेट पी रहे हैं।

मेरे लिए भारत बदल गया

इमरै बंघा

अशोकजी नहीं रहे- मुझे ई-मेल में कभी ऐसे दुखद तीन शब्द नहीं मिले। अशोक सेकसरिया को मैं पिछले बीस साल से जानता था और मेरी प्राय: सालाना कोलकाता-यात्राओं में ऐसी एक भी न रही जिसमें उनसे न मिला। अब मुझे आश्चर्य है कि अशोकजी के जीवन के बारे में मैं कितना कम जानता हूँ। इसका कारण सिर्फ यह नहीं है कि उनको अपने बारे में बोलना पसंद नहीं था। उनके सान्निध्य में यह महसूस होता था कि जो बातें हम कर रहे हैं उनका महत्व खुद हमसे बहुत अधिक है।

मेरे जैसे बहुत सारे साहित्य-प्रेमी उनके घर जाया करते थे। उनसे बात करने से हम उनकी पैनी विवेक-दृष्टि का लाभ उठाते थे और उनसे हमको प्रेरणा मिलती थी। वे दुनिया की बड़ी बातें नहीं करते थे, लेकिन इस विषय में कि हिंदी साहित्य में किसका महत्व क्यों अधिक या कम है उनसे हमेशा विचारणीय तर्क मिलते थे। हालाँकि उनका सोच आधुनिक था फिर भी उनका सरल जीवन देखने में हजारों साल पुरानी संस्कृति का अनुभव होता था।

मेरे लेखों की भी वे प्रशंसा या आलोचना करते थे। उनकी प्रशंसा का महत्व इसलिए ज्यादा था कि अगर एक रचना में उनको कमी दिखाई दी तो वे केवल शिष्टाचारवश चुप नहीं रहते। मेरे जीवन के विशेष सुंदर दिन वे थे जब मेरी हिंदी किताब 'सनेह को मारग' को प्रकाशक को देने से पहले उन्होंने मेरे साथ तीन-चार दिन बैठकर पढ़ा,उसकी भाषा को सुधार दिया और साथ-साथ उसकी विषय वस्तु का भी विवेचन किया। बाद में किताब की क्या चर्चा हो रही है, इसके बारे में भी मुझे जानकारी अक्सर अशोकजी से ही मिली। आजकल बहुत विदेशी विद्वान हिन्दी के बारे में लिखते हैं,लेकिन हिंदी में लिखनेवाले कम हैं- हम विदेशियों को अशोकजी जैसे लोगों की आवश्यकता है जो न केवल भाषा को सुधारें बल्कि यह भी विश्वास रखें कि ऐसा काम जरूरी है।

उनके यहाँ जाकर वरिष्ठ या युवा साहित्यकारों से परिचित होने का मौका मिलता था। अलका सरावगी और प्रयाग शुक्ल से मेरा व्यक्तिगत संपर्क उनके लॉर्ड सिन्हा रोड़वाले घर में ही शुरू हुआ था। प्रो. रामदेव शुक्ल के काम के महत्व के बारे में भी अशोकजी से ही जानकारी मिली।

जब मैं शांतिनिकेतन में हिंदी का छात्र था-और उसके बाद भी- अशोकजी ने मेरे लिए बार-बार अपने घर में ही टिकने की व्यवस्था कराई। वे कुछ भी स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। मुश्किल से, बहुत बहस के बाद कुछ फल या मिठाई स्वीकार करते और फिर उसे उनके यहाँ रहनेवाले बालेश्वरजी के परिवार को दे देते।

अशोकजी के लिए साहित्य और कला सिर्फ सुंदरता पैदा करने का साधन नहीं था बल्कि दुनिया को और अधिक अच्छी करने का माध्यम था। उनकी रुचि न सिर्फ राजनीति में थी बल्कि उनके निकट रहनेवाले लोगों के कल्याण में भी-खास तौर से ऐसी महिलाओं की जिनके पास अपने विकास के लिए साधन कम थे। जब मैंने उनके घर रहनेवाले बालेश्वरजी की पत्नी सुशीला राय की किताब 'एक अनपढ़ कहानी' पढ़ी तो उसमें एक पात्र द्वारा चित्रित मदद देनेवाले अशोकजी बिलकुल वही थे जिसको मैं जानता था। अशोकजी ने और कितने ऐसे लोगों की सहायता की होगी जिनके बारे में मुझे कोई जानकारी नहीं है।

इन पंक्तियों को लिखते-लिखते मुझे फिर अशोकजी का सान्निध्य महसूस हुआ और शांति मिली। उनके न रहने से मेरा भारत बदल गया और दुनिया सिकुड़ गई लेकिन उनसे मिली प्रेरणा हम बहुतों में आजीवन बनी रहेगी।

परिष्कार का आसमान और मामूलियत की जमीन

शंपा शाह

हर्मन हेस्से की कहानी है–'बार्टलबी'। उसमें एक युवा विधवा माँ को अपने नवजात बेटे के लिए कोई एक वरदान माँगने का अवसर मिलता है। वह माँगती है कि सारी दुनिया उसके बच्चे को अपार प्रेम करे। इस स्याह कहानी में अहेतुक, अकारण प्रेम नायक पर ताउम्र बरसता रहता है पर वह सूखी, परती जमीन बना रहता है क्योंकि वह खुद प्रेम की अनुभूति को जानता ही नहीं है। कहानी की युवा माँ वर माँगते ही जान गई थी कि उससे अनर्थ हो गया है। उसने यह माँगने के बजाए कि उसका बेटा संसार में सबसे प्यार करे, इसके ठीक उलट माँग लिया था और ऐसा करते ही इन्सानियत को सर के बल खड़ा पाया था।

शुक्र है कि असल जीवन हमें ऐसा कोई वरदान चुनने का मौका नहीं देता। लेकिन हम सब अंदर ही अंदर कहीं यही चाहते हैं कि दुनिया हमें पसंद करे, हमारा सम्मान करे। हमें दूसरों से कुछ ऊपर आँके। इसके लिए हम लगातार कोशिश भी करते हैं। दूसरे के प्रति दया, सहानुभूति, मदद, सेवा जैसी अत्यंत मानवीय और निःस्वार्थ जान पड़ती क्रियाओं के पीछे भी अक्सर सबकी और खुद की निगाह में ऊँचा उठने, उनसे सम्मान पाने की इच्छा ही मूल में रहती है। इसलिए मदद या सहानुभूति के बदले यदि अगला पर्याप्त विनम्र, कृत-कृत्य होने का भाव नहीं झलकाता तो हमारी सहानुभूति न केवल काफूर हो जाती है बल्कि उसका तेवर बदलकर आक्रामक हो उठता है। यहाँ तक कि अगले को अब हम यथासंभव ठेस और नुकसान पहुँचाने को बावले हो उठते हैं। जिस तरह बिना शर्त इस मनुष्यता को चेखव, अब्बास किरस्तमी या वान गॉग प्रेम करते हैं उसके लिए सृष्टि के हर कीट-पतंगे, हर कोंपल के फूटने, पत्ती के टूटने, बुझती आँख की मलिन रोशनी और नवजात शिशु की आँख के आलोक से प्रेम की आँच चुरा सके ऐसा हृदय चाहिए।

बात का कुल लुब्बेलुबाब यह कि सबको प्रेम करें- अहेतुक, अकारण ऐसा कम ही लोग सोचते और बिरले ही कोई कर पाते हैं। अशोक सेकसरिया को जानने और करीब से जाननेवालों की संख्या बहुत बड़ी है। उनमें से लगभग हर व्यक्ति यह महसूस कर सकता है कि वे उसे बहुत पसंद करते थे और उनका आपसी रिश्ता कुछ खास था। वे घोषित रूप से कवि नहीं थे, पर यदि उनकी कविताएँ यकायक सामने आएँ और उनमें कुछ प्रेम कविताएँ हों तो उनको जाननेवाली हर स्त्री को यह शुबहा हो सकता है कि कविता के केंद्र में वही है। अशोक सेकसरिया के पास यह जादू था। उनके पास नाम,धन, ओहदे आदि किसी तरह की कोई सत्ता नहीं थी, (उन्होंने चाही नहीं वरना हो ही सकती थी) वे किसी को किसी तरह का सांसारिक लाभ नहीं पहुँचा सकते थे फिर भी उनके दोस्तों और चाहनेवालों की सूची अन्य किसी भी हिंदी लेखक से यदि अधिक लंबी है तो सिर्फ इसलिए कि उनके पास दूसरे के अत्यंत साधारण जीवन में अर्थवत्ता ढूँढ़ निकालने और इसका अहसास उसमें पैदा कर देने की जादुई फितरत थी।

उनके बड़े से उजले कमरे में उन दिनों एक पुराने गलीचे और कोने में किताबों के एक रैक के अलावा कुछ भी नहीं था। गलीचा कमरे के बीचोंबीच बिछा रहता और उस पर महफिलें उठती-जुटती रहतीं। वह कमरा स्मृति में अबाधित समय के महासागर सा और वह कालीन धूप में नहाए द्वीप सा जिस पर डूबते उतरते हम सबकी छवि एक साथ बहुत पुरानी और ताजा है। घर में लोगों का आना-जाना लगा ही रहता था। वे बहुतेरा किसी की बात से प्रभावितहो उसे लिखने, लिखकर खुद को अभिव्यक्त करने की सलाह देते रहते। मैंने एक बार मौका देखकर उनसे पूछा-आपने खुद कहानियाँ लिखना बंद कर दिया और सबको लेखक बनाने पर आमादा रहते हैं? वे सिगरेट सुलगाने के लिए माचिस ढूँढने लगे और बोले-"अपना लिखा व्यर्थ लगता है लेकिन लेखन अपने में तो बहुत महत्वपूर्ण है।" मैंने प्रतिवाद करने की कोशिश की लेकिन उन्होंने बड़ी चतुराई से बातचीत की दिशा साहित्य की बृहत्तर भूमिका, काफ्का की आनेवाले समय की किसी भविष्यवक्ता सी दूरदृष्टि आदि की तरफ मोड़ दी। वे अपने लिखे पर बिलकुल बात नहीं करते थे और घुमा-फिराकर हमसे हमारे लेखन व अन्य रुचियों आदि के बारे में चर्चा करने लगते थे। एक लेखक के लिए अपने खुद के लेखन बल्कि अपने से जुड़ी हर बात को लेकर ऐसी गहरी उदासीनता के साथ रहने का आमतौर पर मतलब होता है—अवसाद में डूब जाना और अपने आस-पास, देश-दुनिया के प्रति उदासीन हो जाना। किंतु अशोक सेकसरिया के मामले में ऐसा बिलकुल नहीं था। इसके उलट उनकी चिंता के केंद्र में समाज में आ रहे छोटे-बड़े बदलाव मसलन अब सादे पानी के नलके रेल स्टेशनों पर होते हैं या नहीं? अब बच्चों को सादा दूध क्या दिया ही नहीं जाता? आर्थिक सामाजिक रूप से पिछड़े तबके के प्रति समाज में सिकुड़ती जगह और बढ़ती उदासीनता लगातार बने रहते। उनसे जुड़े तमाम लोगों की छोटी-बड़ी परेशानियाँ उन्हें सचमुच परेशान करतीं और वे भरसक हर ऐसी मुश्किल में दिल से उनके साथ, उनके पास होते। अपने से इतर 'दूसरे' की इतनी अपनों जैसी मरने-खपनेवाली चिंता व प्यार करना मैंने सिर्फ अशोक सेकसरिया और कवि कहानीकार नवीन सागर में देखी है। दूसरे से इतना प्यार करने, उससे गहरा एका

महसूस करनेवाले ये दो ऐसे नायाब शख्सों को जानना आज के समय में एक अजूबे, एक किंवदंती को जानने जैसा है। संयोग से ये दोनों ही ताउम्र लोहिया और समाजवादी आंदोलन से गहरे जुड़े रहे। हिंदी साहित्य में गहरी मानवीय संवेदनशीलता और आधुनिक भारतीय मानस की दुविधा और त्रास को चिन्हित करनेवाले ये दो महत्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। कला और साहित्य में टिकाऊपन और अर्थवत्ता का सही आकलन समय ही करता आया है और मानना चाहिए कि करेगा। यह बात अलग है कि मन में ग़ालिब की पंक्तियाँ फिर भी हूक सी बनकर उठती हैं–

आह को चाहिए एक उम्र असर होने तक
कौन जीता है तेरी जुल्फ के सर होने तक

लेकिन इन दो समाजवादियों और साहित्यकारों में एक और जबरदस्त समानता है। इन दोनों की कहानियों के किरदार अत्यंत साधारण पृष्ठभूमि के और अक्सर मामूली चारित्रिक कमजोरियोंवाले हर तरह से वध्य भारतीय चरित्र हैं किंतु अपने असल जीवन में इन दोनों ने ही उन कमजोरियों से लगातार लड़ते हुए खुद को इतना परिष्कृत किया कि एक तरह से 'मोर देन लाइफ साइज' जीवन जीया। इनसे जुड़े लोग बार–बार यह ताकीद करेंगे कि इनके उस तरह से होने में, जिस तरह से वे थे कुछ मिथकीय, कुछ किंवदंती में घटित हुए होने जैसा था।

अशोक सेकसरिया को तो यह गवारा नहीं ही होता पर मुझे भी नहीं लगता कि वे संत या कोई महान व्यक्ति थे। मेरे अनुभव में तो वे लगभग सारी औसत मानव कमजोरियों से घिरे रहते थे पर फर्क यही है कि उन्होंने उनके आगे समर्पण नहीं किया, वे लगातार और अंतिम क्षण तक उनसे लड़ते रहे। मनुष्य के रूप में एक साथ लगातार खुद को परिष्कृत करते जाना और फिर भी 'साधारण', 'मामूली' की जमीन में पाँव गाड़े रखना– ये दो लगभग आसमान और धरती जैसे उलट नजर आते ध्रुवों को जीवन में एक साथ साधना अशोक सेकसरिया की नायाब उपलब्धि है। खुद पर लगातार काम, खुद को परिष्कृत करने की अद्‌भुत मिसाल अज्ञेय भी हैं पर उन्हें 'साधारण' या 'मामूली' नहीं कहा जा सकता। यह तुलना अद्वितीयता और मामूलीयत में से एक को वरीयता देने के लिए नहीं बल्कि दोनों को समझने और दोनों की अलग अहमियत को पहचानने के लिए है।

अशोक सेकसरिया के केवल बहारी व्यक्तित्व से परिचित लोगों को इस बात का अंदाजा कम ही होगा कि पाक कला से लेकर तमाम कलाओं, खेल की बारीकियों के वे कितने जानकार और रसिक थे। वे सौंदर्य और सौष्ठव के कायल न थे सो बात नहीं थी पर उनके लिए अंत में सादगी और सहजता ही सबसे बड़े मूल्य थे। वे खुद जिस तरह से रहते थे वह उनके लिए कोई आदर्श न होकर एक तरह का व्रत था जिसको अलका सरावगी ने उन पर लिखे मार्मिक संस्मरण 'जहाँ तलाश खत्म हो जाती है' में रेखांकित किया है। उनके शब्दों में, ''उन्होंने अपने को बिलकुल ताकतविहीन बनाने का संकल्प लिया था ताकि वे इस देश के सबसे कमजोर आदमी का दर्द महसूस कर सकें।''

इस बात का जिक्र उन्होंने खुद कभी नहीं किया होगा क्योंकि वे खुद के बारे में तो बात करते ही नहीं थे। हालाँकि, जहाँ वे किसी अलिखित किंतु अत्यंत कठोर आचार संहिता से बँधे थे, वहीं दूसरों पर ऐसा कोई नियम उन्होंने शायद ही लागू किया हो। ऐसा नहीं कि वे अपनी असहमति या नाखुशी व्यक्त करने में कोई कोताही बरतते थे पर वे इन बातों को संबंधों के बीच कभी नहीं आने देते थे। इसी लिए बहुधा वे लोग जिनकी आपस में मित्रता न निभ पाती,वे दो खासे भिन्न लोग भी उनके अभिन्न बने रहते थे।

वे लिखना बंद तो कभी नहीं कर पाए किंतु जितना उन्हें लिखना चाहिए था उतना तो उन्होंने निश्चित ही नहीं लिखा। कारण क्या रहे यह तो कोई नहीं जानता पर एकाधिक कारण रहे होंगे। संभवत: यहाँ भी उनके खुद के मापदंड ही सबसे अधिक आड़े आए होंगे। एक लेखक–कलाकार के लिए अपने लिखे– किए से असंतोष भी अवश्य होता है पर कुछ लगाव भी तो जरूरी है– सृजन की बेल को फैलने के लिए कुछ तो छाँह चाहिए? यहाँ भी दूसरों के लेखन को लेकर उनके मापदंड पर्याप्त शिथिल थे। वे एक विद्यार्थी की सी उत्सुकता से हिंदी की तमाम पत्र–पत्रिकाएँ पढ़ते और आज, इस समय के मानस को समझने की कोशिश करते थे। किसी गुमनाम पत्रिका में भी कुछ छपता तो उनकी नजर से न बचता और वे फौरन फोन या चिट्‌ठी से उसके बारे में बात करते। एक बार मैंने आश्चर्य व्यक्त किया कि उन्हें यह पत्रिका कैसे हाथ लग गई तो वे हँसकर बोले–'' हाँ यह पत्रिका मैंने भी पहले कभी नहीं देखी थी, पर तुम्हारे परिवार के किसी भी सदस्य का कहीं कुछ छपता है तो मुझ तक पहुँच ही जाता है तुम लोगों का लिखा पढ़ना मेरी नियति है। '' किशन पटनायक और अनुपम मिश्र के लिखे के हम दोनों ही कायल थे लिहाजा कई बार जब इनका कोई लेख कहीं भी छपता तो वे फौरन मुझे फोन कर खबर करते या फोटोकॉपी भिजवाते।

उनके सरोकारों का दायरा इतना बड़ा था और चिंताएँ इतनी गहरी थीं कि जब इस दुनिया में उनके न रहने की खबर आई तो पहली प्रतिक्रिया जो मन में अनायास उठी वह ये थी कि चलो अब उन्हें लगातार बढ़ते मॉल, बड़ी–बड़ी गाड़ियों के शीशेबंद, ऑल–प्रूफ, पूरी तरह से उपभोक्ता, बल्कि उपभोक्त मानवता में बदलते समाज के संकट से निजात मिल गई...।

दूसरी बात जो ख्याल आई वह भी बड़ी राहत सी थी कि चलो मुझे यह खबर माँ (ज्योत्स्ना मिलन) को नहीं देनी पड़ेगी क्योंकि वे भी कुछ माह पूर्व ही इस दुनिया को छोड़ चुकी थीं। इन दो सरल हृदय लोगों के तार आपस में बहुत जुड़े हुए थे। माँ ने अशोक सेकसरिया के व्यक्तित्व पर केंद्रित एक कहानी लिखी थी–''यह भी नहीं थी उसके अच्छा लगने की वजह।'' अशोक सेकसरिया के तरल व्यक्तित्व को यह कहानी उतनी ही तरलता से झिलमिलाती है। अशोकजी के जाने से यह दुनिया बेहद सूनी हुई है पर वे हमारे दिलों में उतनी ही बेवजह राज करते रहेंगे जैसे कि शायद कभी हमारा उनके दिल पर राज था –बेवजह!

मैंने अपने पिता को उनके मार्फत समझा

शर्मिला जालान

मैं एक छोटे से शहर की संकोची, अपने में सिमटी एक ऐसी लड़की थी जिसकी दुनिया घर-परिवार और कुछ सहेलियों तक फैली हुई थी। जो कोलकाता महानगर को अपना नहीं पा रही थी। अपनी नासमझ और मासूम नजरों से दुनिया को देखती हुई, अविकसित और लंपट संसार से सँभलती हुई कच्ची पगडंडी पर उस समय लिखी गई अपनी एकमात्र कहानी को लेकर चल रही थी कि अशोकजी मिले। वे उस कहानी के पाठक बने। वैसे उस कहानी को पहले भी दो विदुषी पाठक मिल चुके थे पर अशोकजी की बात कुछ अलग थी। बोले-अच्छी कहानी है, एक बार फिर लिखना चाहिए। सोचिए। फिर उन्होंने कुछ बातें पूछनी शुरू कर दी। एक के बाद एक बातों के तार निकलते ही गए और उस पहली मुलाकात में ही वह ताड़ गए कि मेरे मन में एक बहुत बड़ा 'गुबार' है। अपने सख्त व कठोर स्वभाव के पिता के प्रति। वे पिताजी की बात खोद-खोदकर पूछने लगे और जान-समझ गए कि मेरा मन क्यों और किन कारणों से भारी रहता है। इस प्रक्रिया में मैं उनसे खुल गई। मैं उनसे बार-बार मिलने लगी वे हर बात गंभीरता से सुनते,कहते 'हाँ', विस्मय उनकी आँखों में बना रहता। वे टकटकी बाँधकर देखते जाते मानो कहीं और देख रहे हों। उनका मामूली बातों को ध्यान से सुनना, उस पर संवाद करना मुझे आश्वस्त करता कि जो भी कहती हूँ वह सब निरर्थक बातें नहीं हैं उनसे कथा बुनी जा सकती है सो उन दिनों मैंने जोश और उत्साह में कई कहानियाँ लिख डालीं। मैं टुइयाँ सी एक लड़की नन्हीं लेखिका बन बैठी; और मेरा साहस तो देखिए मैंने पूरा का पूरा एक साबुत उपन्यास भी लिख डाला।

गर्मी की दोपहर उन दिनों कहानी उपन्यास के 'पाठ' में बीतती। वे चाय पीते, सिगरेट सुलगाते कहते—सुनाओ। एकाग्र होकर सुनते, बहुत सोचकर प्रतिक्रिया देते। बीच-बीच में शौचालय चले जाते और कुछ सोचते हुए निकलते। कभी किसी कहानी का दो-तीन शीर्षक सुझाते कभी कहानी के किसी भाग और शब्द से जुड़ी अन्य कई कहानियाँ और प्रसंग सुनाते। कहानी पर भरपूर चर्चा होती। कहानी से 'इतर' जो चर्चाएँ होतीं उनको सँजोकर रखने के संस्कार अगर मुझमें होते तो सच मानिए आपको पता चलता कि वे कितनी दिलचस्प ज्ञानवर्द्धक प्रेरणादायक और उत्साहपूर्ण हुआ करतीं। उनमें से कथा-कहानी-उपन्यास लिखने की कई विधि-प्रविधि भी खोज निकाली जा सकती थी।

वे कहानी को कई बार लिखने को कहते कि दम निकल जाता। जीवन-जगत की ढेर सारी बातें होतीं। बहुत मन लगता। सारी गाँठें खुल जातीं। हम बच्चे बन जाते। बहुत मजा भी आता जब किसी की आलोचना करते पर यह 'निंदा' परनिंदा में रस लेना जैसा नहीं होता। यह कुछ दूसरी तरह का होता जिसमें अशोकजी का यह भाव रहता कि जिस इन्सान की हम आलोचना कर रहे हैं वह अविकसित और मूर्ख इसलिए है कि उसे संसुस्कृत अभिभावक, संस्कार और पृष्ठभूमि नहीं मिली। मैंने बुद्ध को नहीं देखा पर जो पढ़ा, सुना बुद्ध करुणा शब्द के पर्याय थे। शायद अशोकजी भी कुछ-कुछ बुद्ध की ही तरह के थे।

मैं जब भी उनके पास जाती वे या तो कोई अखबार पढ़ रहे होते या फिर किसी को पत्र लिख रहे होते। एक शब्द को लेकर शब्दकोश खँगाल डालते। पूरी दुनिया जब अपने में व्यस्त होती— महिलाएँ अपनी गृहस्थी में, पुरुष दफ्तर में, बच्चे स्कूल, कॉलेज में, अशोकजी गंभीरता से कुछ लिखते -पढ़ते दिखाई पड़ते। क्या वे ऊबते नहीं थे? कहाँ से रस खींचते थे? कई बार वे कहते लेखक बोर नहीं होता। यह पूरे समय का ऑक्यूपेशन है। मैंने जहाँ तक मुझे याद है कभी उन्हें ऊबते नहीं देखा। उनके कई मित्रों को जानती हूँ जो अशोकजी की उम्र में आकर नौकरी और परिवार की जिम्मेदारियों से निवृत हो अकेलापन महसूस करने लगे थे। किसी से बात, संवाद करें—यह कमी महसूस करने लगे थे। पर अशोकजी के साथ ऐसा कुछ होता था मुझे तो नहीं लगता। हर समय उनको लिखते-पढ़ते हुए देखकर मैं विनोद में कहती—आप क्या एम.बी.ए. की तैयारी कर रहे हैं? वे सुनकर कोई जवाब नहीं देते, मुस्काते भी तो नहीं थे।

मैं कुछ दिनों के अंतराल के बाद जब उनसे मिलने आती वह पूछते कैसे किस सवारी से आई? गाड़ी बस या टैक्सी? टैक्सी का भाड़ा कितना लग गया? विवाह के बाद शशांक के जन्म के बाद यह पूछते शशांक के स्कूल की फीस कितनी है? बच्चों के कपड़े कितने महँगे हो गए हैं?

पैसों का हिसाब-किताब,पैसों की खोज-खबर खोद-खोदकर लेते। उत्खनन चलता जाता। फिर अपने पाई-पाई का हिसाब जो उनकी उँगलियों पर होता धीरे-धीरे बताते। इस प्रक्रिया में जो बातें घटती वह यह कि मैं स्वयं को 'देखती' कि

क्या मेरे पास पाई-पाई का हिसाब है, नहीं है तो क्यों? लापरवाह हूँ क्या? झुँझलाहट होती। खीझ कि अशोकजी यह सब क्यों पूछते हैं? यह क्या 'खटराग' लेकर बैठ गए हैं।

अपराधबोध होता कि पैसे क्यों और कैसे हाथ से यूँ ही उड़ जाते हैं। यह बात भी मन में आती कि जब थोड़े से पैसे ज्यादा खर्च करके सुविधा मिल सकती है तो उन पैसों को बचाकर इतना कष्ट क्यों पाना? जो भी हो अशोकजी द्वारा छेड़ा गया यह राग बहुत देर तक बजता रहता। मन में कई प्रश्न पैदा करता...। उनको लेकर सोचती कि अशोकजी का हाथ किसी को उपहार देने में या किसी की नगद रुपए देकर मदद करने में जितना खुला हुआ है अपने मामले में उतना ही तंग और कसा हुआ क्यों?

अशोकजी के साथ मैं कलकत्ते में कई जगहों पर गई थी। रासबिहारी में स्थित 'मैलोडी' नामक कैसेटों की पुरानी दुकान में 'तसलीमा नसरीन' गोल्लाछूट कैसेट का लोकार्पण करने आई थी। हमने तसलीमा को दूर से देखा फिर पास से भी देखा। मैं अशोकजी और मनोरंजन व्यापारी वहाँ गए थे। हमने तसलीमा के हस्ताक्षर कैसेट के मलाट (आवरण) पर लिए और 16 लार्ड सिन्हा लौटकर चर्चा भी की।

हम श्री शिक्षायतन में गौरी अयूब की शोकसभा में गए थे। चित्रकार कलाकार, कोलाज कलाकार पनेसरजी से मिलने गए थे। 'सीगल' नामक पुस्तकों की दुकान में उनके एक कवि मित्र के साथ गई थी। नंदन फिल्मोत्सव में कई फिल्में उनके साथ देखी कोलकाता पुस्तक मेले में जब 'आलो आँधारि' निकली थी तब भी मैं उनके साथ थी।

'आकृति' आर्ट गैलरी में रामकुमार की प्रदर्शनी देखने हम साथ-साथ गए थे। यह सूची लंबी है पर कहना यह चाहती हूँ कि उनकी संगति में लोगों से मिलना, उनको देखना, सुनना कुछ अलग तरह का अनुभव होता।

मैंने अशोकजी की सत्संगति की। मैं लेखिका हूँ या नहीं इस बात का मुझे ठीक से इल्म नहीं है पर यह उनका आशीर्वाद है कि मेरे पिता के प्रति मुझमें 'समझ' पैदा हुई।

मेरे पिताजी जब अशोकजी से मिले उनके 'मुरीद' हो गए। और यह ईश्वर का आशीर्वाद है कि वर्ष में दो-चार बार उनसे मिलने उनके पास जाने लगे। जिन दिनों अशोकजी अस्पताल में थे वे उन्हें देखने गए। उनके निधन की खबर सुनकर फूट-फूटकर रोए और उनकी अर्थी को कंधा ही नहीं दिया उनके पार्थिव शरीर के साथ श्मशानघाट भी गए।

2014 वर्ष कैसा साल रहा! इसी साल 24 मार्च को 61 वर्ष की उम्र में मेरी माँ का निधन हो गया। और वर्ष के अंत में अशोकजी नहीं रहे। दोनों ही मेरे रोएँ-रोएँ में तन-मन-प्राण में समाए हुए हैं। माँ ने जीवन दिया तो अशोकजी ने समझ और संस्कार। उनके जाने के बाद जीवन क्या उसी गति से ही नहीं चल रहा पर कुछ तो बदल ही गया है।

देवता क्या है हम नहीं जानते

बलाई चक्रवर्ती

अचानक से अशोकजी यह समझाकर चले गए कि अब स्वावलंबी होना होगा। अपनी लांछना की बात, अपनी क्षुद्रता की या अपने भीतर किसी दुविधा-द्वंद्व की या कोई भी ऐसी बात जो मुझे महत्व की लगती सब कुछ अशोकजी को बताता या बताने को सोचता। वे सुनते रहते और बीच-बीच में बोलते। कई बार बातचीत के दौरान कोई आ जाता तो उसको समय देते। बैठे-बैठे जब मेरा भी कुछ बोलने का मन नहीं रहता और उनका भी सुनने का तब भी निकलने से पहले कुछ न कुछ बोल आता। अक्सर कोई न कोई फोन आता और वे करीब आधे घंटे से बात किए जा रहे होते तब गुस्सा आता। मन करता फोन बंद कर दूँ। कभी-कभी रिसीवर उठाकर रख देता कि कोई फोन न आए।

संभवत: 1998 या 99 की बात है। हमारे साथी जोगीनदा की माँ अशोकजी के घर के पास किसी नर्सिंगहोम में भर्ती थीं जहाँ हम कई साथी जाते। वहाँ से एक दिन जोगीनदा अशोकजी के घर ले गए। उसके बाद से उनके यहाँ जाने लगा। कभी महीने में दो-एक बार तो कभी हफ्ते में कई दिन। महीना-दो महीना नहीं जाने पर पूछते, इतने दिन क्यों नहीं आए या फिर यह कि बहुत दिनों बाद आए!

एक दौर ऐसा था जब ताड़ी के पौष्टिक गुण और ग्रामीण अर्थनीति में उसके महत्व के बारे में खूब बोलता रहता था। मैं अशोकजी को कहता कि अगर ताड़ी को लेकर सामाजिक वर्जना (टैबू) न होती तो कितना अच्छा होता! ताड़ और खजूर के पेड़ खेती किए बिना अपने से होते हैं। उनसे तीन-चार महीने रस मिल सकता है। ताड़ी पौष्टिक है और वह उपार्जन का साधन भी हो सकता है। यहाँ तक कि गुड़ की तुलना में उससे उपार्जन अधिक हो सकता है। उससे जलावन और समय की बचत होगी। गाय-भैंस-बकरी का दूध यदि पीया जा सकता है तो ताड़ और खजूर के रस में भला क्या दोष। ताड़ी की गुणवत्ता को प्रमाणित करने के लिए एक दिन मदनपुर के एक गाँव से ताड़ी लेकर अशोकजी के यहाँ पहुँचा। हम दोनों ताड़ी पी रहे थे। सुशीलाजी ने ताड़ लिया और अशोकजी को बकने लगीं। तब गलती पकड़ी गई हो वैसे बालक की तरह अशोकजी ने कहा था—' हम लोग ताड़ी की पौष्टिकता और ग्रामीण अर्थनीति में उसके महत्व का अध्ययन कर रहे हैं।'अशोकजी तेल-साबुन और गमछा या तौलिया इस्तेमाल नहीं करते थे। तेल-साबुन नहीं लगाते ऐसे कई लोगों को मैं जानता हूँ लेकिन गमछा के बिना

उनका कैसे चलता यह मुझे समझ में नहीं आता। लगभग पचास साल से उन्होंने दाँत नहीं माँजा। खाने के बाद उँगली से रगड़कर मुँह साफ कर लिया करते बस। उनके मुँह से कभी बदबू भी नहीं आती थी। कभी यह पूछना नहीं हो पाया कि इस तरह की आदतें उन्होंने आखिर कैसे पाल लीं। कहते —दाँत के सारे रोगों की जड़ दाँतों को माँजना ही है। उनके बहुत से दाँत टूट गए थे। दाँतों के जतन करनेवाले बहुत से लोगों का अस्सी बरस की उमर में तो एक भी दाँत नहीं रह जाता।

अशोकजी ने मुझसे कुछ रुपए उधार लिए थे और उसका ब्याज देते। महीना बीतते न बीतते मुझे फोन करते और ब्याज के पैसे ले जाने को कहते। मुझे गुस्सा आता कि ऐसे तो कभी फोन करते नहीं ब्याज का पैसा देकर खुद तनाव-मुक्त हो जाने के लिए बुलाते हैं। अपना यह क्षोभ उनको प्रकट भी किया था। उसके बाद भी एक बार उन्होंने फोन किया और मुझे आने को कहा। मैंने पूछा तो झूठ ही कहा कि डिप्रेशन लग रहा है इसलिए बुला रहा हूँ। फिर ब्याज के पैसे लेने के लिए कभी नहीं बुलाया। दो महीने बाद गया तो पूछा,' दो महीने में एक बार भी नहीं आए!' मैंने कहा सुर-ताल नहीं जम रहा था सो नहीं आया। फिर से सुर-ताल जमना शुरू हुआ तो हर हफ्ते जाने लगा लेकिन वे ही नहीं रहे।

अशोकजी के चले जाने के इतने दिन बाद अब ऐसा लगता है कि ढंग से उनको पा न सका जबकि उसका अवसर बहुत मिला। ऐसे में खुद को बुद्धिहीन महसूस होता है। बीच-बीच में यह भी खयाल आता है कि यदि उनके पलंग के पास एक ऊँचा सा मजबूत टेबल रखा होता जिसे पकड़कर वे उठ-बैठ सकते तो शायद वह दुर्घटना नहीं घटती और इतना सा इंतजाम करना कितना आसान था। अक्सर ही देखता बिस्तर से उठते समय उनके पाँव लड़खड़ाते और उन्हें उठने में काफी तकलीफ होती। नियमित ही यह दृश्य देखकर भी मुझे खयाल नहीं आया, यह सोचकर खुद को बेढंगा सा लगता है। अशोकजी के अन्य मित्र जो अधिक सजग मालूम पड़ते थे उनके प्रति मन में आक्षेप होता है कि क्यों उन्हें भी इस बात का खयाल नहीं हुआ।

मैं उनको अपने भीतर समा लेना चाहता था। उनके जाने के बाद यह समझ में आता है कि ईसाई लोग क्यों यीशू का मांस (केक) एवं रक्त (वाइन) अपने शरीर में ग्रहण करते हैं। जितना मालूम है कपिल मुनि ने ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया था। बुद्ध या महावीर का दर्शन भी इसके निकट है। जबकि लोगों ने इन्हें ही ईश्वर बना दिया। देवता क्या है हम नहीं जानते लेकिन देवता जैसा इनसान कहने का अर्थ हम कुछ-कुछ जरूर समझते हैं। कपिलमुनि -बुद्ध-महावीर ने अपनी साधना से लोगों के मन में देवत्व को प्राप्त किया। मैंने आज तक जितने लोगों को देखा है उनमें देवता जैसे इनसान होने के सबसे अधिक निकट थे अशोकजी।

सबके अपने अशोकजी

सुरेश शॉ

अपने मित्र कुमार भारत के मार्फत मैं पहली बार अशोकजी से मिलने उनके घर गया था। उन्हें देखा तो चौंक गया, अरे अपने चेहरे पर बेतरतीब दाढ़ी उगाए रखनेवाले, टूटी चप्पलें और तुड़े-मुड़े कुर्ता-पाजामा पहनकर घूमनेवाले इस आदमी को मैंने न जाने कितनी बार राममंदिर (सेठ सूरजमल जालान) पुस्तकालय, नेशनल लाइब्रेरी तथा अपने मुहल्ले के 6 नं० वाले मकान में आते-जाते देखा है।

उनसे मिलकर पढ़ाई-लिखाई के साथ-साथ घर-परिवार की ढेरों बातें हुईं। यह सुनकर उन्हें अच्छा लगा कि मैं एम.ए. का विद्यार्थी हूँ और फाइनल परीक्षा की तैयारी कर रहा हूँ। लेकिन यह जानकर कि मेरे माता-पिता गुजर चुके हैं, उनका मन एकबारगी द्रवित हो उठा। उनसे इस पहली मुलाकात में ही मुझे लगा कि जिस आदमी के अंतर में संवेदना के तार बिछे हुए हों और जो मुझ जैसे अपरिचित के लिए द्रवित हो उठता हो वह जरूर एक सच्चा आदमी होगा और आदमी के लिए ही जीता-मरता होगा। यह महसूस होते ही मैं उनका हो गया और वह मेरे। शायद मैंने तभी उन्हें अपना अभिभावक और अध्यापक बना लिया।

उस घर में उनके साथ सिर्फ बालेश्वरजी ही रहते थे। दो पुरुषोंवाले इस रैन बसेरे में मैं जब चाहूँ आ-जा सकता था। यहाँ मुझे खाने-पीने, सोने-बैठने,पढ़ने-लिखने और चहकने की पूरी आजादी थी। अशोकजी की यह 'सराय' अब मेरा 'बासा' बन चुका था।

वहाँ सामाजिक,राजनीतिक, साहित्यिक और धार्मिक-अधार्मिक सरोकारों पर चर्चाएँ होतीं। समाजवादी चिंतक किशन पटनायक जब भी कलकत्ता आते अशोकजी के घर पर ही ठहरते। दोनों घंटों देश-दुनिया, माल-बाजार, भोग-उपभोग, समाज-राजनीति,देश की अर्थव्यवस्था और वर्तमान शिक्षा नीतियों पर बातचीत करते। मैं उन्हें चाव से सुनता और यथासंभव गुनता।

अलका सरावगी, प्रयाग शुक्ल, गिरधर राठी, रामदेव शुक्ल, रमेश चंद्र शाह,ज्योत्सना मिलन, करुणा झा, पृथ्वीपाल और प्रेमचंद के नाती प्रबोध कुमार, हरिवंशजी, राजकिशोरजी जैसे अनेक लेखकों, पत्रकारों और राजनैतिक कार्यकर्ताओं से मिलने का सौभाग्य भी मुझे अशोकजी के घर पर ही मिला।

अपने अति सीमित साधनों के बावजूद अशोकजी की स्वभावगत विशेषता थी कि वह दूसरों की रुचि-अरुचि और चाहतों का बहुत अधिक ख्याल रखते थे। अपने घर आए मेहमान को अपनी खाट पर सुलाकर खुद नीचे सोना, जाड़े का मौसम हो तो उसे अपना कंबल ओढ़ाना,पूछ-पूछकर खाना खिलाना उनकी फितरत थी। भवानीपुर के मित्रा परिवार के उनके मित्र शंभु मित्रा

शाम के समय आकर घंटों उनसे गपियाते, तो अशोकजी उनके रंजन के लिए बीयर तक जाकर खरीद लाते।

अशोकजी की अभिरुचि सिर्फ साहित्य या राजनीति तक ही नहीं थी। वे क्रिकेट, कला, नाटक, चित्र-प्रदर्शनी और देश-विदेश की फिल्में देखने के भी शौकीन थे। इन विषयों पर खूब बातचीत करते और बहुत कुछ लिखते-पढ़ते। जब उन्हें पता चलता कि उनका कोई परिचित या सगा-संबंधी अस्पताल में भर्ती है तो वह उससे मिलकर उसका हाल-चाल पूछने के लिए बेचैन हो उठते। बहुतों को वह दवाइयाँ भी खरीदकर दे जाते और जरूरत पड़ने पर कइयों को अस्पताल पहुँचाने में भी मदद करते। निमोनिया से जूझ रहे मेरे दो वर्ष के बेटे को जब 13 दिनों तक अस्पताल में रहना पड़ा था, उस दरम्यान अशोकजी उसे देखने कम से कम 26 दफा तो आए ही होंगे।

अंग्रेजी का विशद ज्ञान होने के बावजूद अशोकजी ने लिखने और बोलने में हमेशा हिंदी को ही बरता। वे बोलियों के भी प्रबल हिमायती थे। वे चाहते थे कि इन सबका समान रूप से प्रचार- प्रसार और उन्नति हो। किसी भी तरह के अन्याय या अनाचार के खिलाफ आंदोलन करने की जरूरत होने पर अशोकजी अपने विनम्र शिष्टाचारवाले स्वभाव के बावजूद पीछे नहीं हटे। भारतीय भाषा परिषद में जब इंटरनेशनल स्कूल बनाने की साजिश रची जा रही थी और जब वहाँ के कर्मचारियों के सामने वेतन संबंधी समस्याएँ आ खड़ी हुई थीं, तब अशोकजी ने मोर्चा संभाल लिया था। आलम यह हुआ था कि कलकत्ता से लेकर दिल्ली तक के श्रमजीवी, बुद्धिजीवी, शब्दकर्मी, साहित्यकार और पत्रकारों ने उनका साथ दिया।

परिषद के अलावा अशोकजी के पिता समाजसेवी सीताराम सेकसरिया द्वारा स्थापित दूसरी संस्था श्रीशिक्षायतन स्कूल के एक सफाईकर्मी की छँटनी कर दी गई, तब अशोकजी ने कई दिनों तक वहाँ जाकर उसके सदर फाटक पर धरना देकर सत्याग्रह किया। इससे काम न बना तो वह गेट पर ही लेटकर अपना विरोध जताने लगे। हारकर प्रबंधन को अपने अनैतिक फैसले से पीछे हटना पड़ा और उस चतुर्थश्रेणी के कर्मचारी को फिर से काम पर बहाल करना पड़ा। ताकत से दूर रहने की अपनी फितरत के कारण अशोकजी इन संस्थाओं के प्रबंधन में कभी शामिल नहीं हुए, पर इनकी पवित्रता बनाए रखने के लिए उन्होंने बहुत अपमान सहा।

अशोकजी बातचीत करने के बड़े शौकीन थे। बतियाते हुए वह बहुत कुछ जानकारी देते लेकिन जब खुद कुछ पूछने बैठ जाते तो बिलकुल बच्चे बन जाते, खोद-खोदकर पूछते और बातों की तह तक पहुँचकर ही छोड़ते। किसी शब्द का अर्थ न मालूम होने पर झट शब्दकोश के पन्ने उलटने लगते। उनसे फोन पर बात करनेवालों के पास भी समय की कमी न होती। लंबी बातचीत का जब दौर चलता तब न उधर से बतियानेवाला थकता, न इधर से अशोकजी।

एम.ए. करने के बाद 'हिंदी शिक्षण योजना' के तहत पहली बार तीन माह के लिए नौकरी मिलने की बात जब मैंने अशोकजी को बताई तब वह मारे खुशी के उछल पड़े और मुझे गले लगाकर मेरी पीठ थपथपाने लगे। लड़के-लड़की को नौकरी मिलने पर उनके माँ-बाप जिस तरह, खुश होते हैं, मैंने अशोकजी में खुशी का वही भाव देखा।

शनिवार को मेरी छुट्टी होती है। इसलिए मैं अक्सर इस दिन अशोकजी के घर चला जाया करता था। वहाँ कभी लालू मंडल, बलाई मिल जाते तो कभी अलका सरावगी। बातें होतीं, बहसें होतीं और किन्हीं उलझनों का समाधान भी ढूँढ़ा जाता। अशोकजी जब किसी जरूरी काम में व्यस्त होते या भतीजे के फ्लैट में बैठकर क्रिकेट मैच देख रहे होते, तब मेरे आने की खबर पाकर वह ऊपर आते, परंतु समय न दे पाने के लिए माफी माँगने लगते और फिर कभी आने का आग्रह करने लगते। कुछ दिनों तक अगर मैं उनसे मिलने नहीं जाता तो वे फोन करके हाल-चाल पूछते, क्या पढ़-लिख रहा हूँ, इसकी जानकारी लेते और कहते 'जब समय मिले तो आना'।

अशोकजी खुद अविवाहित थे, लेकिन उन्होंने कइयों की शादी करवाई थी। शायद इसीलिए उन वैवाहिक जोड़ों ने अपने हिसाब से उनसे एक रिश्ता बनाकर उसका एक नाम भी दे रखा था। सुशीला भाभी उन्हें बाबूजी कहती थीं, रवींद्र-अवनींद्र दादाजी। अवधूत और सारा के वह नानाजी थे और मेरा बेटा उन्हें बाबाजी कहता था। बालेश्वर और मेरे तो अशोकजी साक्षात बाबू-माई ही थे।

मैंने अपने माता-पिता और दादी को अपनी आँखों के सामने चिता पर लिटाते नहीं देखा है, इसलिए लगता है कि वे आज भी गाँव पर रहकर खेती-बारी कर रहे होंगे। अशोकजी के पार्थिव शरीर को जब दाहगृह में रखने का समय आया तब मैं वहाँ से हट गया, ताकि मैं उसी 'भ्रमसूत्र' के सहारे अपने को समझा सकूँ कि अशोकजी आज भी अपनी खाट पर पालथी मारकर बैठे-बैठे कैलेंडर के पीछे वाले कोरे पन्नों पर कुछ लिखकर उसका पूरा इस्तेमाल कर रहे होंगे, अपने किसी मित्र को चिट्ठी-पत्री लिख रहे होंगे, फोन पर किसी से बातें कर रहे होंगे, रवींद्र से क्रिकेट पर बहस कर रहे होंगे, अवनींद्र को 'फ्रॉड' कहकर चिढ़ा रहे होंगे या 'मि० रॉय' कहकर कोई काम करवाने के लिए उसे फुसला रहे होंगे, मेरे वहाँ पहुँचने का इंतजार कर रहे होंगे या फिर सुशीला भाभी के खाना खा लेने के लिए हाँक लगाने पर खाने से मना कर रहे होंगे।

आदतन मैं अब जब कभी अशोकजी के घर जाने को उद्यत होता हूँ, मेरी पत्नी रेखा टोककर कहती है, "कहाँ जा रहे हो? जहाँ जा रहे हो, वहाँ अब तुम्हें कोई घुसने भी नहीं देगा।" यह सुनकर मैं असहाय होकर बैठ जाता हूँ। तभी तनिक चुहलबाजी करते हुए पत्नी से कहता हूँ-"हमारे बीच झगड़ा होने पर अब तुम कहाँ और किससे मेरे खिलाफ नालिश करने जाओगी?" यह सुनकर वह निरुत्तर हो जाती है। हमारे 'असहाय' और 'निरुत्तर' हो जाने की वजह बेशक अब अशोकजी का इस दुनिया में नहीं रहना ही है।

अशोकजी

विशाख राठी

पहले पहल जब मैं अशोकजी से मिला था मैं सत्रह बरस का था। हालाँकि मेरी माँ बताती है कि अशोकजी और किशन पटनायक मुझे देखने आए थे, जब मैं कुछ ही दिनों का था शायद दस-बारह दिन का। मैं इडेन गार्डन में खेले जानेवाले 1987 का विश्वकप फायनल देखना चाहता था। मेरे माता-पिता राजी हो गए और अशोकजी ने तुरंत प्रसन्न भाव से मुझे आतिथ्य देने का भार ले लिया। वो स्वयं तो स्टेडियम में नहीं गए लेकिन मेरा टिकट बुक कर दिया। मैच समाप्त होने पर वो मुझे कलकत्ता और कलकत्ते के आसपास की जगहें दिखाने ले गए— विक्टोरिया मेमोरियल, बोटैनिकल गार्डन, बेलूर मठ, कालीघाट, शांतिनिकेतन और सुरेंद्रनाथ बनर्जी रोड—जहाँ कभी मेरी माँ का घर था और न्यूमार्केट, जहाँ कभी मेरे नाना की किताबों की दुकान हुआ करती थी।

कलकत्ता विशेष था, मेरी माँ की बचपन की कहानियों में लबालब। कलकत्ता रोमांटिक शहर था। सांस्कृतिक शहर था और उसके बाद अनंत काल के लिए अशोकजी का शहर था। उस दौरान अशोकजी के साथ दुनिया की हर छोटी-बड़ी चीज पर चर्चा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनकी रुचि और जानकारी का क्षेत्र इस कदर विशाल और विस्तृत था कि आश्चर्य से आँखें फटी की फटी रह जाती थीं—क्रिकेट, सिनेमा, पत्र-पत्रिकाएँ, किताबें, राजनीति, नैतिकता, सौंदर्य, रहस्य रोमांच शायद इस विशाल पृथ्वी पर ऐसा कुछ नहीं था जिसमें उनकी रुचि न थी और जिसका उन्हें ज्ञान न था।

हमने नंदन में रोमन पोलांस्की की फिल्म 'डेथ एंड दी मेडन' देखी थी। उन्होंने मुझे लिट्ल प्रिंस की एक प्रति भेंट की थी। भेंट करते हुए कहा था- इस किताब को छोटे-बड़े सभी बड़े मजे से पढ़ सकते हैं।कुछ ही दिन पहले मैंने सेलिंजर का उपन्यास 'केचर इन द राई' पढ़ा था। सुनकर वे बहुत प्रसन्न हुए थे। उस किताब के बारे में मैं बहुत कुछ भूल चुका था पर वह सब उन्हें याद था, हालाँकि वह किताब उन्होंने मुझसे काफी पहले पढ़ी होगी। एक दिन जब अशोकजी मुझे बोटैनिल गार्डन ले जा रहे थे, वे बार-बार मुझसे पूछते रहे—तुम्हें भूख लगी होगी। क्या खाओगे? वह एक लंबा सफर था और गरमी बहुत तेज थी। जहाँ तक मुझे याद है मैं कहता रहा, नहीं मुझे भूख नहीं है लेकिन वे फिर भी पूछते रहे—मैंने अंत में कुछ चिढ़कर जवाब दिया मैं झूठ नहीं बोल रहा। सच मुझे भूख नहीं है। मुझे तुरंत लगा कि सचमुच की चिंता से दोहराए गए सवाल का मैंने अभद्र जवाब दिया है।

उनमें कहीं न कोई दिखावा था न किसी तरह की औपचारिकता। वो कुछ आहत हुए और बोले-" बाबू मुझे चिंता करने की आदत है।" अक्सर वे ऐसा कहा करते थे और सच उन्हें चिंता करने की आदत थी। लेकिन कभी अपनी नहीं केवल दूसरों की। चाहे वो राजा हो या रंक। चाहे कितनी भी व्यस्तता हो, अतिथि को कोई असुविधा न हो, इसका ध्यान उन्हें हर क्षण रहता था। वे मेरे माता-पिता से बड़े थे लेकिन हर तरह की चर्चा मुझसे बराबरी पर दोस्त की तरह करते थे।

1987 के दो हफ्ते, जो मैंने उनके साथ बिताए, वे मेरे लिए यादगार बन गए। एक क्षण के लिए भी मुझे किसी तरह की कोई असुविधा नहीं हुई। एक क्षण के लिए भी मैंने यह महसूस नहीं किया कि उनके पास मुझसे अधिक जरूरी कोई काम है।

अशोकजी ने आग्रह किया कि वे मुझे दिल्ली तक पहुँचाएँगे। वे मुझे मेरे पिता को सुरक्षित सौंपना चाहते थे। मैं दिल्ली से कलकत्ता तक अकेला आया था। हावड़ा स्टेशन पर वे मुझे लेने आए थे। फायनल के दिन उन्होंने मुझे इडेन गार्डन स्टेडियम के बाहर छोड़ा था। पर साथ होते हुए भी उन्होंने मुझे बहुत कुछ अकेले देखने-सुनने का मौका भी दिया था। उनके सानिध्य में एक क्षण के लिए भी मुझे ऐसा नहीं महसूस हुआ था कि मैं स्वयं अपनी देखभाल करने में सक्षम नहीं हूँ। लेकिन कर्तव्य का अहसास उनमें कूट-कूटकर भरा था। वे मेरे अभिभावक थे, मेरे प्रति जिम्मेदारी महसूस कर रहे थे और किसी भी हालत में अपनी इस जिम्मेदारी को निभाए बिना नहीं रह सकते थे। मैं खुश था कि वे मेरे साथ दिल्ली तक आ रहे थे। पर आज मुझे लगता है कि उस समय मैं नहीं समझ सका था कि वे किस मुश्किल के साथ यह कर रहे हैं। उन्हें दिल्ली अप्रिय थी, उन्होंने राजधानी में कभी न आने का संकल्प लिया था। दिल्ली उनके लिए गंदी राजनीति और धोखे का शहर था लेकिन जो जिम्मेदारी उन्हें सौंपी गई थी, उसे वे कैसे छोड़ सकते थे।

पटना और मुजफ्फरपुर होते हुए दिल्ली पहुँचने का हमारा कार्यक्रम बना था। कुछ बरस पहले सच्चिदानंद सिन्हा दिल्ली छोड़कर अपने गाँव मनिका लौट गए थे। अशोकजी और सच्चिदाजी समाजवाद के दो बड़े स्तंभ, दोनों विद्वान, दोनों में अपने व्यक्तिगत जीवन की सुख-सुविधाएँ छोड़कर समाज के लिए कुछ कर गुजरने की धुन थी। सच्चिदाजी जब तक दिल्ली रहे अपने लिए केवल खिचड़ी बनाते थे। अशोकजी खाने-पीने के शौकीन थे, पर उन्हें अपने खाने-पहनने की सुध न थी। वे अपनी फटी चप्पलों और कुरते पाजामे में तृप्तकाम थे। इन दोनों की संगत मेरे

लिए बड़ी प्रेरणादायक थी।

एक और घटना मुझे याद है कि अशोकजी ने ट्रेन में दाढ़ी बनाई। दाढ़ी बनाते हुए उन्होंने कहा था— राठीजी (वो मेरे पिता को राठीजी कहा करते थे हालाँकि पापा उनसे उम्र में छोटे थे) को कहीं यह न लगे कि उनका बेटा एक मैले-कुचैले लापरवाह आदमी के साथ रहा, इसलिए मैं दाढ़ी बना लूँ। ऐसा कहकर वे हँसे थे—हमेशा की तरह। हँसकर वे लंबी साँस भरते थे। शायद लगातार सिगरेट पीते रहने की आदत के कारण। उनकी हँसी में बच्चों की हँसी जैसी सरलता थी। मजाक करते हुए उनकी शरारत भरी आँखों में एक चमक आती थी, अलबत्ता मजाक हमेशा अपने खुद के ऊपर ही होता।

इसके बाद 1987 की यादें धुँधली पड़ गई है। मुझे उनके साथ अपने घर वापिस लौटने की याद है। मुझे याद है उस दिन जब वे हमारे घर आए थे, बिजली गुल हो गई थी। मुझे याद है मुझे कितना दुख हुआ था जब वे जाने के लिए उठ खड़े हुए थे। वे दिल्ली ज्यादा दिन नहीं रुके थे। शायद दिल्ली शहर के लिए उनकी अपनी वितृष्णा के कारण।

1987 से ही हमारा पत्र व्यवहार शुरू हो गया था। वे मेरे मार्गदर्शक बन चुके थे। मैं उनके साथ क्रिकेट, फिल्म, किताबों और राजनीति के अलावा अपने स्कूल और कालेज की भी चर्चा किया करता था। कई-कई बार तो मैं उनसे कुछ ऐसी बातें भी करता, जिसके बारे में मेरे माता-पिता या बहन को कुछ पता नहीं होता था। अशोकजी से दस साल बाद 1997 में फिर मिला। उनका मुझ पर कितना प्रभाव है इसका अहसास मेरे माता-पिता को था। वे लोग मेरा विवाह करना चाहते थे। उन्हें लगा कि अशोकजी मुझे विवाह के लिए मना लेंगे और मेरे लायक पात्री भी खोज निकालेंगे। ऐसा उन्होंने किया भी लेकिन कुछ कारणों से बात बनी नहीं।

मैं उम्र में दस साल बड़ा हो चुका था। पाँच वर्षों से नौकरी कर रहा था। हमारे बीच पत्र व्यवहार कम हो गया था। मैं अपनी नौकरी में व्यस्त हो गया था और पत्र लिखना लगभग बंद कर दिया था। दोष मेरा ही था क्योंकि उनके नाम भेजी गई हर चिट्ठी का जवाब मिलता था। अपने जीवन के अंतिम दिन तक मुझे दुख रहेगा कि मैं 1997 के बाद उनसे मिल नहीं सका। पत्र व्यवहार पूरी तरह बंद हो चुका था। मैंने दो-तीन बार उनसे फोन पर बात जरूर की थी। अक्सर उनके बारे में मुझे पापा या प्रयाग मामा से पता चलता रहता था और उन्हें भी मेरे बारे में वे हमेशा उन लोगों से पूछते। दुनिया में मुझे इसका अहसास हमेशा रहा कि अगर किसी को मेरे सुख-दुख की फिकर थी तो वे अशोकजी थे। मैं किसी भी समय अपनी किसी भी समस्या पर उनसे बात कर सकता था और उनसे मुझे एक ठोस सलाह मिल जाती—मुझमें ऐसा गहरा विश्वास बना रहा।

वे मेरे एक और माता-पिता थे। मैं उन्हें कभी नहीं भूल सकूँगा।

हर-दिल अजीज

जसवीर अरोड़ा

अशोक सेकसरियाजी से मैं पहली बार शायद नवंबर 2001 में मिला था संजय गौतम (बनारस) के मारफत उनसे जान-पहचान हुई। वैसे उनके बारे में जोगेन-डिम्पल (शिमला-कलकत्ता) से भी बहुत कुछ सुना हुआ था। और बनारस में ट्रांसफर पर आने के बाद अफलातून, चंचल मुखर्जी व समाजवादी जनपरिषद से जुड़ने के बाद अशोकजी का जिक्र अक्सर चर्चाओं में होता रहता था। उनकी सादगी, साहित्यिक समझ और संवेदना की बातें सुनकर उनसे मिलने का काफी दिनों से सोच रहा था। कलकता पहुंचकर उनको फोन किया तो वे खुद ही (उस वक्त लगभग 70 साल के आस-पास रहें होगें और पैर में चोट भी लगी हुई थी) बिड़ला प्लेनेटेरियम आ गए। मेरे हमनाम जसवीर (बंगलौर वाले) को अशोकजी बहुत प्यार करते थे और मुझसे मिलकर भी उन्हें वही याद आए। तबसे वे मुझको कपूरथला या रेलवेवाला जसवीर कहकर बुलाते थे और तब की मुलाकात से आज तक (मेरे जेहन में अभी भी उनकी आवाज गूँजती रहती है) मैं अशोकजी की आत्मीयता को पाता रहा हूँ। जब मन किया उनसे फोन करके अपना दुख दर्द बाँट लेता था। उनकी सेहत ठीक नहीं रहती थी, फिर भी वो सामनेवाले का दर्द गहरे से महसूस करते थे और यथासंभव मदद करने को तैयार रहते थे। छत्तीसगढ़ में प्रवास के दौरान मुझसे मिलने के लिए अशोकजी दो दिन बिलासपुर (अहमदाबाद से हावड़ा जाते हुए) भी रुके। हमने शहर में उनकी गोष्ठी भी आयोजित की।

दस अखबार, तीस सिगरेट, क्रिकेट मैच, फोन पर घंटों बातें, प्रूफ रीडिंग ... यही उनके शौक थे और दिनचर्या भी। हर विषय पर उनका गहरा अध्ययन था, बारीकियों को बखूबी समझते थे और समझाते थे। राजनीति, साहित्य, खेलकूद-चित्रकला सिनेमा—सभी क्षेत्रों में उनकी दिलचस्पी थी। खाते-पीते घर में पैदा होकर भी अशोकजी ने अत्यंत सादगी भरा एकाकी जीवन जीया। दोस्त ही उनका सच्चा परिवार थे। ताउम्र बालेश्वरजी और सुशीलाजी के साथ उन्हों खुद के ने परिवार से भी ज्यादा अपनापन निभाया ।

वे अपने व्याक्तित्व से सभी को अच्छा बनने, अच्छा करने और अच्छा रहने के लिए प्रेरित करते थे।

अशोकजी के व्यक्तित्व में एक अजीब सा आकर्षण था। जो उनसे एक बार मिल लिया उनका हो गया। वे हरदिल के अजीज थे। उनसे मिलकर हर किसी को प्रेरणा व ऊर्जा मिलती थी। अशोकजी अत्यंत सरल और सहज इन्सान थे। उनकी मुस्कान में बच्चों का भोलापन था और उनकी बातों में गहरी अंर्तदृष्टि थी और वे सहयोग के लिए हमेशा तत्पर रहते थे। अविवाहित रहते हुए अशोकजी ने अपनी जीवन-शैली से 'सादा जीवन उच्च विचार' —को चरितार्थ किया। अब उनकी स्मृति ही शेष है और शायद विशेष भी। उनकी स्मृति को उनकी रचनाओं और विचारों के मार्फत ही सबसे सही तरीके से सँजोया जा सकता है।

अब किसे सुनाएँ अपनी कहानी

प्रीतीश आचार्य

अशोकजी से मैं 1984 में पहली बार दिल्ली में मिला था। मेरे हाथ में उस वक्त श्रीलाल शुक्ल के 'राग दरबारी' का उड़िया अनुवाद था। उन्होंने और कुछ बात करने से पहले पूछा–कौन सी किताब है? किसने अनुवाद किया है? अनुवाद कैसा है? श्रीलाल शुक्ल की और कौन सी किताब तुमने पढ़ी है? उनकी रचनाएँ तुम्हें कैसी लगती हैं? सवाल कोई मुश्किल नहीं थे। बड़ी बात यह थी कि मुझे कभी यह नहीं लगा कि वे मेरे ज्ञान की परीक्षा ले रहे हैं। मुझे लगा कि सचमुच वे जानना चाहते हैं। उनकी इस सरलता ने मुझे उनकी ओर खींच लिया। केवल मैं ही नहीं, मेरी पत्नी अंजलि और मेरे बेटे भी उन्हें अपने निकट का मानते थे।

मैंने कभी कोलकाता में नौकरी नहीं की। साल में एक–दो बार अशोकजी से कोलकाता में मिलना होता था। मैं उन्हीं के यहाँ ठहरता था। हाल के वर्षों में जब उनके यहाँ फोन आ गया तो फोन पर बात होती थी। मैं उन्हें पत्र भी लिखता था। हम पति–पत्नी में किसी बात को लेकर झगड़ा होता, तो अंजलि भी अशोकजी को सारी शिकायतों के साथ उड़िया में एक चिट्ठी लिखती। लेकिन उस पत्र को वह अशोकजी के पास भेजती नहीं थी। ऐसी कई चिट्ठियाँ उसने अपने पास रखी थीं। अशोकजी के निधन की खबर सुनकर रोते–रोते उसने इस सत्य को उजागर किया। जब मैंने उससे पूछा कि तुम अशोकजी को चिट्ठी क्यों लिखती थी? उसका जवाब था –मैं अपने पिताजी से बोलती तो वे तुम पर नाराज होते, तुम्हारे पिताजी से बोलती तो वे तुम्हारी तरफदारी करते। मुझे लगता था कि एक अशोकजी ही हैं जो निष्पक्ष होकर हमारी कलह मिटा सकते हैं। शादी के बाद मैं अरुणाचल प्रदेश में था। बाद में मेरा तबादला दिल्ली हुआ, और उसके बाद भुवनेश्वर में। ये सारी जगहें कोलकाता से काफी दूर थीं। लेकिन फिर भी हम पति–पत्नी में असहमति होती तो अंत में निर्णय यही होता कि–अशोकजी से इस बारे में बात करते हैं, उनका जो फैसला होगा वह हम दोनों को मंजूर होगा। हालाँकि जब भी हमारा उनसे मिलना होता था, हम शायद ही कभी उनसे कुछ कहते। पर अदृश्य रूप से अशोकजी ही हमारी समस्याओं को सुलझाते थे। यह बात खुद अशोकजी को भी पता नहीं थी। 29 नवंबर की रात को संजय भारती ने जब अशोकजी के निधन के बारे में बताते हुए कहा–प्रीतिश,अब हम लोग अनाथ हो गए। मुझे लगा कितना सही कहा है उन्होंने। हम सबका अशोकजी पर अपने पिताजी से भी ज्यादा भरोसा था। हमें हमेशा लगता था कि वे कभी पक्षपात नहीं कर सकते हैं।

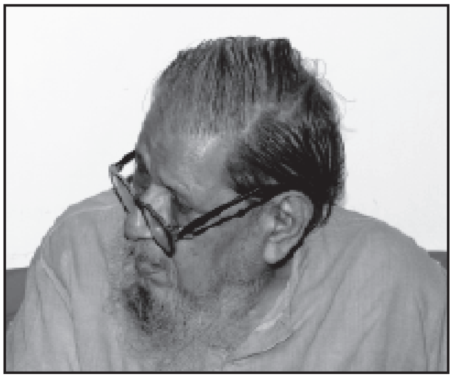

हमारी शादी के एक साल बाद की बात है कि मैंने अशोकजी को अंजलि के सामने ही कहा,''अशोकजी, अंजलि हमेशा मेरे से लड़ती रहती है। '' सुनकर बड़े ही सहज ढंग से अशोकजी ने अंजलि से इस बारे में पूछा। उसने कहा,''महिलाओं का काम हमेशा ज्यादा होता है।'' इस बात से अशोकजी ने एकदम इनकार नहीं किया परंतु अंजलि को मुझसे कितना ज्यादा काम करना पड़ता है, उसका आँकलन करने के लिए पूछा,'' घर का बाजार कौन ढोकर लाता है? बर्तन बेसिन में कौन रखता है? यह अपना कपड़ा साफ करता है या नहीं?'' अंजलि से इन प्रश्नों का जवाब सुनकर उन्होंने कहा,'' महिला होने के नाते तुम्हें ज्यादा काम करना पड़ता है पर इतना भी नहीं।'' इस फैसले के बाद हम पति–पत्नी में उस प्रसंग को लेकर फिर कभी लड़ाई नहीं हुई। अंजलि ने भी यह स्वीकार कर लिया कि उसका काम घर में ज्यादा है, पर उतना भी ज्यादा नहीं। सन 1988 से 1997 तक मैं अरुणाचल प्रदेश में रहा। वर्ष में दो बार अपने घर उड़ीसा आते–जाते रास्ते में कोलकाता में चार बार अशोकजी से मुलाकात हो जाती थी। हावड़ा स्टेशन पर मुझे लेने वे नहीं आ पाते, पर हर बार मुझे विस्तार से चिट्ठी लिखते कि कैसे उनके घर पहुँचना है। लौटते समय मुझे बस में बिठाने बिड़ला–प्लानेटोरियम के स्टॉप तक आते थे। रास्ता पार करते समय वे मेरा हाथ पकड़े रहते, मानो मैं एक छोटा बच्चा हूँ। दो–चार बार वे हावड़ा तक छोड़ने भी आए थे। तब मेरा बैग खुद उठाने की जिद करते। उनके घर हमारे खाने को लेकर उनकी चिंता बनी रहती कि हमें खाना पसंद आएगा या नहीं। खुद जाकर मीठा दही खरीद लाते। बाद में जब उनकी उम्र बढ़ने पर चलना–फिरना कम हो गया, तो उनके घर जाने पर किताबें मिलनी शुरू हुईं। मैंने बेबी हालदार के दोनों उपन्यास 'आलो आँधारि', और 'इषत्–रूपांतर' शिवरानी देवी की 'प्रेमचंद घर में', सुशीला राय की 'एक अनपढ़ कहानी' और अन्य ढेर सारी किताबें उनसे भेंट में प्राप्त की हैं। शुरू में किताब की कीमत लेने से इनकार करते हुए उन्होंने कहा ''मेरे यहाँ जो मेहमान आते हैं, उन्हें ठीक से नाश्ता पानी तो मैं करवा

नहीं पाता, कम से कम एक किताब देकर उसकी भरपाई करने का प्रयास करता हूँ।''

अशोकजी जिस तरह से हम लोगों के लिए कष्ट उठाते थे, जिस तरह अच्छा खाना खिलाने के लिए खर्च करते, सोने के लिए अपना बिस्तर हमें दे देते, सामान उठाने की जिद करते, इससे मुझे काफी तकलीफ होती थी। इसलिए बीच-बीच में उनके वहाँ जाता नहीं था। हावड़ा स्टेशन में ही समय काट लेता था। यह मुझे अच्छा नहीं लगता था, क्योंकि उनसे मिलने पर बातचीत का मौका मिलता, उन्हें अरुणाचल के अनुभव बताता, अपनी नई कहानी सुनाता। एक बार मेरे द्वारा उनके यहाँ नहीं जाने से उन्होंने किशनजी (पटनायक) को इस बारे में शिकायत की। बरगड़ (उड़ीसा) में मैं जब किशनजी से मिला तो उन्होंने मुझे ऐसा न करने को कहा। मैंने कहा, ''मैं नौकरी करता हूँ, पैसे कमाता हूँ, पर अशोकजी मुझे चाय के पैसे तक नहीं देने देते हैं। फिर तो मैं उन पर बोझ ही हुआ न।'' किशनजी ने मुझे समझाया, ''अशोकजी का स्वभाव ही ऐसा है। वे हर किसी के लिए ऐसा ही करते हैं केवल तुम्हारे लिए नहीं। उनसे जब मौका मिलता है मिलो।'' उसके बाद जब भी कोलकाता गया उनसे जरूर मिलने गया। दो-चार बार तो केवल उनसे मिलने कोलकाता गया। इस दौरान शायद ही मेरी कोई कहानी होगी जिसे मैंने उन्हें नहीं सुनाई। उनके कहने पर अपनी कई कहानियों का हिंदी में अनुवाद किया और किसी हिंदीभाषी से लिखवाकर पांडुलिपि उनके पास भेजी। हिंदी में अनुवाद होनेवाली मेरी हर कहानी को उन्होंने जाँचा-सुधारा। भले अनुवादक का नाम किसी का हो। प्राय: सारी कहानियों के नाम उनके दिए हुए हैं। उड़िया में मेरी कहानी सुनने के बाद जिस कहानी को वे पसंद करते उसी का मैं अनुवाद करता था। जब सुनीलजी 'सामयिक वार्ता' का संपादन करने लगे तो उनका आग्रह था कि मैं उसमें साहित्य-संस्कृति-कला संबंधी विषय पर लिखूँ। उनकी मृत्यु के पहले मार्च 2014 में उन्होंने मुझे उड़ीसा के सुरेन्द्र सॉय पर एक लेख लिखकर अशोकजी के पास भेजने को कहा। मैंने उसे पहले उड़िया में लिखा फिर उसे हिंदी में लिखकर अपनी छात्रा सीमा कच्छप की मदद से उसकी शुद्ध हिंदी में कॉपी तैयार करवाई। अशोकजी ने मेरी और सीमा द्वारा लिखी हुई दोनों प्रतियों को सामने रखकर नई कॉपी तैयार की। उन दिनों उनकी इस बारे में कही बातें मुझे याद आती रहती हैं। इस दौरान उन्होंने मुझे कहा—तुम्हारी लिखी हुई प्रति में मैं ढूँढ़ता रह गया कि काश एक भी वाक्य व्याकरण की दृष्टि से सही हो। बोलते तो ठीक हो पर लिखते हो इतना गलत। फिर उन्होंने बाद में एक दिन कहा तुम हिंदी में लिख सकते हो। दो महीने प्रयास करोगे तो तुम्हारी वर्तनी की गलतियाँ भी सुधर जाएँगी। एक दिन बोले कि तुम्हारी कॉपी से तुम जो कहना चाहते हो मैं समझ गया और उसी के अनुरूप लेख तैयार किया है। पर अनुवादक के स्थान पर सीमा कच्छप का नाम रहेगा। स्टूडेंट है, इसका उसे कहीं फायदा मिल जाए।

अशोकजी की बात मानते हुए मैंने 'मेरा पहला दोस्त' नाम से एक लेख भेजा। इस बार मैंने खुद हिंदी में कॉपी तैयार की। मेरे हिंदी में लिखने से उनको काफी मेहनत करनी होती थी। मैं सुनीलजी से कहता था यह तो अशोकजी पर जुल्म है। पर अशोकजी मेरे लेख को बोझ नहीं मानते थे। उनका यही सोच मेरे जैसे लोगों को लिखने के लिए प्रेरित करता था। वरना मैं कभी हिंदी में लिखने का दु:साहस नहीं करता।

जैसा कि मैंने पहले कहा है कि अशोकजी को मैं मेरी प्राय: कहानियाँ सुनाता था। वे उड़िया पढ़ या बोल नहीं पाते थे। परंतु बांग्ला जानने के कारण धीरे-धीरे बोलने पर उड़िया समझ जाते थे। दस-बारह साल पहले मेरी एक कहानी सुनकर उन्होंने दुखी होकर कहा, बहुत खींच गई है। इसका एहसास मुझे भी थोड़ा-थोड़ा था। अशोकजी की टिप्पणी से मुझे लगा कि कूड़ा लिखने से मुझे उन्होंने बचा दिया है। इस घटना के बाद मैंने तीन-चार साल तक एक भी कहानी नहीं लिखी। जब मिलते या फोन पर बात होती, उनका पहला सवाल होता, नया कुछ लिखा है? उन दिनों मैं उड़िया में अनुवाद करता था। निबंध और स्तंभ लिखता था। उसी का जिक्र कर देता। पर वे सुनाने के लिए कभी नहीं कहते थे। शायद वे चाहते थे कि मैं कहानी लिखूँ।

2004 में मैंने उड़िया में एक कहानी लिखी। उस कहानी का शीर्षक 'झिओ' (बेटी) था। उस कहानी को एक पत्रिका ने लौटा दिया कलकत्ता आने पर अशोकजी को कहानी सुनाई तो उन्हें बहुत पसंद आई। उन्होंने तुरंत उसे हिंदी में लिखने को कहा। उसके बाद अशोकजी ने उसकी कॉपी एडिट करके 'वागर्थ' में छपने के लिए देते हुए मुझे खत लिखा,''किसी पत्रिका में छपे-न-छपे इसे मैं एक अच्छी कहानी मानता हूँ।'' इसी बात को उन्होंने किशनजी से भी कहा जिसके कारण किशनजी ने मुझे उस कहानी को उड़िया में सुनाने को कहा। किशनजी ने सुनने के बाद ऐसा कुछ मंतव्य नहीं दिया; फिर भी मुझे आश्वस्ति हुई कि मैं अब कहानी लिख सकता हूँ। वह मेरे जीवन में कितना बड़ा निर्णायक क्षण था इसे सिर्फ मैं ही समझ सकता हूँ। कई साल के बाद मैंने एक कहानी लिखी थी। इसे एक उड़िया पत्रिका ने छापने से मना कर दिया था। अशोकजी का उत्साह न मिला होता तो शायद आगे मैं और कहानी नहीं लिख पाता। आज भी मैं कोई बड़ा कहानीकार नहीं हूँ और मेरे न लिखने से कहानी जगत का कुछ नुकसान नहीं हो जाता। परंतु एक व्यक्ति होने की हैसियत से मैं खोखला हो गया होता और यह मेरे जीवन की एक बहुत बड़ी क्षति होती।

मेरी एक कहानी है 'गोपन चिट्ठी'। एक उड़िया पत्रिका ने उसे लौटा दिया था। पत्रिका के संपादक से मेरी जान-पहचान है। वे एक पहुँचे हुए लेखक हैं, उन्हें साहित्य अकादमी सहित कई साहित्यिक पुरस्कार मिले हैं। पांडुलिपि को लौटाते हुए उन्होंने कहा था कि कहानी का पात्र पाँच हजार रुपए वेतनवाला एक नौकरी पाकर ही खुश हो जाता है। यह बात उड़ीसा के

लोगों के सम्मान को नीचा दिखाती है। आप 'पाँच हजार' के स्थान पर 'दस हजार' कर देंगे तो कहानी चल जाएगी। मैंने कुछ कहा नहीं पांडुलिपि चुपचाप ले आया।

मैंने यही कहानी अशोकजी को सुनाई। उन्होंने उसका तुरंत हिंदी अनुवाद करने को कहा। मैं समझ गया उन्हें कहानी अच्छी लगी। कहानी का उन्होंने नया शीर्षक रखा 'लेटरबम'। कहानी सुनाते समय मैंने उन्हें संपादकवाला किस्सा भी सुनाया। उन्होंने कुछ कहा नहीं सिर्फ सुनने के पश्चात गंभीर हो गए। पाँच-छह महीने बाद हम मिले तब वे एकाएक खिलखिलाकर हँसने लगे और बोले उसने वेतन को 'पाँच हजार' से कितना कर देने को कहा? दस हजार? इतना कहकर वे गंभीर हो गए।

मेरी एक कहानी फूलोनानी है। अशोकजी के कहने पर मैंने उसे 'समकालीन भारतीय साहित्य' में भेजा था। उन लोगों ने यह कहकर इसे लौटा दिया कि उसका प्रसंग समकालीन नहीं है। यह सुनते ही अशोकजी ने कहा उन्हें लिखकर पूछो, 'रामायण' और 'महाभारत' समकालीन है या नहीं और आज के समय में प्रासंगिक है या नहीं।'' फिर कहा कि छोड़ो और इस कहानी को और कहीं भेजो। वह 'कथादेश' में छपी। अशोकजी जब किसी कहानी का अनुवाद करने को कहते थे तो मुझमें आत्मविश्वास आ जाता था। मुझे लगता कि मेरी कहानी जरूर अच्छी होगी। एक बार उन्होंने कहा कि तुम्हारी हिंदी में अनुवाद हुई कहानियों का एक संकलन निकलना चाहिए। उसके बाद अशोकजी, संजय भारती और मैं उसे तैयार करने में लग गए। 'राजकमल' ने उसे छापने का प्रस्ताव मना कर दिया। पर हम संकलन तैयार करने में जुटे रहे। मैं इस काम के लिए एक बार चार दिन अशोकजी के यहाँ कोलकाता में रहा। एक बार मैं और अशोकजी चार दिन तक काँचरापाड़ा में संजय के यहाँ ठहरे। अशोकजी कापी एडीटिंग करते, प्रूफ भी देखते, क्रिकेट भी टेलीविजन पर देखते और बातें भी करते। गप करते-करते रात के दो-तीन बज जाते थे। लगता था हम लोग पिकनिक मना रहे हैं। हमारे साथ में संजय के बच्चे अपू और सारा और पत्नी यमुना भी होते थे।

'इति दुविधा कथा' के नाम से पांडुलिपि तैयार हुई और 'रोशनाई प्रकाशन' ने उसे प्रकाशित किया। उसका खर्च मैंने वहन किया। तय हुआ कि किताबों की बिक्री के बाद रोशनाई पैसे लौटाएगा। यह संकलन सुनीलजी, प्रबोध कुमार और अन्य लोगों को अच्छा लगा, पर बाजार में ज्यादा बिका नहीं। अशोकजी ने कहा बेकार पैसे खर्च हो गए। मेरे कारण तुम्हारे इतने पैसों का नुकसान हो गया। एक बार मुझे अपने संस्थान के लिए बारह हजार रुपयों की नेशनल बुक ट्रस्ट की किताबें खरीदनी थीं। मैंने संजय भारती को कहा कि आप अपनी दुकान से भेज दीजिए। जैसे एन.बी.टी. 15 प्रतिशत डिस्काउंट देता है। वैसे ही संजय को भी बिल में उतना डिस्काउंट देना था। पर अशोकजी यह सुनते ही घबरा गए। वे बोले, ऐसा मत करो तुम्हारे ऊपर लांछन लगेगा। तुम दूसरे किसी बुक स्टॉल से किताब खरीदो। आखिरी दिनों में वे छोटी-छोटी बातों से काफी घबरा जाते थे।

अगस्त 2014 में आखिरी बार मैं उनसे मिला था, काँचरापाड़ा से उस दिन संजय भारती भी आए हुए थे। मेरी एक नई कहानी 'सुलो का बेटा' मुझे उन दोनों को सुनानी थी। तीन-चार दिनों से बनारस से चंचल मुखर्जी आए हुए थे। शाम को सात बजे तक उन्हें कहीं बाहर से अशोकजी के घर लौटना था। सात बजते ही अशोकजी ने कहा चंचल को फोन करो। चंचल के फोन की घंटी बजती रही। पर उन्होंने फोन नहीं उठाया। अशोकजी घबरा उठे। हम लोगों ने उन्हें न घबराने के लिए बहुत सारे तर्क दिए कि चंचल का फोन साइलेंट मोड में होगा, भीड़ में उसे सुनाई नहीं दे रहा होगा, वह कोलकाता के रास्तों से परिचित है इत्यादि। परंतु अशोकजी आश्वस्त नहीं हुए। मैं कहानी पढ़ रहा था एवं बीच-बीच में फोन भी लगा रहा था। संजय भी मेरी कहानी सुन रहे थे एवं चंचल को फोन लगा रहे थे। अशोकजी कहानी नहीं सुन पा रहे थे। वे हर पाँच सात मिनट के अंतराल में कह रहे थे कि एक बार और फोन करो। माहौल तनावपूर्ण हो गया। संजय और मुझे तो कोई घबराहट नहीं हो रही थी पर अशोकजी को बेहद तनाव था। अंततः रात करीब आठ बजे चंचल घर लौटे। उन्हें देखते ही अशोकजी का पहला वाक्य था—तुम अभी मेरे घर से निकल जाओ। मैं क्या-क्या सोच गया। मेरे पास वार्ता के कुछ ही पैसे हैं। तुम्हारा एक्सीडेंट होकर तुम कहीं पड़े होगे, ढूँढ़ने जाना होगा, अस्पताल में भर्ती कराना होगा, मृत्यु हो गई तो बनारस तक गाड़ी में तुम्हारी लाश लेकर जाना होगा। मेरे अकेले से इतना सारा काम कैसे होगा? इतना पैसा भी इन सब कामों के लिए पर्याप्त नहीं है। मैं क्या करूँगा? मजाक करते हुए मैंने कहा,'क्यों मैं और संजय भी तो आपके साथ होंगे?' चंचल हँसते रहे पर अशोकजी इतने तनाव में थे कि हँस भी नहीं पा रहे थे। उनके गुस्से को देखने से यह पता चलता था कि वे चंचल से कितना प्यार करते थे। मुझे याद आया कि जब मेरा उनके यहाँ आना होता था और ट्रेन लेट होने के कारण जब पहुँचने में कुछ देरी हो जाती थी तो वे बार-बार फोन करते थे। जिस समय फोन की सुविधा नहीं थी और मैं अरुणाचल से चिट्ठी के द्वारा बताकर उनके वहाँ आता था तो दरवाजे पर जूता खोलने की आवाज सुनते ही बिना देखे घर के अंदर से पुकारते-प्रीतिश आ गए?

जितनी चिंता अशोकजी को दूसरों के लिए रहती थी उसका एक प्रतिशत अपने लिए नहीं होती थी। न अपने स्वास्थ्य के लिए, न ही अपने खान-पान और परिधान के लिए। यह मेरा पहला हिंदी लेख है, जिसे मैं अशोकजी को दिखाए बिना कहीं छपने के लिए भेज रहा हूँ। अशोकजी इस लेख को देख लेते तो मन को तसल्ली हो जाती कि छपने लायक है कि नहीं; लेख सुधर जाता, सँवर जाता। खैर यह कमी शायद ही कभी पूरी हो पाएगी।

मेरे दादाजी जैसा दुनिया में कोई नहीं

अवनींद्र कुमार राय

माँ बताती है मैं तीन वर्ष का था जब उनके साथ मैं कलकत्ता आया था। हम दोनों को मेरे मामा ने कलकत्ता तक पहुँचाया । मेरे पापा ने भवानीपुर में पहले से ही घर ले रखा था। माँ के साथ वहीं गया। माँ पहली बार कोलकाता आई थी। माँ कहती है कि हमारे आने की खबर पाकर दादाजी (अशोक सेकसरिया) तुरत हमसे मिलने आ गए थे। उन्होंने जब पहली बार मुझे देखा तो कहा, ''अवनींद्र दुबला क्यों लग रहा है? इसका स्वास्थ्य ठीक नहीं है क्या?'' मैं दूसरे दिन ही पापा के साथ दादाजी के घर, लार्ड सिन्हा रोड आ गया। मुझे बहुत कुछ याद नहीं है। चार-पाँच महीने बाद ही मेरा अभिनव भारती हाई स्कूल में पापा ने एडमिशन करवा दिया। मेरी माँ भी दादाजी के पास लार्ड सिन्हा रोड में ही रहने लगी। सुबह में स्कूल मुझे पापा छोड़ आते। थोड़े दिनों के बाद मैं अपने बड़े भइया रवींद्र के साथ ही स्कूल जाने लगा, क्योंकि वह भी उसी स्कूल में पढ़ता था— मैं मोंटेस्सरी में और वह चौथी में। जिस दिन भइया स्कूल नहीं जाता, उस दिन मुझे लेने दादाजी स्कूल आ जाते थे। दादाजी के स्कूल आने पर वहाँ के कर्मचारी उठ खड़े होते और प्रणाम करते। मैं थोड़ा-थोड़ा समझने लगा था कि मेरे दादाजी कोई बड़े आदमी हैं, तभी तो इस तरह से लोग उनका सम्मान करते हैं।

मैं कभी-कभी पापा के साथ गाँव जाता। वहाँ मेरे दादा-दादी मुझे खूब मानते थे। मैं गाँववाले दादाजी से कहता,''कोलकाता में मेरे दादाजी भी मानते हैं।'' वर्षो बाद मुझे समझ में आया कि मेरे अपने दादाजी गाँव में रहते हैं। कोलकाता में अशोक दादाजी के साथ रहने के कारण उन्हीं को अपना दादाजी मानने लगा। वे मेरे लिए दादाजी ही नहीं, बल्कि एक मित्र भी थे। दादाजी अपने बचपन की कहानियाँ मुझे सुनाते और कभी-कभी मेरे चुटकुलों पर जोर-जोर से हँसते ।

एक बार की बात है। जब मैं क्लास वन में पढ़ता था, तब वेदांत सेकसरिया (अशोक दादाजी के छोटे भतीजे का बेटा), मुझे बुलाकर नीचे ले गया। वह मुझसे उम्र में 3 साल बड़ा है। मैं उसके संग क्रिकेट खेलने लगा। वेदांत मुझे बॉल फेकने के लिए कहता और वह बैटिंग करता। एक बार भूल से बॉल मेरी बाईं आँख में लग गई। आँख थोड़े से के लिए बच गई। अगर और थोड़ा नीचे लगा होता तो आँख फूट जाती। वेदांत डर के मारे काँपने लगा। नीचे हल्ला-चिल्ला होने लगा। दादाजी को जब पता चला कि मेरी आँख में चोट लग गई है और खून बह रहा है, तो वे दौड़े-दौड़े नीचे आए। उस वक्त पापा बाजार गए थे। पापा जब बाजार से आए, तो मुझे उस हालत में देख घबरा गए। मगर पापा से ज्यादा तो दादाजी घबराए हुए थे! दादाजी पापा से कहने लगे, ''तुरत टैक्सी ले आइए।'' छोटे दादाजी(दिलीप सेकसरियाजी, दादाजी के छोटे भाई) कहने लगे, ''अपनी गाड़ी ले जाओ।'' दादाजी ने किसी की एक भी नहीं सुनी और खुद टैक्सी बुलाने चले गए। मुझे तीन-चार टाँके पड़े। दवा खाने को दी गई थी और कहा गया था कि दो सप्ताह बाद टाँके कटवाने के लिए फिर से डॉक्टर के पास आना होगा ।

दादाजी मुझसे बीच-बीच में कहते, ''तुम बहुत लंबे हो रहे हो।'' मैं देखते-देखते दादाजी के सामने ही बड़ा हो गया। उनके पास कोई भी आता तो उनसे कहते,''अवनींद्र देखते-देखते बहुत लंबा हो गया है। बच्चों को अपने सामने में बड़े होते देखना एक अलग ही आनंद है।''

दादाजी की बहुत सिगरेट पीने की आदत थी । जब उनका सिगरेट का पैकेट खत्म हो जाता, तब मुझसे कहते, ''ये लो रुपए, मेरे लिए सिगरेट लेते आना और तुमको जो खाना हो, खा लेना।'' दादाजी के सिगरेट में लगते पंद्रह रुपए और मैं जो कुछ भी खाता उसमें कम से कम बीस रुपए लग ही जाते। कभी-कभी मुझे खराब लगता, तो मैं कहता,''आज मैं कुछ नहीं खाऊँगा।'' तब दादाजी कहते, ''नहीं, तुम कुछ खा लेना।'' इस तरह दादाजी के कारण मुझे बाहर का खाना भी खाने को मिल जाता था । हालाँकि दादाजी मुझे हमेशा कहते, ''मैं तुमसे सिगरेट मँगवाकर पाप कर रहा हूँ ।''

एक दिन मैंने दादाजी से पूछा, ''आज सिगरेट नहीं लाना है दादाजी?'' वे तुरत समझ गए कि मैं कुछ खाना चाहता हूँ। फिर भी उन्होंने कहा, ''ठीक है,एक पैकेट सिगरेट ले लेना और तुमको जो कुछ खाना हो खा लेना।'' मैं बोला, ''आज मुझे चाऊमिन खाने का मन कर रहा है।'' उन्होंने कहा, ''खा लेना।'' उन्होंने एक 50 का नोट निकाल कर मुझे दिया। मेरी माँ बाजार से आई तो दादाजी कहने लगे, ''सुशीला, तुम्हारा बेटा फ्रॉड होता जा रहा है।'' उस दिन से मेरा नाम दादाजी ने फ्रॉड रख दिया। कोई उनके यहाँ आता तो मेरा परिचय फ्रॉड के रूप में कराते। पहले तो मुझे फ्रॉड का मतलब समझ में नहीं आया।जब फ्रॉड का माने समझा, तो मैं उनके फ्रॉड कहने पर बुरा मानकर रूठ जाता दादाजी तुरत ही मना लेते ।

मेरे खाने-पीने के लिए हमेशा दादाजी कुछ लाते रहते थे। कहीं से कुछ आता तो मुझे सबसे पहले बुलाकर कहते, ''तुम

भी खाओ और प्लेट में करके मेरे लिए भी ले आओ। जब मैं स्कूल में रहता और दिन में मीठा दही आता, तो मेरे लिए दादाजी जरूर ही रखवा देते थे। मेरे घर में घुसते ही दादाजी कहते, ''अवनींद्र, तुम्हारे लिए दही रखा है, खा लो।'' दादाजी रविवार को नीचे अपने भतीजे के यहाँ इडली-डोसा खाते। जब वहाँ से आते, तो मुझे पैसे देते हुए कहते, ''तुम भी डोसा खा आओ।'' कभी उनका मन नीचे जाने का नहीं होता तो वे खाना ऊपर मँगा लेते। तब वे अपने खाने में से एक डोसा निकालकर मेरे लिए रख देते, चाहे मैं घर में उस वक्त रहूँ या ना रहूँ । दादाजी के कारण मुझे भी डोसा अच्छा लगने लगा था और सप्ताह में रविवार को तो अवश्य ही खाता।

दादाजी से मुझे कुछ पढ़ना होता, तो कहता, ''दादाजी, पढ़ा दीजिए!'' पढ़ाने के नाम पर दादाजी तुरत तैयार हो जाते। कभी उनकी तबीयत खराब रहती तो कहते, ''बाद में पढ़ा दूँगा।'' परंतु थोड़ी ही देर में बुलाकर कहते, ''अवनींद्र किताब लेकर आओ, पढ़ा देता हूँ।'' महीने की पहली तारीख को, मेरे सोकर उठते ही दादाजी की आवाज आती, ''फ्रॉड, ले तेरा पॉकेट खर्च।'' मैं चुपचाप दादाजी से हर महीने सौ रुपए पॉकेट खर्च के रूप में लेता। मेरे पापा ने मुझे कभी भी पॉकेट खर्च नहीं दिया।

किसी दिन पापा को पता चला कि दादाजी, मुझे और भइया को पॉकेट खर्च देते हैं, तो वे कहने लगे, ''आपने बच्चों को पैसे देकर बिगाड़ दिया है।'' मैं पापा की बात सुन रहा था और उन पर गुस्सा हो रहा था कि पापा को पॉकेट खर्च देना चाहिए और जब दादाजी देते हैं, तो देने से मना कर रहे हैं। फिर पहली तारीख आती, तो दादाजी चुपके से मेरे हाथ में सौ रुपए थमा देते।

दादाजी से बीच-बीच में मेरा झगड़ा भी होता रहता। वे कोई काम को बार-बार कहते तो मैं चिढ़कर उनकी बात को अनसुना कर देता। तब दादाजी मेरे बारे में न जाने क्या-क्या बोलने लगते थे। जब स्कूल से लौटता था तो सब कुछ भूल जाता और पहले जैसा सब सामान्य हो जाता। स्कूल से आने पर जब पापा घर में नहीं होते थे, तो मैं कंप्यूटर पर फिल्म देखता, तो दादाजी कान में रुई ठूस लेते। कहते,''तुम लोग बहुत परेशान करते हो।'' सबसे आश्चर्य तब होता जब दादाजी मेरे से परेशान होने के बावजूद पापा से शिकायत नहीं करते। माँ घर में रहती, तो माँ ही मेरी शिकायत करती। बोलती, ''अवनींद्र दादाजी को परेशान करता है, आप उसको कुछ बोलते क्यों नहीं है?'' पापा समझाते तो कभी डाँटते कि आगे से ऐसा नहीं करूँ, लेकिन फिर मैं वही करता। आज से पाँच-छह साल पहले, जब मैं 'चकमक' में कविता-कहानी लिखा करता था, तब दादाजी ने मुझे चकमक के संपादक, सुशील शुक्ल से मेरी बात करवाई थी। उसके कुछ दिन पहले, दादाजी ने भी उसमें बच्चों पर कहानी लिखी थी, तो उनके लिए एक चेक आया था। इसलिए मैंने सुशील शुक्लजी से फोन पर कहा, ''मैं लिखूँगा तो मुझे भी पैसे मिलेंगे?'' इस बात पर दादाजी खूब हँसे थे।

दादाजी के रहते घर में डिक्शनरी देखने की जरूरत नहीं पड़ती। सीट पर बैठे-बैठे पूछ लेता, ''दादाजी, इस शब्द का क्या मतलब होता है?'' दादाजी उस शब्द का मतलब तुरत बता देते। कभी-कभी कहते, ''डिक्शनरी देखने की आदत डालो।'' दादाजी से मिलने बहुत सारे लोग आते रहते, तो मुझे मेरी पढ़ाई म

असुविधा होती, क्योंकि जब वे बातचीत करते, तो मेरा ध्यान उधर चला जाता। दादाजी कहते, ''पढ़ाई में असुविधा होती होगी, लेकिन उपाय क्या है।'' एक बार दादाजी ने मुझे वार्ता के सिलसिले में सुनीलजी से बात कराई। जब मैंने फोन रख दिया तो मेरी माँ को बुलाकर कहने लगे, सुशीला, तुम्हारा बेटा तो कमाल कर दिया। उसने हमारे नेता से बात की है। उनको लगता कि सुनीलजी से बात करना कोई साधारण बात नहीं थी।

दादाजी जब सामयिक वार्ता में कुछ लिखते, तो मुझे ही लेखों को कंपोज करने के लिए देते। जब लेख कंपोज हो जाता, तो मैं मेल भेज देता। दादाजी इस सबके लिए माथापच्ची कभी नहीं करते। शुरू के दिनों में उनको कोई कहता कि आपको मेल भेज दिया है, तो तुरत मुझे बुलाने लगते और कहते, ''देखो इसका मेल आया है।'' एक बार बारह बजे रात में उठाकर कहने लगे, ''अवनींद्र बेटा, देखो कोई मेल आया है या नहीं।'' मैंने कहा, ''दादाजी, सुबह देख लूँगा । अभी काफी रात हो गई है।'' उनको लगता था कि यदि उस वक्त नहीं देखा गया तो सब मिट जाएगा और दुबारा भेजना पड़ेगा। स्कूल से आता,जूता पैर से निकालता नहीं कि दादाजी की आवाज आती,''अवनींद्र बेटा, आज तुमको बहुत पैसे मिलनेवाले हैं, क्योंकि आज बहुत टाईप करना है।'' दादाजी का मैं हर महीने कम से कम 30 पेज जरूर ही टाईप कर देता। इस वास्ते हर महीने मुझे भी चार-पाँच सौ मिल जाते। 29 नवंबर 2014 को दादाजी मुझ फ्रॉड को छोड़कर चले गए। मैं भीतर ही भीतर बहुत दुखी था । मैं अपने पिता के साथ-साथ खूब रोया।

मैं दादाजी की गोद में खेलते हुए बड़ा हुआ हूँ। जब वे थे तो उनका महत्व समझ में नहीं आया। अब समझ रहा हूँ कि दादाजी कितने बड़े आदमी थे । दादाजी के देहांत पर कई जगह उनके लिए शोक सभाएँ हुईं। सिर्फ कोलकाता में ही नहीं—दिल्ली, पटना, मुजफ्फरपुर, भोपाल, उत्तर-बंगाल और पता नहीं कहाँ-कहाँ। अखबार और पत्रिकाओं में उनके बारे में आज भी कुछ न कुछ आता ही रहता है। यदि मेरे बचाने से दादाजी बच जाते तो मैं दादाजी को मरने ही नहीं देता।दादाजी के लिए कालीघाट श्मशान में बहुत लोग गए थे। इतने लोगों को देखकर मैं आश्चर्य से सोचने लगा कि जिनकी गोद में मैं खेला करता था, झगड़ा करता था, जिनसे चुटकुले सुना करता था वे 'मेरे दादाजी' इतने बड़े आदमी थे। सोचकर मैं अपने आपको सौभाग्यशाली मानता हूँ ।

पिता से भी बड़े पिता

लालबिहारी मंडल

अशोकबाबू से मेरा बयालिस वर्षों का संबंध रहा। उनके संबंध में लिखने के लिए सामान्य सा कुछ अपने बारे में लिखना होगा, नहीं तो अधूरा रह जाएगा। इसलिए शुरू में अपना परिचय देने की मेरी बाध्यता को आप स्वीकार करेंगे।

मेरी उमर अभी ठीक कितनी है, नहीं मालूम। माँ ने सिर्फ इतना बताया था कि कार्तिक माह के किसी रविवार को मेरा जन्म हुआ था। पश्चिम मिदनापुर जिले के तालसुखुरी गाँव में मेरा जन्म हुआ। सात भाई, तीन बहन, पिता और दो माताओं का हमारा परिवार था। चारों तरफ जंगल और उसमें जहाँ-तहाँ छोटे-छोटे गाँव बसे थे। जंगल में साल और महुआ के अलावा विभिन्न तरह के पेड़-पौधे थे। उन दिनों जंगल में बाघ-भालू भी थे जो अब नहीं रहे। शहर पैदल आना पड़ता था। लोग बहुत गरीब थे। बहुत से घरों में खाना नहीं पकता था। खाना भला कहाँ मिलता-चावल नहीं, धान नहीं, पैसा नहीं। हमारा परिवार भी इसी हाल में गुजारा कर रहा था। बचपन में किसी एक वक्त भरपेट खाने को मिला हो, ऐसा मुझे याद नहीं। सात साल की उम्र से मुझे काम में लग जाना पड़ा। स्कूल जाता तो पढ़ने में मन नहीं लगता। कक्षा में दो बार फेल होने के बाद तीसरी बार किसी तरह पास हुआ। काम ढूँढने के सिलसिले में मुझे गाँव छोड़ना पड़ा। इधर-उधर छोटे-मोटे काम करते-करते किन्हीं एक सज्जन के साथ मैं झाड़ग्राम में राजाराम बाबू के पास पहुँचा। राजाराम बाबू मुझे कलकत्ता में 8, इंडियन मिरर स्ट्रीट ले आए जहाँ से साप्ताहिक पत्रिका 'चौरंगी वार्ता' निकलती थी। अशोकबाबू बिना पारिश्रमिक के उस पत्रिका का काम सँभालते थे। वे पत्रिका को बहुत स्नेह करते थे, मानो संतान से भी बढ़कर। किसी कारण पत्रिका निकलने में जरा भी बिलंब होने पर वे बहुत ही चिंतित और विचलित हो जाते। किशोरवय में मेरा अशोकबाबू से परिचय 'चौरंगी वार्ता' के दफ्तर में हुआ। उन्होंने मेरे बारे में, घर-परिवार के बारे में खोद-खोदकर पूछना शुरू किया। मैंने उन्हें सब कुछ बताया। वे बहुत करुण दृष्टि से मुझे देखे जा रहे थे। मैंने देखा उनकी दोनों आँखें छलछला गई हैं। मैं भी रो पड़ा था।

मुझे हिंदी बिलकुल नहीं आती थी। लिखना-पढ़ना तो दूर बोलना भी नहीं। अशोकबाबू मेरे लिए हिंदी सीखने की एक किताब और एक कॉपी ले आए। पत्रिका के सभी काम सँभालते हुए मुझे हिंदी पढ़ाते। कुछ दिनों में मैंने थोड़ी-बहुत हिंदी सीख ली। तब उन्होंने मुझे मोटी सी एक किताब पढ़ने को दी। किताब का नाम था 'महाभारत'। लेखक ने यह किताब इतने सुंदर ढंग से लिखी थी कि पढ़ना शुरू करने के बाद मुझसे रुका नहीं गया। हफ्ते भर में उसे पूरा पढ़ डाला और पढ़कर मुझे बहुत आनंद मिला।

1975 में आपातकाल के समय 'चौरंगी वार्ता' बंद हो गई। तब अशोकबाबू ने शुद्ध खादी भंडार में मेरे लिए काम की व्यवस्था कर दी। वहाँ मुझे 104 रुपए मासिक वेतन मिलता। उसी से खाना-पीना और संसार चलाने के बाकी खर्चों के अलावा मैं हर महीने 50रुपए अपने घर भेजता। शुद्ध खादी भंडार में काम करते तीन साल बीत गए। मैं हर रविवार को अशोकबाबू के घर जाता। एक दिन मेरी छुट्टियों का हिसाब लेने के बाद अशोकबाबू ने कहा कि तुम पढ़ाई करो। सुनकर मैं तो मानो आसमान से गिरा। इस उमर में अब क्या पढ़ाई करूँ, यह संभव नहीं। अशोकबाबू मेरे लिए कॉलेज स्ट्रीट से चौथी, पाँचवी और छठी कक्षा की सभी किताबें खरीद लाए।

उन दिनों मैं केलाबागान में खादी भंडार के घर में मुफ्त में रहता था। भंडार के हम चार कर्मचारी वहाँ रहते। इतने लोगों के बीच किस तरह पढ़ाई करनी है, यह सब समझाकर अशोकबाबू उस दिन चले गए। मैं जब पढ़ता तो लोग हँसते। तब मैं अठारह- उन्नीस का रहा होऊँगा। अशोकबाबू हर रविवार अंग्रेजी

पढ़ाने आते। बाकी विषय खुद से पढ़ता। साल भर इसी तरह चला। अगले साल सातवीं और आठवीं की किताबें खरीद लाए। अंग्रेजी तो वे पढ़ाते लेकिन बाकी विषय खुद से पढ़ने में अब मुझे मुश्किल होने लगी। उन्होंने मेरे लिए एक शिक्षक रखा और खादी भंडार के मैनेजर से बात करके प्रतिदिन मेरी डेढ़ घंटे की छुट्टी मंजूर करवा दी। फिर अगले साल वे नवीं और दसवीं की सभी किताबें ले आए। उन दिनों नवीं और दसवीं के पाठ्यक्रम को मिलाकर माध्यमिक की परीक्षा होती थी। अशोकबाबू को इस बात की बड़ी चिंता होती कि मैं किसी तरह से माध्यमिक परीक्षा दूँगा। एडुकेशन बोर्ड में जाकर उन्होंने पता किया कि एक्सटरनल परीक्षार्थी के तौर पर परीक्षा दी जा सकती है। उसके लिए अखबारों में विज्ञापन निकलता है। उम्र का प्रमाण-पत्र देकर फार्म भरना होगा। अशोकबाबू मुझे लेकर कोर्ट गए। वहाँ वकील से स्टैंप पेपर पर सही करवाकर उम्र का प्रमाण-पत्र बनवाया। समय पर फार्म भरा गया और कुछ दिनों बाद एडमिट कार्ड मिल गया।

1980 में टेस्ट परीक्षा में बैठा। रिजल्ट निकला तो मैं फेल था। मैंने सोचा अच्छा ही हुआ, और पढ़ाई नहीं करनी पड़ेगी। लेकिन अशोकबाबू छोड़नेवाले कहाँ थे भला। मैंने उनसे कहा, मुझसे और पढ़ाई नहीं होगी। उन्होंने कहा, देखो, मोहनबागान-ईस्ट बंगाल के बीच फुटबॉल होता है, कभी कोई जीतता है, कभी कोई हारता है। समझो कि तुम इस बार हार गए। मैंने कहा डेढ़ घंटा पढ़ाई करके पास नहीं हुआ जा सकता। उन्होंने कहा, ठीक है तुम्हें पास नहीं करना होगा लेकिन पढ़ाई करनी होगी, इससे तुम बहत कुछ सीख सकते हो। मैंने फिर कुछ नहीं कहा।

1981 में दुबारा टेस्ट परीक्षा दी और पास हो गया। 1982 के जनवरी में यूनियन के आंदोलन के कारण खादी भंडार बंद हो गया। उस समय मैंने जमकर पढ़ाई की। मार्च में माध्यमिक परीक्षा शुरू हुई। अशोकबाबू हर रोज मुझे पढ़ाने आते। परीक्षा के दौरान उनके पिताजी का निधन हो गया। अशोकबाबू ने तब अपने मित्र योगेंद्र पालबाबू को मुझे पढ़ाने जाने को कहा। मेरी परीक्षा समाप्त हुई और खादी भंडार फिर से खुल गया। जिस दिन परीक्षा का रिजल्ट निकला उस दिन अशोकबाबू कॉलेज स्ट्रीट आकर गजेट में मेरे पास होने की खबर जान गए। उस दिन मैं काम पर नहीं गया और मन में आशंका लिए कॉलेज स्ट्रीट गया। देखा कि पास हो गया हूँ। मैंने अशोकबाबू के घर फोन किया तो मेरे कुछ कहने के पहले ही उन्होंने कहा, लालू तुमने कमाल कर दिया। तुम मेरे यहाँ आओ। मैं उनके घर गया तो देखा उनकी खुशी का ठिकाना नहीं। मुझे कहा, तुम सफल हुए और मेरा मान रख लिया। उन्होंने मुझे दो सौ रुपए मिठाई खाने को दिए।

कुछ दिनों बाद अशोकबाबू ने मुझे विवाह कर लेने को कहा और कहा कि उन्होंने अगर विवाह किया होता और उनकी अगर बेटी होती तो वे मुझे जमाई बनाते। 1984 के मई महीने में मेरा विवाह हुआ और अशोकबाबू उसमें शामिल होने मेरे गाँव गए। साल भर बाद जब हमारी बेटी पैदा हुई तब अशोकबाबू ने कहा कि तुम पत्नी और बेटी को कलकत्ता ले आओ। मैंने कहा कि सामान्य सी आय में परिवार के साथ यहाँ रहना संभव नहीं। उन्होंने कहा, ठीक है मकान का जो किराया होगा वह हर महीने मैं दिया करूँगा। 1988 में परिवार ले आया और सोदपुर में किराए पर मकान लेकर रहने लगा। वे निरंतर हमारे परिवार की चिंता करते विशेषकर हमारी बेटी की पढ़ाई की। मैं अशोकबाबू की कृपा मानता हूँ कि मेरी बेटी आज प्राईमरी स्कूल की शिक्षिका है और अपने पति के साथ खुशहाल है।

1999 की बात है। मैं काफी बीमार हो गया था। अशोकबाबू के परिवार के अत्यंत घनिष्ठ डा. एस जैन जिनको मैं अपना बड़ा भाई मानता हूँ, मुझे देखने सोदपुर आए। बाद में उन्होंने मुझे कलकत्ता के एक नर्सिंगहोम में भर्ती करवाया और मेरी बड़ी सहायता की। पैसे काफी खर्च हो रहे थे। अशोकबाबू के देने का तो कोई हिसाब ही नहीं। मेरी बीमारी का पता उनके परिवार को चला तो उनके छोटे भाई दिलीपबाबू की पत्नी विद्याजी ने इलाज का सारा खर्च देने के लिए कहा तो अशोकबाबू ने कहा कि नहीं यह खर्च वे देंगे। मेरी पत्नी मिताली को अशोकबाबू ने एक बार कहा था कि जब तक वे हैं तब तक वह किसी प्रकार की चिंता न करे।

अशोकबाबू एकदम साधारण जीवनयापन करते रहे। उनके बिस्तर के चारों ओर बिखरी किताबें, और पत्र-पत्रिकाएँ कमल की पंखुड़ी समान लगतीं और उनके बीच में बैठे अशोकबाबू मानो जलाशय में खिले कमल की तरह दिखते। कभी-कभी वे दोनों घुटने मोड़कर जिस मुद्रा में बैठे रहते वह एकदम लोकनाथ ठाकुर के बैठने की मुद्रा होती। यह बात मैंने उनको कही भी थी। अशोकबाबू के सिगरेट पीने का तरीका भी अजीब था। चुपके से लंबा कश खींचते। बीच में देखा कि वे बीड़ी पी रहे हैं। मैंने पूछा तो कहा कि इससे कुछ पैसों की बचत हो जाएगी। लेकिन बीड़ी उनसे पी नहीं जाती। इसलिए फिर से सिगरेट पीने लगे। अशोकबाबू मानुष रूप में भारतवर्ष में भले जनमे थे लेकिन वे पूर्ण रूप से साधु बाबा थे। कभी-कभी उनके कमरे में घुसता तो देखता वे बिस्तर पर लेटे हुए हैं और उनका सिर बिस्तर से नीचे लटक रहा है। आवाज लगाता तो धीरे से उठते।

अशोकबाबू जब अस्पताल में भर्ती थे तब उनको देखने गया। उन्होंने मुझे पानी पिला देने को कहा। पानी पिलाते समय मेरे मन में संदेह हुआ कि कहीं यही मेरा अंतिम पानी पिलाना तो नहीं,और वही हुआ। उनके गुजर जाने के दो दिन बाद मैंने अशोकबाबू को सपने में देखा, वे मुझे कह रहे थे-चिंता मत करना, सब ठीक हो जाएगा।

उन्हें जैसा जाना और समझा

प्रभा प्रसाद

अशोक सेकसरिया, यानी अशोकजी, यानी न कोई फरिश्ता न ही कोई अवतार! बस, बेहद नेकदिल इन्सान, जिनसे मिलने की तमन्ना वर्षों से थी किंतु सुयोग न बना और वे चले गए अपनी अनंत यात्रा पर, अपने पीछे अनेक-अनेक सुखद स्मृतियाँ छोड़कर।

अशोकजी से मेरी मुलाकात तो नहीं हुई, किंतु फोन पर बातें करते-करते उनसे ऐसा अनूठा व अंतरंग संबंध स्थापित हो गया था कि मुझे स्वयं आश्चर्य होता है। वे एक विचारवान कहानीकार और कुशल संपादक हैं, यह मैं उनके कहानी संग्रह 'लेखकी' एवं पुस्तक की भूमिका से जान चुकी थी। मगर उनके व्यक्तित्व, रुचियों गतिविधियों तथा जीवनशैली से अनभिज्ञ रही। हाँ, जैसे -जैसे संपर्क बढ़ता गया, उनके विषय में मेरी अनेक प्रकार की धारणाएँ बनती गईं। स्वाभाविक था कि आरंभ में उनसे बात करने में संकोच होता किंतु सात-आठ वर्षों की अवधि में मैंने जाना कि वे अत्यंत विनम्र शिष्ट, शालीन व निष्ठावान व्यक्ति हैं। उनके मद्धिम स्वर, बात करने की अनोखी शैली और थरथराती सी स्नेहसिक्त वाणी में विचित्र आकर्षण तथा अपनापन होता। दस-पंद्रह दिन के अंतराल पर हम बातें करते रहे और उनसे मेरा संबंध प्रगाढ़ से प्रगाढ़तर होता गया।

अशोकजी से फोन पर बातें करते-करते ही मैंने जाना कि उनके मूर्धन्य लेखकों से उनका संपर्क, मनीषियों से संबंध, प्रज्ञावान रचनाकारों से परिचय तथा विद्वज्जनों से सत्संग रहा है। 'अहं' भाव से अछूते तथा 'मैं' वाद से परहेज करनेवाले अशोकजी की स्वयं को विशिष्ट सिद्ध करने की रत्ती भर भी चेष्टा कभी नहीं दिखी बल्कि मुझे वय में बड़े होने का सम्मान ही देते रहे। संबंधों की मधुरता व प्रगाढ़ता को निभाना उन्हें खूब आता था। आरंभ में प्रभाजी, फिर प्रभा दीदी और फिर प्रभादी। वे कहते कि मेरी बहनें तो रही नहीं, आपके रूप में मैंने बड़ी बहन पा ली है। संभवत: उनके इसी सहज स्वरूप के कारण मैं भी उनके प्रति अधिक सहज हो सकी।

अशोकजी से बातें करते-करते मैंने जाना कि उनके कोमल हृदय में करुणा की निर्झरिणी अबाध गति से प्रवाहमान प्रतीत होती है। अपनी नहीं, दूसरों की चिंता से उनका मन आकुल - व्याकुल रहता है। 'संजय क्षमता से अधिक काम अपने ऊपर ले लेता है, जवाहर को कैंसर की रोकथाम के लिए बार-बार बंबई भागना पड़ता है, गुड्डू (मेरे भाई प्रबोध और अशोकजी के पुराने मित्र प्रबोध कुमार) ने कितने रोग पाल रखे हैं, अपने स्वास्थ्य के प्रति उदासीन रहता है।' एक दिन मैंने उलटवार किया 'आप भी तो अपने स्वास्थ्य की उपेक्षा कर रहे हैं। अब देखिए, खाँसी बढ़ती जा रही है पर सिगरेट नहीं छोड़ेंगे।' 'क्या करूँ दीदी, मैं तो छोड़ना चाहता हूँ पर सिगरेट मुझे नहीं छोड़ती।' बड़ी बेबस सी, धीमी सी आवाज में उन्होंने कहा। मुझे लगा कि निरर्थक ही मैंने उनका दिल दुखा दिया। मेरे घुटनों में असहय पीड़ा है जानकर उन्हें भी पीड़ा हुई। कहने लगे 'आयुर्वेदिक दवाई भेज रहा हूँ। यहाँ बहुतों को लाभ हुआ है, आपको भी होगा।' बहुत मना करने के बावजूद तीन महीनों के लिए निर्धारित दवा वे क्रम-क्रम से भेजते रहे। मैंने दाम देने चाहे तो अत्यंत आद्र व आहत से स्वर में बोले - 'अपनी दी के लिए क्या मैं इतना भी नहीं कर सकता?'

लेखन (प्रकाशित) की दुनिया में मेरा प्रवेश अशोकजी की पहल से ही हुआ। मेरी कुछ कहानियों की पांडुलिपि प्रबोध कुमार ने अशोकजी के पास भेज दी। छपने योग्य समझकर उन्होंने संजय भारती को सौंप दी। संजयजी ने उन्हें 'साँझ की बेला' का रूप दे दिया। संजयजी द्वारा ही प्रकाशित दूसरा कहानी संग्रह 'मेरा दरद न जाने कोय' देखकर अशोकजी ने तत्काल फोन किया 'यह क्या प्रभाजी? संग्रह की पहली पहली इतनी सुंदर कहानी, और शीर्षक की वर्तनी ही गलत! आपके पास शब्दकोष तो होगा?' फिर संभवत: उन्हें स्वयं बोध हुआ होगा कि शब्दों में थोड़ा तीखापन है और वाणी में झुँझलाहट, सो क्षमायाचना जैसे स्वर में बोले ' वैसे इन दिनों समाचार पत्रों में, पत्रिकाओं में अधिकतर 'एहसास' की जगह 'अहसास' लिखा खूब आ रहा है, तो ऐसा कुछ गलत भी नहीं।

जीवनसाथी पुरुषोत्तमजी के निधन के पश्चात लगभग अर्धविक्षिप्त सी अवस्था से मुझे उबारने में अशोकजी की अहम भूमिका रही। जीवन की क्षणभंगुरता का हवाला देकर तथा अनहोनी को स्वीकार कर लेने जैसी उपदेशात्मक बातें उन्होंने नहीं की, न संवेदना जताई, न ही दार्शनिकता का सहारा लेकर मेरे उद्विग्न मन को शांत करना चाहा। उन्होंने मेरी चिंतनधारा मोड़ने का और मनोबल बढ़ाने का दूसरा ही ढंग अपनाया। उन्होंने मुझे पुरुषोत्तमजी के विषय में लिखने की सलाह दी। कभी निवेदन करते, कभी आग्रह और कभी आदेश। 'क्या होगा लिखकर?' मेरा प्रश्न होता। 'आखिर हम भी तो जाने पुरुषोत्तमजी के विषय में।' वे निरंतर प्रेरणा देते रहे और लिखना आरंभ हो गया। 'खूब विस्तार से लिखिए' संभवत: मुझे व्यस्त रखने की दृष्टि से वे कहते और थोड़े-थोड़े दिनों बाद ही लिखित पृष्ठ मँगवा कर पढ़ते। लिखने का क्रम टूट न जाए, शायद इसीलिए कहते-

'बहुत अच्छा, लिखती जाइए, पुस्तक अवश्य छपेगी।' उनकी प्रेरणा व आश्वासन से अंततः लिखने का काम पूरा हुआ।

प्रबोध कुमार द्वारा संशोधित व संपादित पांडुलिपि कूरियर द्वारा भेजे जाने पर भी खो गई। अशोकजी व्यथित हो गए पर निराश नहीं। उन्होंने प्रतिलिपि (फोटोकापी) पुनः संपादित करने की ठान ली। यह उत्तरदायित्व सौंपा गया संजयजी को। 655 पृष्ठों को 300 पृष्ठों में समेटने का श्रमसाध्य कार्य संजयजी और अशोकजी के सम्मिलित प्रयत्न से पूरा हुआ। पुस्तक का प्रारूप तैयार हो गया पर अशोकजी के दिमाग में मनोमंथन चलता रहता-कभी शीर्षक को लेकर तो कभी कोई विशेष प्रसंग छूट तो नहीं गया, यह सोच-सोचकर।

अशोकजी द्वारा लिखवाई गई पुस्तक मैंने उन्हीं को समर्पित करनी चाही किंतु प्रशस्ति और लोकप्रियता से परहेज करनेवाले और संतों जैसी निस्पृह भावना रखनेवाले उस बेहतरीन इन्सान को यह स्वीकार्य नहीं था। हाँ, भूमिका उन्होंने लिखी और बड़े मन से लिखी तथापि उसमें भी अपना नाम नहीं दिया। 'नहीं बीतती बीती बातें' शीर्षक से पुस्तक प्रकाशित हो गई। अशोकजी इसे बड़ी उपलब्धि मानते रहे। प्रतिक्रियास्वरूप पाठकों के पत्र आते, फोन आते और मैं उन्हें बताती तो गद्गद् हो उठते। पर मेरे मन में एक ही विचार बार-बार आता कि कितने दृढ़ निश्चयी, संकल्पवान एवं वचन के पक्के हैं हमारे अशोकजी।

दिल्ली से अशोकजी का नाता वर्षों पहले छूट गया था मगर स्मृतियाँ सजग थीं। संयोग की बात कि मेरे कई परिचितों से उनका भी वास्ता रहा था।विशंभरनाथ पांडे की वाक्पटुता, सुंदरलालजी की संवेदनशीलता, वैदिकजी की कुशाग्र बुद्धि तथा राजेंद्र यादव की मितभाषिता का उल्लेख वे भावविभोर होकर करते। पुस्तक में चर्चित व्यक्तियों के विषय में पूछते 'देवदत्त क्या अभी भी कुर्ता पाजामा पहने, झोला लटकाए घूमते हैं?, गुणाकर मुले से आखिरी मुलाकात कब हुई थी? आदि-आदि! जिज्ञासु इतने कि जिन्हें नहीं भी जानते थे उनके विषय में और उनके परिवार के विषय में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करना चाहते। रामाधारजी की चर्चा उन्हें सुखद लगती। उनके विषय में कुछ-कुछ 'नहीं बीततीं बीती बातें' पुस्तक से जाना, कुछ अपने मित्रों से मालूम हुआ होगा। उनकी भलमनसाहत व मित्र वत्सलता से वे अभिभूत थे।

एक दिन दोपहर तीन बजे फोन की घंटी घनघना उठी। हाँ अशोकजी, के उत्तर में वे बोले 'माफ करना दी! इस समय आप आराम करती हैं पर मैं बहुत ऊब रहा था। काम बहुत है पर मन नहीं लग रहा। सोचा आपसे बात करके चित्त थोड़ा स्थिर कर लूँ। फिर मेरे घर परिवार, भाइयों-बहनों की चर्चा ऐसे करते रहे मानो वे उनके अपने भाई-बहन हों, अपना परिवार हो। मेरा ही क्यों अपने मित्र-परिवारों के प्रति भी उनका ऐसा ही स्नेहपूर्ण व्यवहार रहता। प्यार से लबालब उनका हृदय जब-तब छलक-छलक पड़ता। सराहना करना उनका स्वभाव था और गुणग्राहकता था उनका गुण।

हमारे गृह-देवता

यमुना केसवानी

अशोकजी हमारे घर-परिवार,मन-मिजाज में ऐसे रचे बसे हैं कि उनके बिना शायद ही हमारी कोई बात पूरी होती है —बेटी 'सारा' स्कूल के लिए निकलते समय फाटक से आवाज लगाती है नानाजी की तस्वीर के पास मेरा आई कार्ड है, देना जरा! झाड़ू-पोंछा के समय मैं कहती हूँ कि अशोकजी के पलंग की चादर बदल देना।अपू को कहीं जाना है तो नानाजी की दी हुई 'वो वाली' कमीज पहन लो। आज क्या बने तो अशोकजी की पसंद का कढ़ी-चावल या बैंगन का भरता बनाते हैं। कभी शाम को गीत सुनने बैठे तो अशोकजी का पसंदीदा अमुक गाना बजाते हैं। बच्चों के कपड़े खरीदते वक्त उनकी पसंद का खयाल आ जाता। कौन सा सामान या कौन सा फर्नीचर कहाँ रखा जाएगा इसका निर्णय करने में भी अदृश्य रूप से अशोकजी मौजूद रहे कि ऐसा उनको अच्छा लगेगा और इसमें कोई संदेह नहीं कि उनके देहावसान के बाद भी जीवन पर्यंत हमारे यहाँ उनकी यह 'मौजूदगी' बनी रहेगी।

मेरे पकाए खाने की तारीफ अशोकजी लोगों से भले किया करते लेकिन उसमें उनका कितना योगदान था यह तो शायद वे जान न सके। नया कुछ बनाकर उन्हें खिलाने पर उनकी बाल सुलभ खुशी और आँखों की चमक हर क्षण मुझे कुछ न कुछ खाना बनाने को उकसाती। अशोकजी के ऊपरी रंग-ढंग को देखकर शायद किसी को उनके रुचि-बोध पर धोखा हो जाए लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं था। तरह-तरह के भोजन और खाने-पीने की चीजों की न सिर्फ उन्हें जानकारी थी बल्कि उन सबके बारे में वे इतनी बारीक से बारकी बातें जानते थे कि क्या कहें। कभी इडली बनाती तो बड़े प्यार से आकर कहते—''इडली पर लालमिर्च की बिंदी जरूर लगाना।'' कढ़ी बनाती या दही-चावल तो मीठे नीम के पत्तों का छौंक देना नहीं भूलती। यह सब तो उन्हीं से सीखा। अपने यहाँ मीठा नीम का पेड़ लगाया तो उसमें भी अशोकजी ही थे। आस-पड़ोस के लोग उसके पत्ते ले जाते हैं तो अब अशोकजी के नहीं रहने के बाद यह भाव मन में आता है कि उनकी कृपा इस रूप में भी फल रही है।

मन में उनकी बहुत-सी छवियाँ बसी हुई हैं। हमारे विवाह में जो कि आर्यसमाज मंदिर में हुआ। उन्होंने मेरे पिता के रूप में नेग-चार किए। मेरे और संजय के बीच कभी झगड़ा होता तो अशोकजी कलकत्ता से काँचरापाड़ा हाथ में कोई अखबार या पत्रिका लिए अपना पाजामा सँभालते परेशान से हमारे घर पहुँच जाते। कई बार स्कूल की छुट्टी होने पर जब बाहर निकलती तो

फाटक पर वे इंतजार करते मिलते और मुझे घेर लेते। घेरे लेने की उनकी मुद्रा भी अजीब होती—एक हाथ दीवार पर टिकाए और दूसरा हाथ फैलाए रहते। बेचैनी से पूछते, सब ठीक है न! तुम संजय से नाराज तो नहीं। तुम मेरी तरफ देखकर बोलो। अपनी गृहस्थी की जो भी शिकायत होती, मैं सिर्फ उन्हीं से कहती और हमेशा उन्होंने मुझे समझाने की कोशिश की। संजय से उनकी अत्यधिक निकटता के बावजूद मुझे ऐसा कभी नहीं लगा कि वे संजय का पक्ष ले रहे हैं और शायद संजय को भी ऐसा कभी न लगा होगा कि वे मेरे पक्ष से बोल रहे हैं।

किसी को उपहार में साड़ी या कोई कपड़ा देना हो तो वे मुझे लेकर खरीदने जाते। उनको कलकत्ता की छोटी-बड़ी, नई-पुरानी एक-एक दुकानों का पता था और कपड़ों के बारे में उनकी जानकारी गजब की थी। मैं अपने जाने में जब कोई अच्छी साड़ी पहनती तो स्कूल से छूटने के बाद उनके पास चली जाती। ऐसा कभी न हुआ कि मैंने कुछ नया पहना हो और उन्होंने उसके बारे में बात न की हो। अभी सोचती हूँ तो लगता है कि किसी के लिए भी इतने किसिम-किसिम की बातों का ध्यान रखना भला कैसे संभव है। इसलिए तो अशोकजी वाकई एक असंभव व्यक्ति थे।

एक दिन उनके यहाँ पहुँची तो देखा उनके पेट पर एक छोटा सा कबूतर बड़े आराम से खेल रहा था। उस कबूतर के पाँव में चोट लगने से एक पाँव बेकार हो चुका था। अशोकजी उसे बड़े प्यार से खेला रहे थे। कभी वह अशोकजी की दाढ़ी में चोंच घुसेड़ता तो कभी उनके पेट पर चोंच मारता। मैंने कहा कि, ''आप इसको मुझे दे दीजिए। आप इसको कैसे पालेंगे भला?'' इस पर सुशीलाजी ने कहा,'' हाँ-हाँ आप ले लेंगी तो मैं भी अधिक निश्‍चिंत हो जाऊँगी।'' वह कबूतर लगभग दो साल से हमारे यहाँ है। हमने उसका नाम 'कुटकुट' रखा है। कुटकुट पूरा अशोकजी है। हमारी हजार कोशिश के बावजूद उसने अपना कोई जोड़ा (साथी) नहीं बनाया। हमारे यहाँ आनवालों का प्रसन्न मुद्रा में अपनी गुटरूगूँ से स्वागत करता है। एक दिन उसके पास बैठ चावल साफ कर रही थी। सारा ने चावल के कुछ दाने कुटकुट के सामने रखे तो वह बड़ी खुशी से सारे दाने खा गया। वह चावल गोविंदभोग था जो अशोकजी को भी बहुत पसंद था। मैंने सारा को कहा कि अपना कुटकुट तो पूरा 'नानाजी' (अशोकजी) है।

अशोकजी से क्या सीखा यह बोलकर शायद बताया नहीं जा सकता। परीक्षा की कॉपियाँ जाँचती हूँ तो अतिरिक्त सावधानी, बच्चों को पढ़ाते समय अशोकजी छाया की तरह मौजूद रहते हैं। बचपन में पढ़ी एक कहानी याद आती है—एक शिष्य अपने गुरु के कहने पर भी घर से चुराकर कुछ नहीं लाता क्योंकि गुरु ने ही उसे बताया था कि ईश्‍वर हर पल सब कुछ देखते हैं। अशोकजी का साथ हमारे लिए ऐसा ही हैं हमारा घर-परिवार सब कुछ अशोकजी के होने से है और शायद इसीलिए अशोकजी सदा हमारे रहेंगे।

सिगरेट के पैकेट पर लिखा पता

रत्नेश कुमार

अशोक सेकसरिया ऑक्सीजन रहे हम जैसों के लिए, तभी 29 नवंबर 2014 के बाद हम जैसों को यह अनुभूति हो रही है कि हमारे जीवन के लिए अनिवार्य ऑक्सीजन उपलब्ध करानेवाले अब अपने आप पर भरोसा करने की शिक्षा देकर आगे बढ़ गए—बिना इस तथ्य पर गौर किए हुए कि बगैर इंजन का डब्बा रेल-पटरी पर खड़ा रहता है, आगे नहीं बढ़ता।

अशोकजी मुझे घोंघा-बसंत कहते रहे। नि:संदेह उन्हें मुझमें घोंघा और बसंत दीखे होंगे। दोनों संज्ञा एक विशेषण को जन्म देती है जिसका अर्थ होता है प्रचंड मूर्ख। वे शब्द-चयन के गंभीर शिक्षकों में से एक रहे जैसा कि मैं समझता हूँ। उन्होंने मुझे उल्लू बसंत या गोबर गणेश अथवा प्रचंड मूर्ख कभी नहीं कहा, जब और जहाँ कहा, घोंघा-बसंत ही कहा। उन्होंने मुझे सार्वजनिक रूप से घोंघा-बसंत कभी नहीं कहा, वहीं कहा जहाँ मेरी जीवनसंगिनी अथवा मेरे घनिष्ठ मित्र-बंधु रहे। वे इतने स्नेहिल स्वर में मुझे घोंघा-बसंत कहते रहे कि सुननेवालों को यह लगता होगा कि काश उसे भी कहते। इस सिलसिले में उनसे कभी कुछ पूछने का साहस मैं नहीं जुटा पाया। शायद उसके पीछे कारण यह रहा कि मेरा जन्म-पालन -पोषण उस परिवार में हुआ, जहाँ छोटा बड़े से सवाल-जवाब करने की बात सोच भी नहीं सकता।

कोलकाता में 16 लार्ड सिन्हा रोड स्थित अशोकजी का निवास स्थान हम कलम पकड़नेवालों के लिए अशोकालय (विद्यालय के तर्ज पर)रहा। हम कलम पकड़ुओं को उनके पास जाकर-बैठकर लगता था कि कल हमारा है। वे हममें संभावना देखते थे, कि हमें सफेद कागज पर गिरी-बिखरी स्याही समझते थे, नहीं मालूम। मैं पितृहीन, उन्हें पाकर पिता पाया-सा महसूस करता। उन्हें 'तात' माना-कहा मैंने। यह और बात है कि उन्होंने मेरे इस संबोधन को स्वीकारा न नकारा। उन्होंने अपने लिए 'श्रद्धेय' लिखने पर आपत्ति की। उन्होंने मुझे कहा कि 'श्रद्धेय' लिखना सही नहीं है। शब्द-चयन में सतर्कता बरतनी चाहिए। उनके लिए श्रद्धेय लिखना मुझे गलत नहीं लगा। उनकी आपत्ति के बावजूद उनको मैं श्रद्धेय से संबोधित करता रहा।

गुवाहाटी से कोलकाता स्थित अशोकालय जाकर लगाता था कि विद्यालय आ गए। वहाँ जाने से और उनसे मिलने पर जीवन में आस-आस थकी साँसों में ताजगी, और लड़ने-जूझने की ताकत आ जाती थी। जब-जब गया, वहाँ से ताकत पाकर और शिक्षित बनकर लौटा।

वे 'मैन मेकर' थे। उनके जैसा मास्टर मैंने दूसरा नहीं देखा।

उन्हें अशोक मास्टर कहा जाना चाहिए था, न कि अशोक सेकसरिया। 16, लार्ड सिन्हा रोड स्थित अशोकालय को गुरुद्वारा बोला जाए अथवा ज्ञान का मंदिर या मस्जिद अथवा गिरजाघर गलत न होगा। सिख धर्म में 10 गुरु हैं किंतु 'लिख' धर्म में अनेक गुरु हैं, जिनमें अशोकजी जैसा लेखक-गुरु मुझे लगता है कि हमारे जीवनकाल में शायद न हुआ और न होगा।

1995 में हुए मेरे विवाह में उनकी सबसे बड़ी भूमिका रही। इसे यों भी कहा जा सकता है कि वे न होते तो मैं अविवाहित होता। मैंने जिद पकड़ रखी थी कि अपनी जन्मना जाति छोड़-कर अंतरजातीय विवाह करूँगा। मेरे घरवाले परेशान थे, विशेषकर मेरी विधवा माँ-बड़ी माँ (ताई) और बहनें। मेरी माँ-बहनों ने अशोकजी से बात कर उनसे मुझे समझाने का अनुरोध किया। उन्होंने मुझसे कहा, आपके अनुसार आपके जीवन में ऐसी कोई लड़की नहीं है जो आपसे विवाह करना चाहती है। किसी लड़की से बिना प्रेम के अंतरजातीय विवाह करने की जबर्दस्ती नहीं की जा सकती है। पारंपरिक विवाह में बुराई नहीं है। आडंबर, दहेज लेने में बुराई है। उन्होंने मुझे हर तरह से बहुत समझाया था तब जाकर मैं राजी हुआ था।

गुवाहाटी से मेरी पत्नी गीता को लेकर कोलकाता उनसे आशीर्वाद लेने गया तो उन्होंने उससे कहा, बेटा, रत्नेश का ख्याल रखना। यह तुम्हारा ख्याल क्या रखेगा, तुम्हें ही इसका ध्यान रखना होगा। गाँव में बेटी बेटा सुनने की अभ्यस्त नहीं होती। वह भी तब जब घर में बेटा हो। गीता बेटा सुनकर गदगद। अशोकजी में उसे रामकृष्ण परमहंस दिखलाई दिए। यह बात जब मैंने उनके घनिष्ठ मित्र और अपने बुजुर्ग प्रयाग (शुक्ल)जी को बतलाई तो वे बोले, 'अशोकजी परमहंस ही हैं।'

तब 'हिंदुस्तान' (दैनिक)के वरिष्ठ उप संपादक विद्याधर राय जब 'पूर्वांचलप्रहरी'(गुवाहाटी)में थे और 'जनसत्ता' के कलकत्ता संस्करण के लिए साक्षात्कार देने जा रहे थे तो उन्होंने गुवाहाटी रेलवे स्टेशन पर मुझसे पूछा, 'कलकत्ते में आपका कोई है?'

मैंने उत्तर दिया, 'हाँ।' उन्होंने कहा,' मेरा कोई नहीं है।'

मैंने सिगरेट के फेंके पैकेट उठाकर उसकी पीठ पर लिख दिया श्रद्धेय अशोकजी, विद्याधरजी मेरे साथी हैं। सादर आपका। और उनका पूरा पता लिख दिया।

विद्याधरजी ने लौटकर बतलाया,'अशोकजी ने अपने बिस्तर पर मुझे सुलाया और खुद जमीन पर सोए। अपने यहाँ रखने के साथ-साथ नाश्ता-खाना। सुविधाओं का पूरा ध्यान रखा। तीन दिनों तक मुझे रोककर पूरा कलकत्ता घुमाया। मेरा एक रुपया खर्च न होने दिया।'

अशोकजी हमारे बारे में 'अ' से 'ह' तक जान लेते थे,किंतु अपने बारे में इतना भी नहीं बतलाते थे कि 'अ' से अशोक होता है। वे शायद संसार के पहले लेखक होंगे जिन्होंने अपनी पुस्तक खरीदने से मना किया हो। सन 2000 के बाद अशोकालय गया तो उनके साथ रहनेवाले बालेश्वर (राय)जी ने उनके बाथरूम में जाने के बाद मुझे बतलाया, 'अशोकजी की कहानियों का संकलन प्रयागजी के संपादन में आया है नाम है 'लेखकी'।

'भारतीय भाषा परिषद में मिलेगी?' मैंने चहककर पूछा।

लेखकी की कुछ प्रतियाँ बची हैं। जब अशोकजी जाते हैं तो शोकेस में देखकर नाराज होते हैं और शोकेस स्थित किताबों की अगली कतार से निकालकर किताबों की कतार के पीछे रख देते हैं ताकि उस पर किसी की नजर न पड़े।' उन्होंने कहा ।

अशोकजी बाथरूम से बाहर आए तो मैं अपनी प्रसन्नता पर काबू न रख सका। मैंने उनसे कहा,'भारतीय भाषा परिषद से आता हूँ।' उन्होंने पूछा, 'क्या काम है?' मैंने उत्तर दिया, 'लेखकी' लेनी है। वे बोले, 'पैसा मत बरबाद कीजिए।' मैं उनका मुँह देखने लगा। मैं जिद्दी बच्चे की तरह बोला, 'मुझे चाहिए ही।' वे समझ गए कि यह माननेवाला नहीं है। लेगा ही। उन्होंने अपने कमरे में छुपाकर रखी 'लेखकी' की प्रति देते हुए कहा, 'अपनी प्रति दे रहा हूँ, ताकि आपका पैसा न बरबाद हो।'

अशोकजी पत्र-पत्रिकाओं में आ रहे निर्मल वर्मा के हिंदू संस्कृतिवादी विचार से दुखी थे। उस सिलसिले में उनसे जब मेरी बात हुई तो मैंने कहा, 'नानिन से सावधान' पर काम करने की सोच रहा हूँ।

'नानिन?' उन्होंने पूछा।

'हाँ, नाथूराम गोडसे, निर्मल वर्मा और नरेंद्र कोहली तीनों में वैचारिक समानता है।' मैंने कहा।

'नहीं-नहीं निर्मलजी ऐसे नहीं।' वे बोले।

'उन पर सावरकर सवार है।' मैंने धीरे से कहा।

'नहीं।समझ में नहीं आ रहा कि वे क्यों ऐसा कह-कर रहे हैं?'

वे बोलते-बोलते चुप हो गए थे।

मुझे लगा था कि वे निर्मल वर्मा के हिंदू मत-विमत की सार्वजनिक निंदा करने के पक्ष में नहीं। वे जिनसे जुड़े होते थे, उन पर भरोसा करते थे। एक बार अशोकालय प्रवास के दौरान मैंने उन्हें बतलाया कि कुँवर (नारायण)जी ने विश्वनाथ प्रताप सिंह के कविता संकलन का विमोचन किया है। वे यह मानने के लिए तैयार न थे। उन्होंने मुझसे बार-बार पूछा, 'सुना है या पढ़ा है?'

मैंने उनसे कहा, 'मैंने स्वयं अखबार में पढ़ा है।' तब जाकर उन्हें विश्वास हुआ था।

गुवाहाटी से कोलकाता जब-जब गया, केवल अंतिम बार को छोड़कर उन्हें हावड़ा रेलवे स्टेशन पर पाया-मुझ जैसे अति सामान्य जन या अस्तित्व शून्य व्यक्ति को स्टेशन पर रिसीव करने आना, बतलाता है कि उनके लिए कोई छोटा व्यक्ति या बिन औकातवाला व्यक्ति न था।

अशोकजी के बारे में कुछ पंक्तियों या पन्नों में लिखा नहीं जा सकता। वे एक पूरी पुस्तक थे, वैसी पुस्तक जिसे पढ़ने का बार-बार मन हो। मेरे मन-मस्तिष्क में यह बार-बार आता है कि वे मेरे लिए एक अलिखित पुस्तक ही रहे। ऐसी पुस्तक क्या कभी लिखी जाएगी जिसमें पूरा अशोकजी हों?

बरगद समान विशाल हृदय

शिउली वनजा

मेरे गाँव केसला के पास के जंगल में एक विशाल छायादार बरगद का पेड़ है। एक बार गर्मी में बांसलाखेड़ा जाते हुए हमें अचानक मिल गया। अनेक पक्षियों का घर, गर्मी से परेशान राहगीरों और पशुओं का ठौर, अडिग, निरंतर खड़ा, शांति और सुकून का स्रोत। अशोकजी के बारे में सोचने से उस बरगद के पेड़ की मुझे याद आती है। जब तक वो है तब तक अनेक राहगीर आते हैं उसकी छत्रछाया में और उसीके हो के रह जाते है।

बाबा के चले जाने से अभी तक मैं अपने आप को सँभल भी नहीं पाई थी तब ही अचानक अशोकजी के चले जाने का समाचार मिला। बाबा का दुख अशोकजी के जाने के दुख से मिलकर ऐसा एहसास कराता है मानो आपकी रीढ़ की हड्डी गायब हो गई हो शरीर से और बिना उसके चलने-फिरने और कामकाज नार्मल तरीके से करते रहने का आपको दंड मिला हो। बहुत सारी बातें हैं जो अशोकजी से करनी थी अभी, प्रश्न पूछने थे, अपने मत कई चीजों पर बताने थे उनके मत पूछने थे, थोड़ा लाड़ पाना था जो बिना माँगे ही अशोकजी बाँटते थे।

मेरी उनसे पहली मुलाकात केसला में हुई जब वो किशनजी की किताबों के संपादन के लिए वहाँ एक गर्मी में आकर रहे थे। पहली मुलाकात कई बार कोई प्रभाव आपके ऊपर नहीं छोड़ती है और कई बार इतना गहरा प्रभाव छोड़ती है कि जिंदगी भर के लिए एक आत्मीय रिश्ता बन जाता है। अशोकजी के साथ मेरी मुलाकात ऐसी ही थी। उनका स्वभाव बहुत आत्मीय और प्यार भरा था और वो बच्चों के साथ बच्चों को रोचक लगनेवाली बातें करके उनका मन जीत लेते थे। तो उस मुलाकात में तो वो मेरे लिए एक प्रिय दादाजी के रूप में मेरे मन में स्थापित हो गए। उनसे मेरी अगली मुलाकात धनबाद में विद्यार्थी युवजन सभा के शिविर के दौरान हुआ। वो वहाँ संजय भारतीजी के साथ आए हुए थे। उनका स्वास्थ्य पहले से कुछ खराब हुआ था पर बातचीत पहले की तरह से बुलंद, प्यार भरी और आत्मीय थी।

उनसे ज्यादा वार्तालाप और चर्चाएँ जब बाबा (सुनील) के संपादन में सामायिक वार्ता निकलने लगी उसके बाद शुरू हुआ। बाबा उनसे लगातार वार्ता के हर अंक को लेकर, लेखों, लेखकों और संभावित लेखकों को लेकर फोन पर लंबी-लंबी बातें करते। कई बार मुझे कुछ विषयों पर लिखने के लिए कहते और कई बार अशोकजी भी मुझे कहते वार्ता के लिए लिखने के लिए। कुछ थोड़ा मैंने लिखा भी पर ये एक आत्मग्लानि का विषय रहेगा कि जितना लिखना था उतना लिखा नहीं। सन् 2012 में पहली बार कोलकाता गई थी अशोकजी से मिलने। और बहुत मना करने के बाद भी अशोकजी रात भर ठीक से न सोकर मुझे सुबह 5 बजे की ट्रेन से लेने स्टेशन आए। उनकी स्नेह भरी आवभगत जिसमें मिष्टी दोई से लेकर झालमूड़ी और खादी-भंडार से कपड़ों का तोहफा शामिल है शायद जो भी उनके घर जाता हो उसे मिलती होगी। पर मेरे लिए वो सारी चीजें अनोखी थी और अशोकजी के स्नेह की परिचायक। मुझे वो उनके घर के पास श्री अरबिंदो का जन्मस्थल दिखाने के लिए ले गए।और बिलकुल भी आध्यात्मिक व्यक्ति न होने के बावजूद मुझे वहाँ बहुत आनंद आया।अभी सोचती हूँ तो लगता है शायद अशोकजी के साथ होने का नतीजा था।

बाबा के जाने के बाद वार्ता का जो स्मृति अंक बाबा पर निकलना था मैं उसमें थोड़ी मदद कर रही थी। इस सिलसिले में उनसे फोन पर कई बार बातें होती। वो हमेशा ही बहुत उदार रहते उनके प्रति भी जो मेरी नजरों में बाबा के विचारों का अपनी सुविधा के हिसाब से गलत आकलन अपने संस्मरणों में कर रहे होते। और अशोकजी मुझे समझाते कि एक अच्छे संपादक को लोगों के लिखे हुए लेखों को बिना काटे-छाँटे देना चाहिए। इस तरह की आदर्शों पर बने रहने के बावजूद दूसरों के विचारों के प्रति उदारता उनके व्यक्तित्व का हिस्सा थी। इस मामले में उनका व्यक्तित्व बाबा के व्यक्तित्व से मेल खाता था।

मैंने विदेश आने के समय उनसे ये वायदा किया था कि मैं किसी न किसी रूप में वार्ता के लिए लिखूँगी। अफसोस यह है कि अब जब लिख रही हूँ तो अशोकजी स्वयं नहीं है। आनेवाले समय में अपने वायदे को पूरे करने की कोशिश करूँगी इसके सिवाय अब कहने के लिए भी कुछ नहीं है। और कभी-कभी ऐसा लगता है बाबा और अशोकजी के चले जाने से अब सुननेवाला भी कोई नहीं है।

कहीं गया नहीं हूँ मैं

संजय गौतम

हमारे अशोकजी नहीं रहे। सचमुच वे हमारे थे, हम सबके थे। हम जैसे हजारों लोगों के थे। वे किसी के 'पिता' नहीं थे, लेकिन उन्होंने अपने पितृत्व,अपने भातृत्व, अपने मित्रत्व का इतना आंतरिक विस्तार कर लिया था कि उनके संपर्क में आनेवाला हर व्यक्ति उन्हें अपना ही समझता था। वे तुरंत ही बच्चों के दुलारे बाबा बन जाते थे, पिता बन जाते थे, संरक्षक बन जाते थे, संपोषक बन जाते थे। बिना किसी अधिकार के ऐसा मानवीय, स्नेहिल संस्पर्श देते थे कि व्यक्ति स्वयं ही तरल होने लगता था। वे कोलकाता के बोटैनिकल गार्डेन के छतनार बरगद की तरह थे जहाँ तरह-तरह के लोग आश्रय पाते थे।

वे अशोक सेकसरिया थे। प्रसिद्ध स्वतंत्रता सेनानी सीताराम सेकसरिया के सुपुत्र। उन्होंने अपने व्यक्तित्व से कई पीढ़ियों के व्यवसायीपन को बूँद-बूँद निचोड़कर निकाल दिया था।

जब मोबाइल पर उनके न होने का संदेश मिला तो न जाने कितनी छवियाँ अस्त-व्यस्त रूप में आती रहीं, आती ही रहती हैं।

नौकरी करने कोलकाता पहुँचा था तो साथ में उनके पते की डोर बनारस से लेकर गया था, 16 लॉर्ड सिन्हा रोड, कोलकाता। इसी पते पर उन्हें पूछता हुआ उनके पास पहुँचा।

उनका कमरा हमेशा खुला रहता था।

जैसे ही बताया कि बनारस से आया हूँ, उन्होंने ढेर सारे सवाल पूछ डाले। राजेंद्र राजन, अफलातून, चंचल के बारे में, सामायिक वार्ता के बारे में, मेरी नौकरी के बारे में, रहने की जगह के बारे में, घर-परिवार के बारे में, कोलकाता में हो रही दिक्कतों के बारे में।

बीच में वे उठकर गए और कटोरी में दलिया लेकर वापस आ गए।

'लो खाओ' मैंने खा लिया।

फिर वे गए और दो कप चाय लेकर आ गए।

हम लोगों ने चाय पी।

पहली बार में ही मुझे लगा कि यहां तो कभी भी आया जा सकता है।

काफी देर तक रुक गया, फिर बालेश्वरजी से भेंट हुई।

फिर तो वह मेरा शाम का आश्रय हो गया, छुट्टियों में दिन भर, कभी-कभी रात का भी ठिकाना हो गया।

उनका घर सभी के लिए था, किचन सभी के लिए था, किताबें सभी के लिए थीं, समय सभी के लिए था, उनका कुछ भी निजी नहीं था।

हम जाते थे। वे चाय बनाने के लिए तत्पर हो उठते थे, हम उन्हें मना करते थे, जिदपूर्वक किचन में चले जाते थे चाय बनाते थे, फिर साथ बैठकर पीते थे। वे हर समय पढ़े हुए के बारे में पूछते, लिखे हुए के बारे में पूछते। बातें करते रहते। वहीं बालेश्वरजी रहते थे। दोनों की भेंट कैसे हुई नहीं मालूम लेकिन वे बालेश्वरजी, उनके परिवार की चिंता करते रहते थे और बालेश्वरजी उनकी। दोनों के बीच आत्मीय नोंक- झोंक देखने लायक थी। उन्होंने बालेश्वरजी के परिवार को कैसे अपना परिवार बनाया। यह उनकी पत्नी की किताब 'एक अनपढ़ कहानी' को पढ़कर जाना जा सकता है। अक्षर मात्र का ज्ञान न रखनेवाली सुशीला ने उनकी चिट्ठियों को सुनवाकर पढ़ा। फिर चिट्ठियों को पढ़ने के लिए ही पढ़ाई की और उनके पैदा किए आत्मविश्वास ने उन्हें अपनी कथा लिखने की शक्ति दी। वह जब कोलकाता आकर बच्चों के साथ उन्हीं के पास रहने लगीं तब भी वे उन्हें बराबर लिखने के लिए टोकते रहते थे। उन्होंने अपना परिवार भले ही न बनाया हो लेकिन जिंदगी भर जाने कितने परिवार उन्होंने इसी तरह बनाए-बसाए।

उन्हीं के घर पर आते-जाते, रहते हुए ही प्रयाग शुक्ल, प्रबोध कुमार जैसे उनके-आत्मीय मित्रों से मुलाकात हुई तो अलका सरावगी, शर्मिला वोहरा, संजय भारती तथा अन्य कई युवा लेखकों से, जिनके लेखन में उनके संस्पर्श की उष्मा, मानवीयता और शैली का प्रभाव है। संजय भारती के परिवार के बनने में भी उन्होंने संरक्षक की भूमिका निभाई। स्वयं वे इन सब बातों की चर्चा कभी नहीं करते थे। जिंदगी में उन्होंने क्या किया,यह कभी उनसे नहीं जाना जा सकता था।

जब भी मैं पूछता, आप क्या लिख रहे हैं, कुछ लिखिए। वे कहते, मुझसे कुछ लिखा ही नहीं जाता।

जब भी मैं कुछ लिखकर ले गया। उन्होंने झपटकर लिया और पढ़ने लगे। बीच-बीच में बहुत सुंदर है, बहुत अच्छा है। बीच-बीच में नहीं, यहाँ तो ठीक नहीं बना है, जैसी बातें।

अंग्रेजी के कुछ लेखों की जैसे ही चर्चा होती, हाँ... बहुत अच्छा लेख है अनुवाद कर डालिए।

अनुवाद करके ले गया। अशोकजी को दिखाने। वे पढ़ने लगे। किसी-किसी वाक्य पर कहते बहुत अच्छा हो गया, फिर उसे थोड़ा काटकर अगले वाक्य से ऐसे मिला देते कि सचमुच अच्छा हो जाता। एक-एक शब्द पर जोर देते, चर्चा करते। उसके वास्तविक, गहरे अर्थ के बारे में बताते, कई बार आश्वस्त होने के लिए डिक्शनरी देखते, जबकि हम डिक्शनरी देखने में

अलसाते। पूरा लेख उनकी कलम से रंग जाता। सचमुच फेयर करने पर वह अनुवाद निखर जाता।

जब मैंने उनसे निर्मल कुमार बोस की पुस्तक 'माई डेज विद गांधी' की चर्चा की तो उन्होंने इस बारे में लंबी बातचीत की। उसके अनुवाद के विषय में बताने पर वह तुरंत ही उसके प्रकाशन के लिए चिंतित हो उठे। चाहता था कि वह अनुवाद एक बार अशोकजी देख पाते, लेकिन अशोकजी नहीं देख सके।

वे किसकी-किसकी चिंता करते थे, कितनी तरह की चिंता करते थे, कहना मुश्किल है। सामयिक वार्ता की चिंता, कार्यकर्ताओं की चिंता, किसका खर्च कैसे चल रहा होगा की चिंता, परिवार में बच्चों की चिंता। लिखवाने की चिंता, साहित्य एवं पत्रकारिता में मूल्यों की गिरावट, भाषा की गिरावट, संस्थाओं के बदलते स्वरूप की चिंता।

भारतीय भाषा परिषद उनके पिता सीताराम सेकसरिया द्वारा भारतीय भाषाओं के अध्ययन के लिए स्थापित संस्था है। उसकी गतिविधियों को लेकर वे कई बार क्षोभ व्यक्त करते थे। पर क्षोभ जताते हुए भी कभी कोई अधिकार व्यक्त नहीं करते थे। सामान्य पाठक की तरह जाते थे। एक बार उनके साथ परिषद के पुस्तकालय में गया। किताबें देखते- देखते उनकी नजर नीचे बिखरे हुए अखबारों पर गई। 'ओफ्हो', क्या हाल बना रखा है' , कहते हुए वे जमीन पर बैठ गए। उन्होंने सारे अखबारों को तरतीब से रखा और फिर उठाकर उन्हें उनकी जगह पर रखा। मैं भौंचक देखता रह गया उन्होंने मदद करने की भी मोहलत नहीं दी।

शादी के बाद पत्नी के साथ उनसे मिलने गया। हम बैठे ही थे कि वे बाहर निकल गए। थोड़ी देर में खाने की कई चीजें लाकर रख दीं। उससे खाने के लिए कहा। कुछ चीजों के लिए मुझे मना भी करते रहे, नहीं, ये तुम्हारे लिए नहीं, इसके लिए है। उन्होंने थोड़े ही देर में अर्चना के घर-परिवार के बारे में सब कुछ जान लिया। कैसे रहती हैं, क्या करती हैं, क्या पढ़ती हैं सब चर्चा की। अर्चना के आत्मीय बन गए। बनारस लौट आने पर उन्हें खुशी हुई कि हम अपने घर लौट आए हैं। वे हम दोनों से पढ़ने-लिखने के बारे में पूछते रहते थे।टोकते रहते थे। अर्चना को भी उनके जैसा कोई नहीं मिला।

सामयिक वार्ता की चिंता तो उन्हें बहुत ज्यादा थी। सुनीलजी के निधन के बाद जब अफलातूनजी के बताने पर मैंने उनसे बात की तो उनका पहला वाक्य सामयिक वार्ता के बारे में ही था। बनारस से निकलेगी तो आप देखेंगे न, कैसे निकल पाएगी, क्या मदद करूँगा, कैसे करूँगा तमाम चर्चाएँ। उसके बाद तो जैसे उन्होंने पूरा भार ही अपने कंधों पर ले लिया। रात-दिन एक करके लिखना, संपादन करना, अनुवाद करना, पूरा अंक उन्होंने स्वयं तैयार कर दिया। कई युवाओं का कार्य उन्होंने अपने बूढ़े कंधे पर ले लिया। वार्ता की चिंता ने उन्हें लिखने, पढ़ने, संपादन के हिसाब से युवा बना दिया। दो अंको का संपादन उन्होंने अकेले किया। हम विस्मित थे कि अशोकजी कैसे कर रहे हैं। संतुष्ट भी थे कि अशोकजी का लेखन फिर तेजी से शुरू हो गया। सुनीलजी पर और देश के मौजूद परिदृश्य पर उनका लेख मर्मभेदी हैं।

अपने को कहीं भी न दिखने देने के प्रति वे इतने सजग और गंभीर थे कि अपना कुछ भी पुराना लिखा हुआ छपाना नहीं चाहते थे। जब उन्होंने शुरुआती दौर में कहानियां लिखीं तो गुणेंद्र सिंह कंपानी नाम से। ये कहानियाँ तत्कालीन पत्रिकाओं कृति, नई कहानी, कहानी, कल्पना में छपीं तो बहुत दिनों तक छिपा न रह सका कि गुणेंद्र सिंह कंपानी कौन हैं। मित्र मंडली में प्रबोध कुमार, रमेश गोस्वामी, महेंद्र भल्ला, प्रयाग शुक्ल, कृष्णा सोबती ने पहचान लिया कि ये अशोकजी ही हैं। हमें अरविंद मोहन एवं प्रयाग शुक्ल का आभारी होना चाहिए जिनके प्रयास से कुछ कहानियाँ 'लेखकी' संग्रह में छप सकीं और पाठकों को पढ़ने को मिल सकीं। मालूम हो जाता तो अशोकजी कभी नहीं छपने देते। ऐसी पता नहीं कितनी चीजें होंगी डायरी के रूप में, कहानी के रूप में, कविता के रूप में, पत्रों के रूप में जिन्हें पढ़ने का अधिकार समाज को है और अब इस दिशा में हमें प्रयास करके उनकी चीजों को प्रकाश में लाना पड़ेगा।

उनकी कहानियों में अजीब सी सादगी और निस्संगता का भाव बना रहता है। कहानियों में कहानी के रचाव, उसे गल्प में ढालने की चिंता से ज्यादा मानवीय मूल्यों की सूक्ष्म, तरल बुनावट की चिंता झलकती है। लगता है कहानी रचना भी उनसे इसीलिए छूटता गया क्योंकि वह मनुष्य की, लेखकों की, राजनीतिक कार्यकर्ताओं को गढ़ने की ओर सहज ढंग से मुड़ गए। उन्होंने हजारों लोगों की जिंदगी को बदला होगा, बिना उसका एहसास कराए। ऐसी उनकी शैली थी। ऐसी उनकी भाव भंगिमा थी। उनकी सहज, सरल भाव भंगिमा, उनके बोलने का लहजा, उनकी पुकार में घुली स्नेहिल मिठास, उनकी व्यक्त-अव्यक्त आतुर चिंता की ध्वनियाँ, राजनीति, साहित्य, संस्कृति, पत्रकारिता में गिरावट के प्रति उनका क्षोभ कुछ न कर पाने की बेचैनी और बहुत कुछ करने की आकुलता को बताने के लायक शब्द, भाषा, शैली मेरे पास नहीं है। वह भाषा में सरलता, शुद्धता, मार्मिकता के कायल थे। लफ्फाजी उन्हें पसंद नहीं थी। उन्हें किशनजी एवं सुनील की भाषा पसंद थी जो राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दुनिया की जटिल बातों को सरल, स्पष्ट, पारदर्शी तरीके से रखती थी।

अशोकजी के व्यक्तित्व की बुनावट के बारे में लिखने के लिए भी ऐसी ही सरलता चाहिए, वह मुझमें कहाँ। कैसे अर्जित करूँ ऐसी सरलता। वे होते तो उनके संपर्क से शायद धीरे-धीरे अर्जित कर पाता।

एक न दिखनेवाली डोर थी, मन में, जिससे हम दोनों जुड़े थे।
एक झटके में टूट गई, तोड़ दिया उन्होंने, पूछा भी नहीं,
पूछते तो...

कह रहे हैं वे,हूँ... अरे डोर भी कहीं टूटती है, वह तो मन में है, ठीक से देखो वहीं बैठा हूँ, कहीं गया नहीं हूँ मैं।

कुछ यादें

प्रेमपाल शर्मा

यदि ठीक-ठीक याद करूँ तो पिछले पाँच सालों में तीन-चार मुलाकातें अशोकजी से हुईं। यूँ कलकत्ता में पिछले लगभग 25 वर्षों से लगातार जाता रहता था और बंगाली संस्कृति, साहित्य के प्रति कुछ-कुछ आसक्ति के कारण कलकत्ता जाना मुझे सदैव से अच्छा लगता रहा है।

दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रेम सिंह और रेलवे के एक और साथी जसबीर अरोड़ा का आग्रह हुआ कि अगली बार जाएँ तो अशोकजी से जरूर मिलना। बस एक शाम मैं पहुँच गया। कलकत्ता के एक भव्य से इलाके के एक विरासत की सी बिल्डिंग के पहले तल पर। अशोकजी अपनी चारपाई या तख्त पर विराजमान थे। चारों तरफ ज्यादातर जमीन पर ही फैली हुई किताबों, अखबारों और पत्रिकाओं के बीच संजय भारती भी वहीं थे। बावजूद इसके कि मैं पहली बार उनके साथ बैठा हुआ था लगा जैसे अपने किसी बुजुर्ग की छाँह में बैठा हुआ हूँ। यदि दिल्ली के बुजुर्गों को याद करूँ तो राजेंद्र यादवजी के यहाँ भी ऐसे ही निजीपन का अहसास रहता था। हंस का दफ्तर हो या घर या कोई और महफिल, गोष्ठी। यह सुनकर अच्छा लगा कि जनसत्ता की मेरी टिप्पणियाँ पढ़ते रहते हैं। उससे भी अच्छी बात यह हुई कि पहली ही मुलाकात में कथाकार अलका सरावगी भी वहीं आ गईं। अलकाजी के उपन्यास 'कलि कथा: वाया बाईपास' पर मैंने खुद ही विस्तार से चर्चा की क्योंकि जब यह उपन्यास छपा था तब मैं बड़ौदा में था और मुझे उपन्यास वाकई बहुत अच्छा लगा था। पूरी कथा, शैली एक पारदर्शी, बोधगम्य इतिहास दृष्टि के साथ। खैर उन तीनों से मिल पहली बार रहा था लेकिन स्मृतियाँ आज तक ताजा हैं ।

स्मीतियों में जाएँ तो फिलहाल ऐसी एक और शाम मैं वहाँ था । सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर पहुँचा तो देखा दर्जनों चप्पल, जूते दरवाजे के बाहर फैले पड़े थे यानी कि अंदर बहुत सारे लोग बैठे थे। मेरे पहुँचते ही उन्होंने पूरी बैठक का मकसद बताया और यह आग्रह भी किया कि यदि आप यहाँ हैं तो कल भी आईए। शायद मसला किसी स्कूल आदि से संबंधित था जिसने अपने कर्मचारियों को निकाल दिया था। कितने चिंतित दिख रहे थे उनके परिवारों के लिए अशोकजी और उनकी पूरी समस्या के लिए ! मैंने कम से कम दिल्ली के किसी कामरेड या यूनियन नेता को ऐसा नहीं देखा। मैं अगले दिन भी पहुँचा और क्या करना है इस पर और रणनीति बनाई गई। दिल्ली लौटने के कुछ दिनों बाद संजय भारती का ही फोन था अशो जी से बात कराई और पता लगा कि मामला मजदूरों के हित में सुलझा लिया गया। हर आदमी गांधी नहीं हो सकता लेकिन हर आदमी में हजारों किरणें तो होती ही हैं वैसा करने की।मुझे नहीं पता कि अशोकजी गांधीजी से कितने प्रभावित थे लेकिन उनकी निश्छलता और मजदूरों के प्रति प्रेम से मैं अंदाजा लगा सकता हूँ कि गांधीजी शायद ऐसे ही रहे होंगे। क्या उनका ऐसी सादगी से रहना, अपने कपड़ों तक की चिंता न करना और एक ऐसे वैभवशाली पिता की संतान होने के बावजूद अपने को ऐसा अकिंचन पेश करना संतों के से गुण नहीं हैं? और जैसा कि उनकी उम्र के यार दोस्त बताते हैं अपनी पूरी उम्र उन्होंने ऐसी ही सादगी से काटी। लगभग पृष्ठभूमि में रहकर काम करते हुए। कहानी भी लिखी तो उस पर दूसरा नाम दिया। खुद उपन्यास, कहानी कम लिखी दूसरों के लिखे के एक-एक शब्द, पंक्ति को ठीक करते रहे। न नाम की चिंता रही, न नामे की। यह अचानक नहीं है। इसीलिए दिल्ली में आयोजित उनकी शोकसभा में राजेंद्र भवन के सभागृह में ठीक वक्त पर दिल्ली के सभी वरिष्ठ लेखक, शुभचिंतक पहुँच गए थे। मैं पाँच मिनट बाद जब पहुँचा तो एक भी कुर्सी खाली नहीं थी। मुझे जनसत्ता के राकेश तिवारी द्वारा दी गई आधी कुर्सी के साथ टिकना पड़ा। उसके बाद जो भी आते गए वे दीवार से सटकर खड़े होते गए। मैंने कितनी ही दिल्ली की शोक सभाएँ देखी हैं और पिछले दिनों से तो महीने में एक-दो बार जाना ही होता है, इतने कम शोर के साथ इतनी गंभीर बातें कभी नहीं हुईं। पचास के दशक से लेकर आज तक के राजनैतिक पत्रकारिता की हलचलों के बीच स्मृतियाँ और राजनैतिक हस्तक्षेप के मिले-जुले कोलाज। गोष्ठी में बैठे-बैठे मन तो मेरा भी था इन्हीं सब बातों को दोहराने का मगर चुप रहा। गोष्ठी के बाद यह भी सोचता रहा कि जब हमारे बीच एक ऐसा संत समाजवादी लेखक था तो फिर हममें से ज्यादातर क्यों राजनैतिक फरेब साहित्यिक, गठबंधनों के गिरोह में बदलता गया। हममें से ज्यादातर की चेतना तो उनसे प्रखर ही थी लेकिन शायद नैतिकता इतनी ही कमजोर। कुछ दिल्ली का असर कुछ अपनी नैतिक गिरावटें ।

उनके साथ एक परिवार भी रहता था जिनके बूते उनके खाने-पीने का काम कुछ आसान होता हो। एक बार गया तो पता लगा कि इनका नाम सुशीला राय है और उन्होंने अशोकजी

के यहाँ रहकर पढ़ना-लिखना सीखा है। इतना ही नहीं सुशीला राय ने ही अपने पढ़ने-लिखने की कहानी अशोकजी के कहने पर लिखी। सुशीलाजी ने खुद वह किताब मुझे दी। बहुत अच्छा लगा यह सब जानकर । वाकई बड़ा वही होता है जो दूसरों को खुद से भी आगे बड़ा होने का मौका देता है । बेबी हालदार भी ऐसी लेखिकाओं में से एक हैं । मेरे लिए यह पुस्तक बड़े काम की साबित हुई। रेल भवन में साक्षरता अभियान चलाने के दौरान मैं बार-बार नवसाक्षरों को सुशीला की किताब 'एक अनपढ़ कहानी' को पढ़ने के लिए कहता रहा हूँ। उनके निवास पर सुशीला की उपस्थिति से आप दूर-दूर तक भी यह नहीं कह सकते कि ये कोई घर की सहायिका हैं। घर की एक सदस्या हैं वे, उनके बच्चे सभी। सामयिक वार्ता शायद उन्हीं दिनों दिल्ली से हटकर सुनीलजी के संपादन में इटारसी चली गई थी। सुनील और उनकी पत्रिका को और कैसे आगे बढ़ाया जाए, कैसे लोगों को जोड़ा जाए वे और संजय भारती लगातार इन बातों पर चिंतित दिखाई दिये। 'आप' पार्टी उन्हीं दिनों रूप ले रही थी। मुझे अगर ठीक-ठीक याद है तो मैंने अपनी ओर से खुद उनसे आग्रह किया कि वे सुनीलजी और दूसरे साथियों को समझाएँ कि फिलहाल 'आप' एक बेहतर राजनैतिक विकल्प बन सकती है। उन्होंने शायद तब तक अपना कोई निश्चित मत 'आप पार्टी' के बारे में नहीं बनाया था ।

उनसे आप बेधड़क किसी भी विषय पर संवाद कर सकते थे। बिलकुल जैसे कोई छोटा बच्चा गेंद और साँप के साथ बेखटके खेलता है। सादगी और सौम्यता के ऐसे अनूठे साहित्यकार बुजुर्ग को मेरी विनम्र श्रद्धांजलि । पता नहीं अब उन सीढ़ियों पर वैसे ही चढ़कर जाना कभी संभव होगा भी या नहीं ।

वार्ता यहाँ से प्राप्त करें

- सोमनाथ त्रिपाठी, अनुसंधान परिसर, संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी-221002, फोनः 09415222940
- विश्वनाथ बागी, पुटकी कोलियरी, पो. कुसुंडा, जिला-धनबाद, झारखंड-828116, फोनः 09835131638
- लिंगराज समता भवन, बरगढ़, ओडिशा-768028, फोनः 09437056029
- जे.पी.सिंह, जेपी मेडिकल, बेलथरा रोड, जिला-बलिया, उत्तर प्रदेश, फोन : 09454246891
- अच्युतानंद किशोर नवीन, सत्यसाहित्य, कन्हौली, शारदानगर, पो. आर के आश्रम बेला, मुजफ्फर, बिहार-845401, फोन : 08271829617
- नवल किशोर प्रसाद, एडवोकेट, छोटा बरियापुर, वार्ड नं. 38, पो. सिविल कोर्ट, थाना छितौनी, मोतीहारी, बिहार-845401, फोन : 08271829617
- चंद्रभूषण चौधरी, भारती अस्पताल, कोकर चौक, हजारीबाग रोड, राँची, झारखंड-834001, फोन : 09006771916
- रामजनम, सर्वोदय साहित्य भंडार, प्लेटफार्म नं. 4 वाराणसी कैंट स्टेशन, वाराणसी-221002 फोन : 08765619982
- अमरेंद्र श्रीवास्तव, पुरानी गुदड़ी, वार्ड नं. 9, थाना-नगर, पो. बेतिया, बिहार-845438, फोन : 09031670370
- चंचल मुखर्जी, मुखर्जी बुक डिपो, पांडे हवेली, वाराणसी, फोन : 0542-245257
- शिवजी सिंह, अधिवक्ता, महद्दीगंज, बलुआ टोला, पो. सासाराम, जिला-रोहतास, बिहार-821115, फोन : 09431846052
- रमाकांत वर्मा, सेक्टर 3 डी, क्वार्टर नं. 589, बोकारो स्टील सिटी, झारखंड - 827003
- अल्मोड़ा किताबघर, मित्रभवन, गांधी मार्ग, अल्मोड़ा, उत्तराखंड-263601, फोन : 09412092061
- दिनेश शर्मा, डी 68, ए ब्लाक, खूंटाडीह, सोनानी, जमशेदपुर, झारखंड- 831011, फोन : 09431703559
- इकबाल अभिमन्यु, 28 पेरियर छात्रावास, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110067, फोन : 09013183889
- मनोज वर्मा, इहमी कंपाउंड, पो. रामनगर, जिला पश्चिमी चंपारन, बिहार-845106
- रोशनाई प्रकाशन, 212 सी.एल./ए.,अशोक मित्र रोड, काँचरापाड़ा, उत्तर 24 परगना, पं. बंगाल-743145, फोन : 033-25850249
- कश्मीर उप्पल, एम.आई.जी.-31, प्रियदर्शिनी नगर, इटारसी (म.प्र.) 461111, फोन : 09425040457
- गोपाल राठी, सांडिया रोड, पिपरिया, जिला-होशंगाबाद, म.प्र. फोन : 09425408801
- तपन भट्टाचार्य, 201, सुशीला कांपलेक्स, 130, देवी अहिल्या मार्ग, इंदौर-452003, फोन : 09826011413

एक महामानव का जाना

रामचंद्र राय

साधारण से दिखनेवाले असाधारण अशोक सेकसरिया को मैं बाबूजी कहता था। वास्तव में वे थे क्या...?समाजवादी, गांधीवादी, चिंतक, संपादक, लेखक, कथाकार, पत्रकार, फक्कड़, ऋषि, संत, सत्याग्रही– मुश्किल है उन्हें जानना और किसी शब्द में बाँधना। उन्हें समझने के लिए गहरी अंतर्दृष्टि चाहिए। वे महामानव थे। अपने लिए नहीं औरों के लिए जीते थे।

उनसे मेरी पहली मुलाकात सन् 1991 में मोगलाहा (मधुबनी) में हुई थी। तब वे मेरी बड़ी बहन सुशीला को देखने उनके गाँव आए हुए थे। उस समय वे मुझे दो काम सौंपकर गए। पहला सुशीला दीदी की सही ढंग से चिकित्सा करवाना और दूसरा, समय मिलने पर उन्हें पढ़ाना। फिर वे 1993 ई० में मोहलाहा आए। रवींद्र के जन्म के बाद उसे देखने। इस मुलाकात के बाद वे मुझे बराबर प्रेरणा भरे पत्र लिखते और अधिक से अधिक पढ़ाई–लिखाई करने को कहते।

1994 ई० के फरवरी माह में मधुबनी के बी०ए० प्रथम वर्ष के छात्रों को विश्वविद्यालय प्रशासन ने परीक्षा में नकल करने से रोका। इस पर छात्रों ने कॉलेज के डेक्स–बेंच, बस, टैम्पो को जलाया। एस०डी०ओ०की गोली से एक छात्र आलोक कुमार राय की मौत हो गई थी। मधुबनी की स्थिति बहुत खराब थी। शहर में कर्फ्यू लागू कर दिया गया था। अशोकजी ने मुझे पत्र लिखा कि इस घटना पर लिखकर भेजो। मेरी टिप्पणी को उन्होंने सामयिक वार्ता के अप्रैल 1994 अंक में 'मधुबनी का तथाकथित छात्र आंदोलन' शीर्षक से छपवाया। मुझे बहुत खुशी हुई। मेरी दूसरी टिप्पणी 'परीक्षा के नाम पर' शीर्षक से उन्हीं के कहने पर लिखी गई। इस तरह से लोगों से लिखवाना, लिखे हुए को ठीक करना, लिखने को प्रोत्साहित करना उन्हें अच्छा लगता।

1995 ई० में जब मैं पहली बार कोलकाता गया तो उनकी पढ़ाई–लिखाई की दुनिया देखकर दंग रह गया। ऐसा लगता जैसे उनका घर कोई आश्रम ही हो। वे सारे आने–जानेवालों से दिल से मिलते और घर–परिवार से लेकर देश–दुनिया में घट रही घटनाओं के बारे में गंभीरतापूर्वक बातें करते। सामयिक वार्ता के लिए काम में व्यस्त रहना, प्रियजनों की किताबों पर पूरी लगन व निष्ठा से रात–रात भर जागकर हाड़तोड़ मेहनत करना उनकी आदत में शुमार था।

1997 ई० में मैं रोजगार की तलाश में कोलकाता गया। मैं एक महीने से ज्यादा उनके घर पर रहा। उस समय उन्होंने मुझे खूब कोलकाता घुमाया। नंदन में उनके साथ कई फिल्में देखीं। रवींद्र सदन की आर्ट गैलरी में उनके साथ कई शाम चित्रकला को निहारते हुए बीतीं। कला, साहित्य, समाज, संस्कृति, राजनीति, क्रिकेट, हॉकी, फुटबॉल, पत्रकारिता जैसे अनेक विषयों पर उनकी जबर्दस्त पकड़ थी। अधिक से अधिक पढ़ना और ज्ञान प्राप्त करना उन्हें अच्छा लगता। वे मेरे रोजगार को लेकर चिंतित रहते। एक दिन वे मुझसे बोले, 'बेटा, मैं तुम्हारे लिए क्या करूँ कुछ समझ में नहीं आता। लोगों पर भरोसा नहीं है कि वे कैसा बर्ताव करेंगे। तुम छोड़ो नौकरी का चक्कर और अपना कुछ करने की सोचो, ताकि तुम घर–परिवार के साथ रह सको। तुम ट्यूशन तो पढ़ा ही सकते हो। किताब की दुकान भी खोल सकते हो। उन्होंने मुझे कुछ साहित्यिक किताबें दीं और इस पर गंभीरता से सोचने को कहा।

मैं घर आ गया और ट्यूशन पढ़ा शुरू कर दिया। एक प्राइवेट स्कूल में काम मिल गया और मैंने किराए पर एक कमरा लेकर किताब की दुकान खोल दी। दुकान में मेरा छोटा भाई साथ देने लगा। मैं स्कूल के बाद दुकान पर चला जाता। दुकान में अच्छी बिक्री होने लगी। अशोकजी बहुत खुश हुए। हमेशा पत्र लिखते। दुकान की सारी जानकारी लेते। कितने की बिक्री हो जाती है। क्या–क्या बिकता है। किताब पर छूट देते हो कि नहीं। कितना मुनाफा हो जाता है। परिवार के लोग खुश रहते हैं कि नहीं आदि–आदि। मेरे परिवार के एक बुजुर्ग सदस्य की तरह वे मेरी और मेरे परिवार का ध्यान रखते। उन्होंने खुद शादी नहीं की लेकिन वे मेरे जैसे न जाने कितने परिवारों के सदस्य थे और कितने परिवार उनके थे।

2001 में मेरी शादी हुई। इस अवसर पर मैंने उनसे आने का आग्रह किया था। वे आ नहीं सके लेकिन मेरी पत्नी रंजना के लिए ढेर सारी पुस्तकों के साथ क्षमा–याचना व आशीर्वाद से भरा पत्र लिखा।

रंजना के नाम वे बराबर पत्र लिखते और अधिक से अधिक पढ़ाई–लिखाई करने के साथ आत्मनिर्भर होने को कहते। आज रंजना सरकारी स्कूल में शिक्षिका है। यह उनका ही आशीर्वाद है। मेरे तीनों बच्चों का नाम (शशिप्रभा, मयंक और आदित्य) भी उन्होंने रखा है। सन 2010 में किसी कारण से मेरी दुकान बंद हो गई। मैंने प्राइवेट स्कूल खोलने का प्रस्ताव उनके सामने रखा। उन्होंने कहा, नहीं, इसमें सेवा कम और लूट ज्यादा है। मैंने कहा कि सेवा करने के लिए मेरे लिए सबसे अच्छा क्षेत्र यही है। तब वे बोले कि मैं मना नहीं करूँगा लेकिन स्कूल की फीस कम से

कम रखो, ताकि गरीब से गरीब परिवार का बच्चा इस स्कूल में पढ़ सके। बालेश्वर राय (मेरे जीजा) और अशोकजी ने स्कूल का नाम 'अभिनव शिक्षा निकेतन' रखा। 02 अप्रैल 2012 को सहुरिया नवटोली (मेरा गाँव) में इस विद्यालय का उद्घाटन हुआ। आज इस स्कूल में लगभग दो सौ बच्चे पढ़ते हैं। सात शिक्षक और शिक्षिका काम कर रहे हैं। अशोकजी हमेशा स्कूल की खोज-खबर लेते रहते। स्कूल में काम करते हुए शब्द या भाषा संबंधी कोई दिक्कत, होती तो मैं तुरंत उनको फोन करके उनसे जानकारी लेता। अशोकजी की 'वैष्णवजन तो तेने कहिए', 'रघुपति राघव राजा राम' और मैथिली के प्रसिद्ध गोसाउनिक गीत 'जय-जय भैरवि असुर भयाओनि' बहुत पसंद थे। मैं जब भी वहाँ जाता वे मुझसे शाम को जय-जय भैरवि जरूर सुनते। एक दिन शाम को मैं रवींद्र के पियानो पर 'जय-जय भैरवि' की धुन बजा रहा था। वे सुनकर बहुत खुश हुए और बोले कि रवींद्र को सीखा दो वह मुझे सुनाया करेगा। उनके अचानक हम लोगों के बीच से चले जाने से वैकल्पिक राजनीति की जो क्षति हुई है, सो अलग मेरे जैसे न जाने कितने लोगों की अपूरणीय क्षति हुई है।

मेरी यादों में

अर्चना

अशोकजी! यह छोटा सा संबोधन अपने अंदर हिमालय से वृहत व्यक्तित्व को समाहित कर समंदर की तरह शांत और नीले प्रशस्त आकाश की तरह शीतलता प्रदान करनेवाला है।

अशोकजी से मैं सर्वप्रथम 1997 के जुलाई माह में मिली थी। मिलने के बाद मैं सोचने पर विवश हो गई कि क्या आज के जमाने में भी ऐसे लोग होते हैं; एकदम निश्छल, निष्पाप, निस्वार्थ-सिर्फ दूसरों के लिए जीनेवाले। बिलकुल अलग सा अनुभव था उनसे मिलने का। मुझे लगा शायद मैं अपने किसी बहुत प्रिय व्यक्ति के पास आई हूँ जो मुझे वर्षों से जानते हैं और मुझसे मिलने की प्रतीक्षा में ही बैठे हैं। खादी का साधारण सा कुरता-पायजामा पहननेवाले, अस्त-व्यस्त खिचड़ी दाढ़ीवाले अशोकजी किसी संत होने का सा आभास देते थे। जब मैं पहली बार अपने पति के साथ उनके घर गई तो उन्होंने मेरा स्वागत ऐसे किया जैसे कोई पिता या पितामह करते हैं-प्रेम और वात्सल्य से परिपूर्ण। मुझे लगा ही नहीं कि मैं पहली बार आई हूँ। उस दिन उन्होंने खुद लाया हुआ किसी विशिष्ट जगह का समोसा,मीठा दही और ढोकला खिलाया था। अद्भुत था उन चीजों का स्वाद और खिलानेवाले के प्रेम का एहसास।आज भी मैं उस क्षण को याद करती हूँ तो उन चीजों के स्वाद को अपनी जिह्वा पर महसूस करती हूँ और प्रेम और अपनेपन के उस एहसास से भीग जाती हूँ।

अपने छह महीने के कोलकता प्रवास के दौरान मैं कई बार उनसे मिली। उनकी रसोई तो हम सभी के लिए अक्षय भंडार की तरह ही थी। हम उनके घर जाते, उनकी रसोई में खाना पकाते और सभी लोग मिलकर खाते। कोई रोक-टोक नहीं, अपने-पराए का भेद नहीं। सब कुछ सब के लिए था। अशोकजी को बैंगन भाजा बहुत पसंद था। मैं कभी-कभी उनके लिए बनाती थी। उनके पसंद की और भी कोई चीज जब बनाती तो वह बच्चे की तरह खुश हो जाते जैसे इसके पहले उन्होंने उस चीज को कभी चखा ही न हो ।

उनके यहाँ अक्सर बहुत से प्रबुद्ध लोग आते थे। उनके बीच तरह-तरह की चर्चा होती, बहस होती थी, मैं चुपचाप सुनती रहती थी। ऐसा लगता था जैसे इन सबके बीच मैं बिलकुल नदी में पानी की बूँद की तरह हूँ, अस्तित्वहीन,गौण। अशोकजी कहते थे, अर्चना बहुत अच्छी श्रोता है। चुपचाप सुनती रहती है। और स्वयं अशोकजी ज्ञान के असीमित भंडार होते हुए भी उन चर्चाओं और बहसों में ऐसे हिस्सा लेते और सुनते थे जैसे स्कूल का एक ज्ञानपिपासु, जिज्ञासु बालक।

लेकिन दुर्भाग्यवश मुझे उनका सानिध्य मात्र छह माह की अल्पावधि तक ही मिल सका। फिर जनवरी 1998 में मेरे पति का स्थानांतरण वाराणसी उनके पैतृक शहर में हो गया और हमें वापस आना पड़ा। लेकिन कभी-कभी अशोकजी से फोन पर बात होती रहती थी। उनकी ममता से भरी चिंतातुर वाणी सुनकर सारी यादें ताजा हो जातीं और मैं कुछ दिनों तक उन बीते लमहों को जीती रहती।

कई साल बीतने के बाद भी उनसे मिलने का अवसर नहीं प्राप्त हो पा रहा था। जबकि मैं और मेरे पति दोनों उनसे मिलने की प्रबल इच्छा रखते थे। और अब तो हमारे साथ हमारी बेटियाँ भी थीं जिनको हम अशोकजी से मिलवाना चाहते थे। हमें उनसे दुबारा मिलने का सौभाग्य 2011 जून में मिला। बच्चों की छुट्टियाँ चल रही थीं और हम सपरिवार अशोकजी से मिलने कोलकाता आए थे। शाम का समय था जब हम उनके घर पहुँचे उनके निर्मल से चेहरे पर वही हँसी और व्यवहार में वही ममता थी। लग रहा था कि वे कबसे हमारे इंतजार में हैं। जब तक हम लोग रहे वे इसी चिंता में लगे रहे कि हमें क्या खिला पिला दें। बच्चों से मिलकर वे बहुत खुश हुए और उन्हें ढेर सारा आशीर्वाद दिया।

हमें नहीं पता था कि उनसे हमारी यह आखिरी भेंट है। अशोकजी अब हम लोगों के बीच नहीं हैं, लेकिन बरगद की तरह उनके विशाल व्यक्तित्व की शीतल छाया हम आज भी महसूस कर सकते हैं और ये विश्वास करते हैं कि वे वहाँ से भी अपने आशीष से अपने प्रियजनों को सींचते रहेंगे और सत्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देंगे। यदि मैं उनके व्यक्तित्व का अंश मात्र भी अपने अंदर ला पाऊँ या कुछ कर सकूँ तो यही मेरी उनके लिए सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

वे नहीं होते, तो मैं क्या होता

गंगा प्रसाद

अशोक सेकसरिया अब नहीं है। उनके निधन के बाद जब भी कहीं अखबार या पत्रिका में कुछ लिखने का मौका होता है, तो उनकी याद आ ही जाती है। दरअसल, मुझमें लिखने-पढ़ने, या कहें पत्रकारिता करने और पत्रकार बनने, अभिव्यक्त करने का जो भी गुर है, उन्हीं की वजह से है। इसी बदौलत मुझे 'रविवार', 'नवभारत टाइम्स' और 'जनसत्ता' में नौकरी मिली और मेरी स्थिति में, जितना भी हो, अच्छा बदलाव आया। समाज के अंतिम सीढ़ी पर पड़े एक साधारण आदमी को उनसे इतनी प्रेरणा और बल मिला कि वह अपने पर निर्भर हो सका। अपनी भी कुछ पहचान बना सका। नौकरी करते मुझे इसका अहसास होता रहा, लेकिन सेवानिवृत्त होने के बाद इसका ज्यादा अहसास हुआ।

अशोकजी से मेरी 1972 में 'चौरंगी वार्ता' के कार्यालय में मुलाकात हुई थी। बोलचाल में उसे वार्ता ही कहा जाता था। चौरंगी काफी छोटे अक्षर में और वार्ता बड़े अक्षर में छपता भी था। वार्ता राजनीतिक साप्ताहिक पत्रिका थी। अशोकजी से मुलाकात क्या हुई, उनके करीब होता गया। चौरंगी वार्ता मन से पढ़ने लगा। पत्रिकाओं और अखबारों के प्रति मेरे झुकाव को देखते हुए वे मुझे कुछ न कुछ लिखने के लिए कहते गए और मैं भी उनके कहे अनुसार लिखने-पढ़ने लगा। अशोकजी ने पहले वार्ता में चिट्ठी-पत्री के तहत पत्र छापना शुरू किया। उसके बाद उन्होंने मैं जिस इलाके में रहता था, वहाँ की समस्याओं- घटनाओं के बारे में लिखवाना और छापना शुरू किया। वार्ता में अपनी सामग्री छपते देख मैं लिखने के लिए प्रोत्साहित होने लगा। अशोकजी विभिन्न मुद्दों पर चर्चा करते हुए तरह-तरह की जानकारी दे मेरे में समझ भी पैदा करने लगे।

अब समझ में आ रहा है कि अशोकजी ने मुझे कैसे-कैसे आगे किया।मैं विपन्न परिवार का था। जितनी पढ़ाई-लिखाई की जरूरत थी, उतनी ही रोजगार की। किसी की मदद के बिना ज्यादा कुछ करना मेरे लिए संभव नहीं था। अशोकजी यह सब ताड़ गए थे। मैं अशोकजी से लगातार मिलने-घुलने लगा और दिन-दिन भर साथ रहने लगा। अक्सर शाम भी उनके साथ कटने लगी। नाश्ता-भोजन, बस-ट्राम का किराया, वही देते। कभी मुझे संकोच होता, तो वे समझाते— आप मेरे हैं, इसमें संकोच क्या। उनके पिता सीताराम सेकसरिया बड़े समाजसेवी,स्वाधीनता सेनानी थे। कई संस्थाओं को बनाने में वे अगुवा थे। राजनीति-साहित्य से जुड़े तमाम महान व्यक्तियों का उनके यहाँ आना-जाना था। लेकिन अशोकजी को कोई इसलिए जाने-माने, उन्होंने कभी भी यह नहीं चाहा। अपने को इससे हमेशा बचाते रहे। मामूली खादी का कुर्ता -पाजामा, चप्पल,बढ़े नाखून, बेतरतीब बाल-दाढ़ी, साधारण रहन -सहन उन्हें आम आदमी होने का बोध कराता रहता था। जब भी मैं किसी कार्यक्रम में उनके साथ गया, देखा वे सबसे पीछे किसी किनारे बैठ जाते। शायद अपने को मंच से छिपाने की बात रहती हो।बात यह भी हो सकती है कि बाहर निकलकर सिगरेट पी लें।

अशोकजी ने मुझे राष्ट्रीय पुस्तकालय, अमेरिकन लाइब्रेरी दिखाया और उससे जोड़ा। वे चाहते थे मैं लिखूँ, साथ ही पढ़ूँ भी। वे मेरे घर नैहाटी आए। एक कमरे का घर। पहली बार वे मेरे घर क्या, मेरे इलाके में आए थे। जूट मिल समेत तरह-तरह के कारखानों और मजदूरों का इलाका। मेरे यहाँ का दृश्य उनके लिए कोई नया नहीं था। उसके बाद तो कई बार आए। हिंदीभाषी युवकों के कार्यक्रमों में भी आए। अपने साथ समाजवादी चिंतक रमेशचंद्र सिंह, किशन पटनायक, दिनेश दासगुप्त समेत वार्ता से जुड़े कई जनों को अपने साथ लाए। दिनेश दासगुप्त चटगाँव सशस्त्र आंदोलन में शामिल थे। प्रयाग शुक्ल, सच्चिदानंद सिन्हा व नवीन को वे मेरे यहाँ लाए थे। बाबा नागार्जुन भी अशोकजी की वजह से मेरे इलाके में आए थे।

अशोकजी बातचीत में इस बात पर जोर देते रहते थे कि मुझे अपने जमात (तरह-तरह की विषमताओं, गरीबी-अशिक्षा, शोषण की मार से लाचार, समस्याओं से जूझत वंचित, दलित) की स्थिति और उनके साथ होनेवाले जुल्म-अन्याय के बारे में लिखते रहना चाहिए। उनके बीच और उनका बनकर रहना चाहिए। उनका साथ देते रहना चाहिए। वे इस बात पर भी जोर देते रहते थे कि दिखावा, लोभ, बिना मेहनत कुछ पाने, फायदा उठाने, स्वार्थ, जैसी बुराइयों से बचना चाहिए। मेरी किसी गलती या कमी पर वे नाराज होते और काफी फटकारते। बाद में यह भी समझाते कि उन्हें मुझसे काफी अपेक्षा है। उनकी फटकार मुझे कभी नहीं खली। मेरे लिए वे अभिभावक थे। कभी भी उन्होंने मेरे लिए तुम शब्द का प्रयोग नहीं किया। व्यवहार ऐसा किया कि वे और मैं एक वय के हों। लेकिन वय का तो काफी

अंतर था ही, कद का भी। वे गढ़नेवाले और मैं गढ़ा जानेवाला।उनके साथ रहकर मैं यह देख पाया कि वे छपने के लिए जिस सामग्री को ठीकठाक करते, उसमें खो जाते। उसे इतना ठीकठाक कर देते कि मूल सामग्री से बिल्कुल नई सामग्री बन जाती। जिसकी सामग्री होती,उसे भी सीखने को बहुत कुछ दिखता। उन्हें जिस विषय पर सामग्री तैयार करनी होती, उस विषय की जानकारी के लिए वे खोज-खोजकर काफी कुछ पढ़ते। वे जिस सामग्री को ठीकठाक करते या लिखते, उसे बार-बार पढ़ते। यही नहीं, सामने कोई युवक बैठा होता, तो उससे गलती ढूँढ़ने के लिए कहते। वे बताते थे कि सामग्री पढ़ाने, सुझाव लेने और उस पर गौर करने से सामग्री में निखार आता है। कोई उनसे कोई जानकारी लेना चाहता, तो उनके पास जानकारी नहीं होने पर वे जानकारी इकट्ठा करने के लिए खुद जुट जाते, जैसे वे खुद अपने लिए जानकारी इकट्ठा करना चाहते हों। मैंने उन्हें शुरू से ही पत्रकार के रूप में देखा है। वे एक भी शब्द को गलत लिखने को अपराध होने जैसा मानते थे। तमाम अखबारों और किताबों में वे खोए से रहते थे। वे जिसे मुलाकात के लिए जो समय देते, ठीक समय पर मुलाकात करते। कोई व्यवधान होने पर सूचना पहले ही दे देते थे। किसी काम के लिए जो समय तय करते, उसे उसी समय पर पूरा करते। वे जिससे पूरी तरह से जुड़ते, तो पूरी तरह से ही जुड़ते। उसका पूरा खयाल करते। खोज-खबर रखते। जरूरतमंदों की हरसंभव मदद करते। विरोधी को भी मदद की जरूरत है, तो उसकी भी मदद कर देते। मदद नहीं कर पाने पर वे काफी बेचैन रहते। अशोकजी अपने लोगों से किसी मुद्दे पर खुलकर चर्चा करते। किसी के विरोध का अन्यथा नहीं लेते। किसी का विरोध उन्हें बाद में सही लगता, तो उसे बताते कि वह सही था।

मैं भला कैसे भूल सकता हूँ कि वे तरह-तरह से मेरी आर्थिक मदद करते थे। मेरी आर्थिक मदद हो जाए, उन्होंने अपने पिताजी से मिलवाया था और उन्होंने अपनी बातों को लिखने का काम सौंपा था। सुरेंद्र प्रताप सिंह से कहकर रविवार में रखवाया। स्वतंत्र पत्रकारिता करते वक्त जब मैं दिनमान, नई दुनिया, नवभारत टाइम्स और कई पत्र-पत्रिकाओं में लिखता, तो वे मुद्दे बता कर और मेरी लिखी सामग्री को काफी ठीकठाक कर मदद किया करते थे। उन्होंने मुझे जिस ढंग से चौरंगी वार्ता से जोड़ा और लिखने-पढ़ने -बढ़ने के लिए बल दिया,उसी का नतीजा यह हुआ कि मैं पत्रकार बन पाया। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं से जुड़ा। बाद में अखबार में नौकरी भी करने लगा। नौकरी करते हुए मैं पटना, राँची और कुछ दिन मुजफ्फरपुर में रहा। बाहर रहते वक्त फोन पर उनसे प्राय: बातचीत होती रहती थी। वे जब भी बातचीत करते,यह जरूर पूछते कि मैं क्या लिख-पढ़ रहा हूँ। राजनीतिक स्थिति और खास घटनाओं के बार में जरूर जिक्र करते। मैं उन्हें क्या जानकारी देता। उन्हें तो मुझसे कई गुना जानकारी होती। दरअसल वे यह जानना चाहते थे कि मैं कहीं आलसी-लापरवाह तो नहीं हो रहा हूँ। वे वैसे लोगों से भी मेरे बारे में हालचाल पूछते रहते,जो मुझे और उन्हें, दोनों को जानते थे। जब मैं अखबार में नौकरी करने लगा, तो देखा कि अशोकजी बातचीत में पत्रकारों की आलोचना जरूर करते। खबरों को लिखने और तथ्यों को रखने के तरीकों की खामियों पर नाराजगी होती ही, पत्रकारों के नेताओं से साँठगाँठ, भ्रष्टाचार पर जमकर बरसते। कभी-कभार किसी की रिपोर्ट को पसंद कर पाते। वे मुझे भी सावधान करते। कभी-कभी तो साफ-साफ पूछ लिया करते थे कि मैं कहीं नेताओं के यहाँ आने-जाने और खाने-पीने तो नहीं लगा हूँ। उन्हें यकीन था कि इस मामले में मैं उनकी आशा के अनुरूप हूँ। वे मेरा सब हिसाब-किताब जानते थे। समुद्रीजी (मेरी पत्नी) से उनकी खुलकर बातचीत होती रहती थी। मैं प्रेस क्लब कोलकाता में कई बार चुनाव में जीतता रहा। एक बार हार गया। अशोकजी से मुलाकात हुई, तो छूटते ही कहा, अच्छा हुआ। हार गए। वे भी यही चाहते थे। अंदाज लगाइए, वे किस तरह मेरी देखभाल करते थे। सचमुच, उसके बाद तो कभी भी प्रेस क्लब में चुनाव नहीं लड़ा। वे जब भी मुझे किताब देते, तो भेंट करने के लिए लिखी जानेवाली बात लिखते वक्त भी बुराइयों से आगाह करते। वे मुझे हर तरह से सामर्थ्यवान ही बनाना चाहते रहे हों।

अशोकजी की मेरे प्रति जो अपेक्षा थी, मैं उसके अनुरूप खरा उतर पाया हूँ या नहीं, मैं नहीं जानता। वे चाहते थे कि मैं लिखने-पढ़ने में शिथिल नहीं होऊँ। सेवानिवृत्त होने के बाद भी मैं पत्र-पत्रिकाओं में लिखने-पढ़ने का काम जारी रखूँ। जब वे खाट से गिर गए और घायल होकर बिछावन पर पड़ गए, तो उनसे मेरी फोन पर बातचीत हुई। वैसी स्थिति में भी उन्होंने यह जानना चाहा कि मैं क्या लिख-पढ़ रहा हूँ। किसी अखबार के लिए कुछ लिखा या नहीं।

एक बात का मुझे अपराधबोध सा हो रहा है। वह यह कि जब मैं पत्र-पत्रिकाओं में लिखने लगा,तो अशाकजी ने कई बार कहा कि मैं वह सब लिखूँ, जो मैं झेल चुका हूँ। उन्होंने दया पवार की 'अछूत' किताब भी पढ़ने को दी। उसके अलावा मराठी लेखकों की कई किताबें भी पढ़वाईं डा. भीमराव अंबेडकर की किताबें पढ़वाईं। महात्मा गांधी की किताबें तो पढ़वाईं ही। दलितों के मुद्दों पर उनसे मेरी खूब बक-झक होती थी। लेकिन वे मुझे अपने बारे में लिखने को कहते रहे, मैंने उनकी बातों पर गौर नहीं किया। हाँ-हूँ कर टालता रहा। उनके रहते मैं लिख देता, तो अच्छा ही होता। शायद इसके पीछे उनका कुछ सपना रहा हो। आज मैं हिसाब लगाता हूँ कि मैं जिस जमात का हूँ,उस जमात के कितने पत्रकार हैं। मुश्किल से ही इक्के-दुक्के मिल जाएँगे महानगरों में। मुझे अशोकजी नहीं मिलते, तो क्या मैं पत्रकार होता?

नानाजी की कहानी सच या झूठ

सारा भारती

जिनको सब लोग अशोकजी कहते थे उनको मैं नानाजी बुलाती थी। नानाजी मुझे देवीजी बोलते थे। नानाजी मेरी बातें सुनकर खूब हँसते थे। उनकी एक आदत मुझे अच्छी नहीं लगती थी, वह यह कि नानाजी बहुत ज्यादा सिगरेट पीते थे। मैंने उनसे कई बार कहा कि वे सिगरेट छोड़ दें लेकिन वे नहीं मानते थे। एक दिन मैंने कहा कि आप सिगरेट नहीं छोड़ेंगे तब मैं अनशन करूँगी। इस बात पर वे खूब हँसने लगे। हँसते-हँसते पलंग पर से गिरने जैसा होने लगे। हँसते-हँसते मुझसे पूछा—'आप अनशन का मतलब समझती हैं।'

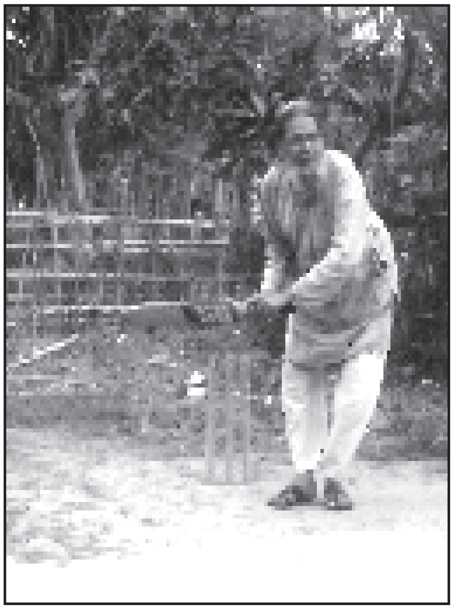

नानाजी जब भी हमारे घर आते या मैं जब उनके घर जाती तब मुझे उनके नाखून बहुत बढ़े हुए मिलते थे। उनको नाखून कटवाने में डर लगता था। पापा से नाखून कटवाने में उनको डर नहीं लगता था तो पापा उनके नाखून काट देते थे। जब मैं बहुत छोटी थी और नानाजी हमारे घर रहने आते तो मुझे गोद में उठाकर घुमाने ले जाते लेकिन थक जाते। मैं उनकी दाढ़ी में उँगली फँसा देती तो उनको अच्छा लगता। हर समय बोलते—मेरे पास बैठो।

नानाजी को मैं एक बात से चिढ़ाती थी। मैं नानाजी की शादी के लिए उनसे बातें करती तो मुझको बोलते तुम्हीं कोई दुल्हन ढूँढ़ो। कुछ दिन पहले हम लोग ब्रह्म समाज के एक कार्यक्रम में गए थे और हमारे साथ नानाजी भी गए थे। वहाँ मैंने नानाजी को हमारी परिचित एक दादी-अम्मा से मिलवाया। दादी-अम्मा से मिलकर उनको बहुत अच्छा लगा और वह उनकी बहुत तारीफ करने लगे तो मैंने सोचा कि दादी-अम्मा के साथ ही नानाजी की शादी करवा देते हैं। बाद में दादी-अम्मा ने उनको अपना भाई बना लिया।

मेरे हर जन्मदिन पर नानाजी हमारे घर आते और नहीं आ पाते तो मम्मी के हाथ कुछ उपहार भेजते। वे बीच-बीच में मेरे लिए कविता लिखकर भेजते और फोन करते कि आपके लिए मैंने कविता लिखी है। एक दिन फोन पर बोले—आपके लिए एक कहानी लिखी है। कल भेजूँगा। मैंने उनसे पूछा, कहानी सच है या झूठ। उन्होंने कहा—यह तुम पढ़कर बताना।

नानाजी ने हमें एक कबूतर दिया था। हम लोगों ने उसका नाम कुटकुट रखा है। नानाजी को क्रिकेट खेलने का शौक था। वे हमारे यहाँ अपू भैया के साथ क्रिकेट खेलते थे। उनको इडली खाना बहुत पसंद था।

एक बार नानाजी से मेरी एक बातचीत हुई थी— तब वोट होनेवाला था। नानाजी और पापा जब-तब खाली वोट के बारे में ही बात करते रहते थे। मैंने एक दिन पूछा कि नानाजी, बच्चों को वोट क्यों नहीं देने को मिलता है? नानाजी ने कहा— ऐसा माना जाता है कि बच्चे नासमझ होते हैं और उनको कोई चीज देकर फुसलाया जा सकता है। मैंने नानाजी को कहा कि वैसे तो बड़े भी नासमझ होते हैं और उनको भी फुसलाया जा सकता है। अच्छा कम से कम इतना तो होना चाहिए कि बच्चों के वोट को आधा वोट माना जाए। तब नानाजी ने मुझे कहा— तुम्हारी यह बात तो सही है। इसको तुम सामयिक वार्ता में लिखो। बार-बार बोलते थे कि तुम अपनी बात लिखो।

मेरे स्कूल में जो कुछ होता वह सारी घटना मैं उनको बताती थी। यह सब सुनकर नानाजी मुझे 'एचोरपाका' बोलते थे। नानाजी को भी अच्छा नहीं लगता था जब तक वो मुझसे बात न कर लेते। हमेशा पापा से पूछते कि आज देवीजी ने क्या किया। 'हिंदू' अखबार में जब भी मेरा बनाया हुआ चित्र छपता तो सुबह-सुबह नानाजी फोन कर बताते और बोलते—आपका बहुत नाम हो रहा है। वह अखबार मम्मी के हाथ भेज देते।

नानाजी के किस्से मैं अपने दोस्तों को सुनाया करती हूँ। कभी-कभी लगता है वे इसको झूठ मानते हैं। मैं यह कहना चाहती हूँ कि जो आदमी नानाजी से कभी नहीं मिला वह समझ नहीं सकता कि वे कैसे थे।

अशोक सेकसरिया
की दो कहानियाँ

अशोक सेकसरिया की यहाँ दी जा रही दो कहानियों में पहली 'किसी को भी मत बताना' अब तक अप्रकाशित है जिसे उन्होंने मृत्यु के तीन-चार महीने पहले लिखा था और दूसरी 'दुखवा कासे कहूँ मोर सजनी' वह कहानी है जो उन्हें अपनी लिखी हुई कहानियों में सबसे प्रिय थी। उनके कहानी-संग्रह 'लेखकी' में यह कहानी संग्रहित है।

किसी को भी मत बताना

यह कहानी आधी सच्ची और आधी बनाई हुई है, लेकिन झूठी बिलकुल नहीं है।

लीला और उसकी बेटी पिया दुर्गा पूजा देखने के लिए गया से कोलकाता रवाना हुए।

पिया ने कभी कोलकाता नहीं देखा था। स्कूल में उसकी सहेलियाँ उसे हमेशा चिढ़ाती रहती थीं— 'कैसी बंगाली है? कोलकाता तक नहीं देखा।' पिया तीन साल से माँ को दुर्गा पूजा देखने कोलकाता चलने की रट लगाए हुई थी, और माँ हर बार 'अगले साल चलेंगे' कहकर टाल जाती थी।

लीला अंगरेजी मीडियम के एक प्राइवेट स्कूल में पढ़ाती थी, जहाँ तनख्वाह बहुत कम होती है और छुट्टी भी नहीं मिलती। फिर कोलकाता जाने का मतलब पिया की चाची, दो चचेरी बहनों और उनके छोटे भाई के लिए पूजा की कुछ सौगात ले जाना भी था। एक साड़ी, दो सलवार-कुरती और एक छोटी टी-शर्ट खरीदने में डेढ़ हजार, रेल किराए पर एक हजार और एक सप्ताह कोलकाता में रहने में छिटपुट डेढ़ हजार रुपए खर्च हो जाएँगे। मतलब लीला की एक महीने की पूरी तनख्वाह चली जाएगी। लीला ने पिया को कहा स्कूल से छुट्टी नहीं मिलेगी। पिया ने चुपचाप माँ की बात सुन ली। वह स्कूल की मालकिन रीता सिंह का मकान देख चुकी थी। एक दिन रविवार को वह उनके घर पहुँच गई और उनसे कहा कि माँ को चार-पाँच दिन की छुट्टी दे दें तो वह कोलकाता जा सकेगी, तीन-चार दिन की तो दशहरे पर स्कूल की छुट्टी रहेगी ही एक सप्ताह में वापस आ जाएँगे। रीता सिंह बड़े अच्छे मूड में थीं उसी दिन उनके बेटे अमरीका से आए थे। बोली, 'तो तुम लीला घोष की बेटी हो। तुम्हारी बात कैसे नहीं मानूँगी। अपनी माँ से कह देना वह खुशी-खुशी कोलकाता जाए, अगर एक-दो-दिन देर भी हो गई तो तनख्वाह के पैसे नहीं कटेंगे।'

माँ को पिया की बात आखिर माननी ही पड़ी। माँ-बेटी यात्रा की तैयारी करने लगीं तो पिया को अचानक ख्याल आया कि वे लोग कोलकाता चले जाएँगे तो कोका कहाँ रहेगा और कौन उसकी देखभाल करेगा। एक बरस पहले की बात है। एक दिन पिया स्कूल से घर लौट रही थी कि रास्ते में उसे पाँच-छह दिन का भूरे रंग का एक कुत्ते का बच्चा दिखाई पड़ा। वह इतना सुंदर और सलोना था कि पिया ने चुपके से उसे उठाकर अपने बस्ते में डाल लिया। घर पहुँचने पर वह रसोई में घुसी कि सुबह जो थोड़ा सा दूध बच गया था वह लेकर बच्चे को पिलाएगी। माँ सिर दर्द के कारण स्कूल से जल्दी लौटकर लेटी हुई थी, पिया को रसोई में खटपट करते सुन उठी को देखा कि एक कुत्ते का बच्चा रसोई के सामने खड़ा है। माँ चिल्लाकर पिया को डाँटने लगी कि वह घर

में कुत्ते के बच्चे को कैसे ले आई, लेकिन डाँटते-डाँटते ही लीला की सीधी नजर जैसे ही कुत्ते के बच्चे पर पड़ी वह बोल उठी, यह तो कितना सुंदर है, हिरण के बच्चे से भी सुंदर, देखो कैसे टुकुर-टुकुर ताक रहा है। बस तबसे कुत्ते का बच्चा माँ-बेटी के साथ रहने लगा। पिया ने उसका नाम रखा कोको।

पिया बड़ी मुसीबत में पड़ गई। कोलकाता जाने पर कोको कहाँ रहेगा और उसकी कौन देखभाल करेगा, यह उसने सोचा ही नहीं था। अगर माँ से कोको के बारे में बात करेगी तो माँ तुरंत डाँटते हुए बोलेगी कि पहले क्यों नहीं सोचा, कोलकाता जाना नहीं होगा, कल टिकट वापस करवा दूँगी। रात पिया को बिलकुल नींद नहीं आई— कोको के रहने का क्या इंतजाम किया जाए। सुबह होने लगी तो उसको सूझा कि उसके घर से दो मकान आगे अपू नामक लड़का रहता है, जिसकी छोटी बहन सारा उससे एक दरजा पीछे तीसरे दरजे में पढ़ती है। अपू को मुहल्ले में सबसे अच्छा लड़का माना जाता था। कोई-कोई तो यह भी कहता था कि अपू अपने टिफिन बाक्स का सारा खाना दूसरे लड़कों को खिला देता है और खुद भूखा रह जाता है। पिया ने सोचा स्कूल से लौटने पर वह अपू के घर जाएगी और उससे कहेगी कि वह कोको को सात दिन अपने पास रख ले। स्कूल में उसने सारा को खोजा पर वह उस दिन स्कूल नहीं आई थी।

उसके घर से दो मकान आगे अपू नामक लड़का रहता है, जिसकी छोटी बहन सारा उससे एक दरजा पीछे तीसरे दरजे में पढ़ती है। अपू को मुहल्ले में सबसे अच्छा लड़का माना जाता था। कोई-कोई तो यह भी कहता था कि अपू अपने टिफिन बाक्स का सारा खाना दूसरे लड़कों को खिला देता है और खुद भूखा रह जाता है।

स्कूल से पिया घर न जाकर सीधे अपू के घर गई, अपू के स्कूल की छुट्टी जल्दी हो जाया करती थी। दरवाजा सारा ने खोला तो पिया ने पूछा, 'तुम आज स्कूल क्यों नहीं आई' तो सारा बोली, 'आज मेरे पापा का जन्मदिन है सो घर सजाना था।' पिया ने देखा कि लाल, पीले, हरे कागज जमीन पर बिखरे पड़े हैं। दरवाजे पर तीन चित्र सेलोटेप से चिपकाए गए हैं। जिनके नीचे सारा के हस्ताक्षर हैं। पिया बोली, 'तुम अपने अपू भैया को बुलाओ मुझे उससे जरूरी बात करनी है।' अपू आया तो पिया ने कहना शुरू किया कि वह और उसकी माँ एक सप्ताह के लिए दुर्गा पूजा देखने कोलकाता जा रहे हैं सो एक मुसीबत पैदा हो गई है। हमारे कुत्ते कोको के रहने का इंतजाम करना है, क्या आप कोको को अपने यहाँ रख सकते हैं। अपू ने कहा कि यह तो वह माँ से पूछ कर ही बता सकता है, अभी तो माँ; पापा का जन्मदिन मनाने के लिए सामान खरीदने गई है। सारा दोनों के बीच बातचीत बड़े ध्यान से सुन रही थी। वह बीच में ही बोल पड़ी, 'अपू भैया को बोलने दो, हमारे घर के बाहर काठ के तीन-चार पट्टे पड़े हैं, उनसे मैं कोको के लिए घर बना दूँगी जिसमें वह मजे में रहेगा। माँ तो कोको को देखकर खुश हो जाएगी, कोको से ज्यादा सुंदर दुनिया में कोई कुत्ता नहीं हो सकता। नो प्राबलम।'

सारा के घर के पास सविता दीदी रहती थी। वह रोज स्कूटी चलाकर अपने दफ्तर जाया करती थी। सविदा दीदी की बात-बात में 'नो प्राबलम' बोलने की आदत थी। सारा ने एक दिन हिम्मत कर सविता दीदी से पूछ ही लिया, 'दीदी नो प्राबलम का क्या मतलब होता है।' सारा का सवाल सुनकर सविता दीदी हँसते-हँसते बेहाल हो गई। हँसी थमने पर उसने कहा, 'साराजी, नो प्राबलम का मतलब होता है काम आसान है उसे करने में कोई दिक्कत नहीं आएगी।' सारा को जबसे नो प्राबलम का मतलब मालूम हुआ तबसे वह नो प्राबलम कहने को बेताब हो रही थी। पिया को 'नो प्राबलम' कहकर वह बहुत खुश हुई। और बोली 'तुम्हें मेरी माँ का इंतजार करने की जरूरत नहीं है। कोको को मैं अच्छी तरह रख लूँगी, तुम घर जाओ, तुम्हारी माँ चिंता कर रही होगी।'

माँ-बेटी कोलकाता जाने की तैयारी करने लगीं। कपड़े खरीदने दोनों एक दिन साथ-साथ बाजार गईं तो पिया को बच्चों की एक टी-शर्ट बहुत सुंदर लगी। उसने माँ से कहा, 'यह चाचा के बेटे के लिए खरीद लो।' माँ ने दुकानदार से दाम पूछा तो उसने कहा, 'तीन सौ रुपए'। माँ एकदम चौंक गई बोली, 'इतनी छोटी सी टी-शर्ट के तीन सौ रुपए, हमें नहीं खरीदनी।' इस पर पिया ने कहा, 'मैं घर जाती हूँ।' तुम्हारे साथ मैं कुछ भी खरीदने नहीं जाऊँगी।' लाचार पिया की माँ को टी-शर्ट खरीदनी पड़ी। दुकानदार ने एक रुपया भी कम नहीं किया।

स्कूल में पिया रोज सारा से पूछती, 'तुम्हारी माँ मना तो नहीं करेगी।' जवाब में सारा कहती, 'नो प्राबलम, जिस दिन कोलकाता जाओ बस उस दिन कोको को हमारे घर छोड़ जाना।'

जिस दिन कोलकाता रवाना होना था, उसके आध घंटे पहले कोको को पिया ने कहा— 'चलो बाहर घूम आएँ।' कोको तो हमेशा बाहर जाने को मचलता रहता था, पिया ही उसे निकलने नहीं देती थी। कोको खुशी-खुशी पिया के साथ चला। पिया कोको को अपू के घर ले गई। प्लान के मुताबिक सारा पहले से ही बिस्कुट और पावरोटी लिए कोको का स्वागत करने खड़ी थी। अपू घर के सामने सीढ़ी पर खड़ा देख रहा था। जैसे ही पिया और कोको घर में घुसे, सारा ने बिस्कुटों को टुकड़े-टुकड़े कर कोको को खिलाना शुरू कर दिया। कोको को बिस्कुट खाने में मगन देखकर पिया चंपत हो गई; वह जानती थी कि अगर कोको ने उसे देख लिया तो वह उसके पीछे आए बिना नहीं रहेगा।

दोनों माँ-बेटी कोलकाता के लिए रवाना हुईं। रास्ते में माँ के सामने की बर्थ पर लेटी-लेटी पिया ने जब यह कहा 'माँ, कोको की बहुत याद आ रही है।' तो माँ ने उसे झिड़कते हुए कहा, 'याद

आ रही है तो कोलकाता चलने की इतनी जिद क्यों की।' इसके बाद पिया ने हावड़ा स्टेशन आने तक सारे रास्ते माँ को कोको की याद आने की बात नहीं कही जबकि वह लगातार यह सोचती रही कि कोको कैसे उसके बिना रहेगा, वह उसे ढूँढ़-ढूँढ़कर परेशान हो रहा होगा।

हावड़ा स्टेशन पर चाचा लेने आ गए थे। वे हावड़ा के बगल में लिलुआ की रेलवे कॉलोनी में रहते थे। उनके घर पिया की अपनी चाची, दोनों चचेरी बहनों— शेफाली और शिउली से मुलाकात हुई। चचेरे भाई शांतनु को बस लोग संटू कहते थे, वह तुतलाकर सात-आठ शब्द बोल लेता था। चाची ने उसे कहा कि वह पिया को पिया दीदी कहे, लेकिन वह पिया दीदी बोल नहीं पाता था, पीदी,पीदी बोलता। उसे 'पी दी पी दी बोलते देख शेफाली और शिउली पिया को चिढ़ाने के लिए 'पी दी पी दी' कहने लगीं। चाची दोनों बहनों को डाँटतीं पर वे पिया को चिढ़ाए बिना नहीं मानतीं। फिर भी तीनों में दोस्ती हो गई। घर में तीनों कित-कित, लुका छिपी खेलतीं। शाम को शेफाली अपनी चार दोस्तों— मिताली, पारुल, बुगुन और रेबा को घर ले आईं और सबने खो-खो खेला। चाची ने पिया को एक बहुत सुंदर पीला फ्रॉक दिया और कहा इसे पहनकर कोलकाता में दुर्गा पूजा देखने जाना। तो पिया ने पूछा, 'चाची, तुम्हें कैसे पता लगा कि मुझे पीला रंग पसंद है' तो चाची ने कहा,' लीला दीदी ने बताया था। चाची के रसोई में चले जाने और शेफाली-शिउली के दूसरे कमरे में चले जाने पर पिया ने फ्राक पहनकर देखा तो वह थोड़ा सा छोटा निकला। फ्राक को उसने समेटकर रख लिया और सोचा घर लौटने पर वह सारा को यह कहकर दे देगी कि कोलकाता से उसके लिए लाई है।

दूसरे दिन चाचा ने कहा, 'तीन दिन बाद महाअष्टमी के दिन वे सब लोगों को पूजा दिखाने कोलकाता ले जाएँगे। शेफाली ने शिउली और पिया को कहा पूजा के पंडालों में बहुत भीड़ होती है और बच्चे खो जाते हैं सो दोनों अपना नाम-ठिकाना और चाचा का मोबाइल नंबर एक कागज पर लिखकर हमेशा साथ रखें। पिया ने कह तो दिया कि वह लिखकर रख लेगी पर मन ही मन सोचा शेफाली दीदी अपने को न जाने क्या समझती है, वह माँ का हमेशा हाथ पकड़े घूमेगी सो उसे नाम, पता, फोन नंबर लिखने की जरूरत नहीं है।

रात को अचानक लीला के पास सारा की माँ का फोन आया कि जबसे पिया गई है तबसे कोको कुछ भी नहीं खा रहा है और बार-बार उनके घर की ओर भागता है। उसे सँभालना मुश्किल हो रहा है। लीला ने कहा कल तक खाना शुरू कर देगा, न करे तो फोन कीजिएगा। टेलीफोन पर हुई बातचीत के बारे में लीला ने पिया को नहीं बताया कहीं वह तुरंत वापस लौटने की जिद न करने लगे। दूसरे दिन सारा की माँ का फिर फोन आया, बहनजी, कोको तो खा ही नहीं रहा है और बार-बार आपके घर की तरफ दौड़ता है। मुझे डर लग रहा है कि कहीं वह मर न जाए। पास में जो डॉक्टर साहब रहते हैं वह कह रहे हैं दो-तीन दिन नहीं खाने से बच्चा नहीं मरेगा पर ज्यादा दिन भूखा रहा तो कुछ कहा नहीं जा सकता। सो आप लोग जल्दी से जल्दी आने की कोशिश कीजिए। लीला ने कहा हम जल्दी से जल्दी आ जाएँगे। लीला चिंता में पड़ गई और उसने पिया को सारी बात बता दी।

पिया सुनकर एक बार गुमसुम हो गई और फिर फफककर रोने लगी। चाची रसोई से दौड़ी-दौड़ी आई और शेफाली-शिउली को डाँटने लगी, 'तुम दोनों ने पिया को पी दी पीदी करके चिढ़ाया तो तुम दोनों को कोलकाता नहीं ले जाएँगे।' पिया बोली, 'चाची, ये लोग मुझे चिढ़ा नहीं रही थीं। मुझे कोको की याद आ रही थी इसलिए रोना आ रहा था। चाची लीला से फोन के बारे में सुन चुकी थी, उसने पिया से कहा,' तुम रोओ मत, तुम्हारे कोको को जब जोर से भूख लगेगी तब खाना शुरू कर देगा, तुम घबराओ मत।'

बीच रात में पिया ने माँ को उठाया और कहा, 'मैंने मणिपुर की एक लड़की को जबरदस्ती नली से खाना खिलाने की बात अपनी सहेली उमा बंसल से सुनी है। अपू की माँ को टेलीफोन कर कहो न कोको को नली से खाना खिलाएँ।'

बीच रात में पिया ने माँ को उठाया और कहा, 'मैंने मणिपुर की एक लड़की को जबरदस्ती नली से खाना खिलाने की बात अपनी सहेली उमा बंसल से सुनी है। अपू की माँ को टेलीफोन कर कहो न कोको को नली से खाना खिलाएँ।' माँ ने डाँटते हुए कहा, 'चुपचाप सो जाओ। जानवरों को नली से खाना नहीं खिलाया जाता। बेकार की बातें मत सोचो। देखना, कल से कोको खाना शुरू कर देगा।' माँ सो गई। पिया को नींद नहीं आई। रात भर वह सोचती रही। सुबह होने को थी कि उसने माँ के सिरहाने से मोबाइल निकाला और घर के बाहर निकल पड़ी। कोलकाता रवाना होने के वक्त उसने रास्ते में पढ़ने के लिए तेनाली राम और गोपाल भाँड़ की कहानियों की किताब सामान के साथ रख ली थी। किताब के आखिरी पेज पर सारा की माँ का मोबाइल नंबर अपू ने लिख दिया था। पिया ने फोन लगाया तो सारा की माँ ने उठाया। पिया ने पूछा, 'आंटी, कोको ने कुछ खाया ?' सारा की माँ बोली, 'वह तो खाने को देखता तक नहीं। हमने चिकन मँगवाया कि शायद वह खा ले, लेकिन वह तो टस से मस नहीं हुआ।' पिया ने अब कहा, 'आंटी, आप मोबाइल कोको के कान के पास सटा दीजिए, मैं उसे कहूँगी तो खाने लगेगा।' मोबाइल पर पिया कोको को कहती रही, 'राजा बाबू, कोको बाबू, खाना खा लो। मैं दो-तीन दिन में आ जाऊँगी।' जवाब में कोको मरियल आवाज में खों-खों करता रहा।

शाम को पिया ने फिर फोन लगाया तो अपू ने उठाया और कहा, 'मोबाइल पर तुम्हारी आवाज सुनने पर कोको ने बिस्कुट का एक

टुकड़ा खाया, तो उसे उल्टी हो गई। उल्टी करने के बाद वह चुपचाप सोया पड़ा है। मुझे तो डर लग रहा है कि कहीं वह मर न जाए।' यह सब सुनकर पिया का बुरा हाल था। वह माँ को कहने लगी तुरंत आज रात को ही घर वापस चलो। माँ ने कहा रेल कोई हमारी तुम्हारी मरजी से नहीं चलती है। गया के लिए गाड़ी शाम को चलती है और टिकट मिलना आसान नहीं है। इस पर पिया कहने लगी हम लोग बिना टिकट के ही चले चलेंगे। रात को पिया की माँ ने सारा की माँ को फोन कर पूछा कि कोको ने खाया कि नहीं। उधर से जवाब आया 'नहीं बहन जी, वह तो गुमसुम पड़ा है।'

सुबह-सुबह पिया ने घर लौटने की रट लगा दी। पिया की माँ ने देवर से कहा, 'अब पिया खाना-पीना बंद कर देगी। आप किसी तरह शाम की गाड़ी में बैठने की जगह दिला दें। पिया के चाचा रेलवे कालोनी में रहते थे। इत्तफाक से जिस ट्रेन से पिया और उसकी माँ को जाना था, उसके गार्ड को वह जानते थे। उन्होंने कहा, 'बैठकर जाने की व्यवस्था हो जाएगी।'

माँ ने पिया को बताया कि वे लोग शाम की गाड़ी से चलेंगे पर पिया से कुछ भी खाया नहीं जा रहा था। चाची ने उसे गोदी में लिटाकर जबरदस्ती आधा गिलास दूध गले में डाल दिया और बोली, 'कोलकाता जाना तो होगा नहीं। जाओ आज सप्तमी है पाड़े (मुहल्ले) की पूजा में जाकर माँ दुर्गा के दर्शन कर आओ। पिया ने चाची का दिया फ्राक भी नहीं पहना और शेफाली- शिउली के साथ पूजा के पंडाल में गई। वहाँ माँ दुर्गा के सामने खड़ी होकर वह मन ही मन प्रार्थना करने लगी—माँ दुर्गा, कोको को मत मरने देना। यही प्रार्थना वह जब तक पंडाल में रही मन ही मन दुहराती रही।

गार्ड की कृपा से माँ-बेटी को बैठने की नहीं बल्कि सोने की बर्थ मिल गई। गाड़ी अगले दिन सुबह पहुँची तो रिक्शे से उतरते ही पिया सारा के घर दौड़ी-दौड़ी गई। वहाँ उसने देखा कि सारा खाना लिए कोको के पास बैठी उसे सहला रही है और बार-बार कह रही है— खा लो कोको पिया दीदी आ जाएगी। पिया को जैसे ही कोको ने देखा उसका चेहरा खिल उठा; पिया उसको गोदी में लेकर सहलाने लगी और वह कभी पिया का हाथ चाटता तो कभी मुँह को और सारा बीच-बीच में कोको के मुँह में खाना डालती रही।

कोको ने पूरा खाना खा लिया तो पिया ने उसे घर ले जाने के पहले सारा से कहा; 'मेरी एक बात मानोनी?' 'क्या?' सारा ने पूछा। यही कि स्कूल में किसी को मत बताना कि पिया ने कोलकाता नहीं देखा। सारा ने बड़ी बूढ़ी की तरह आँखों-आँखों में ही पिया को भरोसा दिया कि यह बात उसके पेट में ही रहेगी। पिया कोको को लेकर चलने लगी तो उसने सारा को कहा—आज से कोको की बड़ी माँ मैं और छोटी माँ तुम।

दुखवा कासे कहूँ मोर सजनी

मेरे पैर की मोच ठीक हो गई थी। सुबह उठकर मैं मैदान में चार चक्कर दौड़कर लगा चुका था। बिलकुल दर्द नहीं था। मैंने दफ्तर पहुँचने पर सीधे कप्तान को खबर दी कि मेरा पैर एकदम ठीक है और सेमीफाइनल की टीम के लिए मुझे चुना जाए। कप्तान ने कहा,'ठीक है'। शाम को नोटिस बोर्ड पर टीम की सूची जब टँगी, तो मेरा नाम नहीं था। मैं घबराया हुआ कप्तान के पास गया कि ऐसा कैसे हुआ। कप्तान ने कहा,'क्या करें, सरीन साहब का कहना था कि टीम में वही खिलाड़ी चुने जाएँ, जो शत-प्रतिशत फिट हों, मैच के दौरान तुम्हारी चोट फिर उभर आने का जोखिम उठाना ठीक नहीं होगा।'

गुस्से में मैं लाल हो गया था, पर मैंने विनीत भाव से कहा,'कप्तान, मेरा पैर एकदम ठीक हो गया है और मैं आज सुबह-सुबह उठकर चार दौड़ें लगा चुका हूँ।'

कप्तान ने कहा,'यह तो मैं भी समझता हूँ, पर सरीन साहब आमादा थे कि शत-प्रतिशत फिट खिलाड़ी ही चुने जाएँ।'

चयन समिति की बैठक में क्या हुआ होगा, इसका मुझे पूरा अंदाज था। कप्तान ने कहा होगा,अमर का पैर ठीक हो गया है। इस पर सरीन साहब ने अखबार में पढ़ी सतर दुहरा दी होगी कि शत-प्रतिशत फिट खिलाड़ी ही चुने जाने चाहिए और बात वहीं खत्म हो गई। होबर सरीन हाकी का 'ह' भी नहीं जानता; इसलिए अखबारों के गदहे संवाददाताओं की गदह-पचीसी को ब्राह्मवाक्य समझेगा ही। अखबारों से मुझे चिढ़ हो गई थी। उन्होंने कभी मेरे खेल की तारीफ नहीं की। मैंने अखबारों में हाकी की रिपोर्ट पढ़नी बंद कर दी थी। सिर्फ उस मैच की रिपोर्ट देख लेता था, जिसमें मैंने गोल किया होता। मैंने सरीन को मन-ही-मन हजारों गालियाँ निकालीं पर गालियाँ निकालने से क्या फायदा। सरीन जब हमारी कंपनी का जनरल मैनेजर बनकर आया, तब हाकी टीम के सभी खिलाड़ी बहुत खुश हुए। हमारे पास यह खबर आई थी कि सरीन बहुत आधुनिक किस्म का आदमी है और उसने यह कहा था कि हाकी के मैदान में कंपनी की टीम के चमकने का मतलब है, मुफ्त में हजारों रुपए का विज्ञापन और इसलिए टीम पर होनेवाला खर्च घटाने के बजाए बढ़ाया जाना चाहिए। सरीन के आने के बाद हमारी जर्सियाँ नई बनीं और सभी खिलाड़ियों को कहा गया कि टूर्नामेंट जीतने पर नकद पदोन्नति के साथ-साथ नकद इनाम भी

मिलेगा। कंपनी की पत्रिका में सरीन का प्रशंसा भरा परिचय छपा। उसके आधार पर मैंने कप्तान से कहा कि वह सरीन साहब से मिले और उन्हें टीम की स्थिति के बारे में बताए। कप्तान ने कहा कि वह अकेला नहीं जा सकता, अगर कोई साथ जाए, तो जा सकता है। मैं उसके साथ जाने को तैयार हो गया। सरीन साहब के कमरे में हम गए, तो उन्होंने कप्तान से और मुझसे बड़े तपाक से हाथ मिलाया। मुझसे उन्होंने कहा,'मेरा खयाल है, आप इस समय सबसे तेज भागनेवाले लेफ्ट आउट हैं।' मैं गदगद हो गया। मुझे जनरल मैनेजर हॉकी का प्रकांड ज्ञाता लगा।

बातचीत के दौरान मैंने कहा,'सर, आपको फुरसत मिले तो टीम का खेल देखें और टीम के चयन में मदद करें।'

सरीन ने कहा,'फुरसत तो नहीं है, पर फुरसत निकाल लूँगा।'

घर पहुँचते ही मैं पलंग पर पसर गया। सेमीफाइनल में न खेलने का मतलब था कि अगर टीम जीती तो भी फाइनल में खेलने का मौका नहीं मिलेगा, क्योंकि फाइनल के लिए सेमीफाइनल की टीम में अक्सर परिवर्तन नहीं किया जाता। मैं घबराने लगा। सेमीफाइनल और फाइनल में अगर मैं गोल करता, तो राज्य टीम में मेरा चुना जाना निश्चित था और सरीन की जनरल मैनेजरी रंग दिखाती। राज्य हाकी टीम चुननेवाली समिति में सरीन को हाल में लिया गया था। सरीन के लिए जाने से मुझे यकीन था कि मैं अगर थोड़ा सा भी अच्छा खेला, तो चुन ही लिया जाऊँगा। पिछले दो साल से मुझे ट्रायल में बुलाया जाता रहा, पर अंतिम चयन के वक्त गुटबाजी और चयन समिति में हमारी कंपनी के प्रतिनिधि न होने के कारण हमेशा छाँट दिया जाता। इस बार मुझे पूरी उम्मीद थी कि राज्य टीम में चुन लिया जाऊँगा और देश में अच्छे लेफ्ट आउट के अभाव की वजह से शायद राष्ट्रीय टीम में भी चुन लिया जाऊँगा। तीन साल बाद ओलंपिक खेल होनेवाले थे और इस बीच ज्यादा प्रयत्न करता रहूँगा जिससे ओलंपिक में जाने में कोई दिक्कत न आए। मैं बचपन से सपना देखता आया था कि ओलंपिक में खेलूँगा और फाइनल में पाकिस्तान के खिलाफ गोल करूँगा।

इस साल मुझे गोल नजदीक आता जान पड़ रहा था, सो मैंने हाकी सीजन शुरू होने के बहुत पहले से ही दौड़ना, कसरत करना और ठीक से खान-पान शुरू कर दिया था। मैं दिन में दो सिगरेट पीता था, पर इधर पाँच महीनों से मैंने एक भी सिगरेट नहीं पी थी। हाकी अच्छी खेलने की वजह से मुझे नौकरी मिली थी।

अनवर ने एक दिन मुझे एक गुर बताया था। मैं मैदान में पागलों की तरह दौड़ता था। गेंद दिखी कि भागा। अनवर ने कहा कि अगर तुम्हारा खेलने का उद्देश्य सिर्फ लोगों की नजर में चढ़ना और ओलंपिक जाना है तो उन गेंदों के पीछे कतई मत भागो, जिनको तुम पकड़ नहीं सकते। तुम भागते हो और पकड़ नहीं पाते तो दर्शक यही सोचते हैं कि तुम में कमजोरी थी। मैदान में सुस्ताते रहो। जब ऐसी गेंद मिले कि उससे कुछ बात बननेवाली हो, तो भागो।

मेरी टीम के अधिकांश खिलाड़ी बस खेलने के लिए खेलते थे। उनकी महत्वाकांक्षाहीनता से मुझे कुढ़न होती थी। इतना नजदीक आकर भी मैं पिछले साल से आगे नहीं जा सकूँगा, सोचकर मेरी घबराहट बढ़ती ही गई। मैं कैसे टीम में आऊँ, मेरी समझ में नहीं आ रहा था। मैंने सोचा, अनवर से सलाह-मशविरा करूँ, पर मैं जानता था, अनवर हँसकर कहेगा कि खुशी मनाओ कि टीम में नहीं हो, नौकरी मिल गई है और जिंदगी काट दो। पर अभी तो मैं जवान हूँ और मुझे प्रयत्न करते रहना चाहिए। मैंने तय किया कि तीस बरस की उमर तक प्रयत्न करता रहूँगा और सफल नहीं हुआ तो अनवर की तरह खेलने लगूँगा।

अनवर की मैं बहुत इज्जत करता हूँ और उसके कभी-कभी न घबराने और बिलकुल महत्वाकांक्षी न होने के कारण वह मुझे महान लगता है। अगर वह थोड़ी मेहनत करता, तो उसे राष्ट्रीय टीम में चुने जाने से कोई रोक नहीं सकता था, पर उसने कभी मेहनत नहीं की। वह जानता है कि मैं उसकी बहुत इज्जत करता हूँ, सो वह मुझसे बहुत प्रेम से बात करता है और कभी जब मैं उसे बताता हूँ कि रोज दौड़ता हूँ, कसरत करता हूँ तो व्यंग्य में हँस देता है, पर निरुत्साहित नहीं करता। उसके यहाँ जाने से कोई फायदा नहीं।

सेमीफाइनल में हमारी टीम जीत गई। मेरी जगह पर खेलनेवाला लेफ्ट आउट राकेश न अच्छा खेला न बुरा। फाइनल की टीम में सेमीफाइनल की टीम बदली नहीं जाएगी, ये सोचकर मैंने नोटिस बोर्ड देखा भी नहीं। मैं पाँच बजे दफ्तर से छूटकर सिनेमा देखने चला गया। अगले दिन दफ्तर गया, तो कप्तान और टीम के सब खिलाड़ी मिले। सब उत्साह से भरपूर थे। अनवर ने मुझे देखा, तो हँसने लगा। मुझे बहुत गुस्सा आया।

मेरा मन रो रहा था पर मैं टीम के खिलाड़ियों के साथ हँसी- मजाक करने लगा। फाइनल में जीत हुई, तो सरीन सबको सूट लेंथ देंगे। मैंने पूछना चाहा कि फाइनल में खेलनेवालों को ही सूट लेंथ मिलेगा या सबको। मैंने कप्तान को कहा,'आज जान लड़ा देना है' तो कप्तान ने कहा, 'सारा भरोसा नफीस अहमद पर है। अगर उसे थोड़ा सा भी मौका मिला तो वह फारवर्ड लाइन को चालू कर देगा।' अनवर को हम सब नफीस अहमद कहा करते थे। नफीस अहमद नाम मैंने ही रखा था। वह बहुत नफीस और दिमागी हाकी खेलता था। यह मशहूर था कि उसने अलीगढ़ से गणित में एम.ए. किया था पर उसने एम. ए. नहीं किया था। अलबत्ता वह अलीगढ़ में पढ़ा जरूर था। उसके पास हरदम सधे हुए होते और उसे हमेशा पता होता था कि

टीम का खिलाड़ी कहाँ है। वह कभी दौड़ता नहीं था। गेंद पास आती, तो दो खिलाड़ियों को काटकर बेहतरीन पास फेंकता। आज तक उसे खेलने में कभी चोट नहीं आई। पान चबाता हुआ, हाथ में हाकी लिए, वह चुपचाप खड़ा रहता। मेरा और उसका तो सीधा वास्ता था, वह लेफ्ट इन था और मैं लेफ्ट आउट। उसके साथ खेलने में बहुत मजा आता। मैं खयाली पुलाव पकाता, तो हमेशा ओलंपिक टीम में उसे लेफ्ट इन और अपने को लेफ्ट आउट चुनता। उसके पास पर मैंने कई गोल किए थे। गोल होने पर भी वह चुप रहता। जब मैं उसके पास पर बहुत ही बढ़िया गोल करता,तो वह मूड होने पर बस इतना ही कहता,'बहुत अच्छे!' उसके पास पर एक दिन गोल करने के बाद मैं भाव-विभोर हो गया। मुझे लगा कि अनवर को शाबाशी मिलनी चाहिए। खेल के बाद मैंने उससे पूछा कि क्या कभी ओलंपिक टीम में चुने जाने की तुम्हारी इच्छा नहीं हुई तो उसने जवाब दिया विदेश जाने पर पान नहीं मिलेगा और मैं पान चबाते-चबाते ही खेल सकता हूँ। दूसरे मैं मुसलमान हूँ और हाकी में पाकिस्तान से मुकाबला है, इसलिए मैंने कभी ओलंपिक की बात सोची ही नहीं।' मैं हँस दिया। मैं जूते पहनकर खेलता था। मेरे जूते पहनने पर वह हँसता हुआ कहता, 'जूते पहनकर खेलने की प्रैक्टिस कर रहे हो, ओलंपिक में खेलने के लिए!'

उसकी बात सही थी। खाली पैर खेलने में ज्यादा आराम रहता था, पर बचपन में किसी ने मुझे कहा था कि खाली पैर खेलने पर ओलंपिक में चुने जाने में दिक्कत आएगी। मैच शुरू होते वक्त हमेशा जूते पहने रहता। अनवर ने एक दिन मुझे एक गुर बताया था। मैं मैदान में पागलों की तरह दौड़ता था। गेंद दिखी कि भागा। अनवर ने कहा कि अगर तुम्हारा खेलने का उद्देश्य सिर्फ लोगों की नजर में चढ़ना और ओलंपिक जाना है तो उन गेंदों के पीछे कतई मत भागो, जिनको तुम पकड़ नहीं सकते। तुम भागते हो और पकड़ नहीं पाते तो दर्शक यही सोचते हैं कि तुम में कमजोरी थी। मैदान में सुस्ताते रहो। जब ऐसी गेंद मिले कि उससे कुछ बात बननेवाली हो, तो भागो। अनवर की इस बात को मैंने और भी आगे बढ़ाया। मैं मैदान में सुस्ताता रहता और खेल समाप्त होने के दस-पंद्रह मिनट पहले जब सब खिलाड़ी थक जाते, तब झपाटे से दौड़ता और इस तरह कई बार मैंने अंतिम क्षणों में निर्णायक गोल किए थे और मेरी शोहरत बढ़ गई थी।

टीम के खिलाड़ियों के बीच बैठा मैं अपना स्वप्न टूटता देख रहा था। मैंने राकेश को घोर ईर्ष्या से देखा और मन-ही-मन कहा,'इस कौवे की किस्मत कितनी अच्छी है।' टीम के किसी खिलाड़ी को पता नहीं था कि मेरे मन में क्या हड़कंप मचा हुआ है। सब खिलाड़ी मुझे क्षुद्र और स्वार्थी जान पड़े— क्या दसों खिलाड़ी मिलकर सरीन को यह नहीं कह सकते थे कि अमर के बिना टीम कमजोर हो जाएगी।

कंपनी की बस में बैठकर टीम के साथ मैं मैदान गया। मैदान में सरीन मिले। मैदान में उतरने से पहले सरीन ने संक्षिप्त भाषण किया कि सब लोग इतमीनान से खेलें और घबराएँ नहीं, सरीन ने मुझे अपने पास बैठने को कहा। मैं मन-ही-मन मना रहा था कि मैच गोल-शून्य रहे, जिससे मैच दुबारा हो। मैं जानता था कि दुबारा होनेवाले मैच में सेमीफाइनल की टीम कायम रखने की बात खत्म हो जाती है और चयन समिति किसी भी तरह मैच जीतने की व्यग्रता में टीम में परिवर्तन करती है। और वैसी स्थिति में, मैं टीम में ले लिया जाऊँगा। मैंने तय किया कि अगर मैच गोल-शून्य रहा तो हनुमानजी के मंदिर में प्रसाद चढ़ाऊँगा।

विश्राम तक कोई गोल नहीं हुआ। सरीन ने मुझसे पूछा कि गोल कैसे होगा? मैंने कहा कि अगर दोनों आउटों को खिलाया जाए, तो कुछ हो सकता है। सरीन ने मुसकराकर कहा,'तुम अपनी वकालत कर रहे हो क्योंकि तुम लेफ्ट आउट हो, पर तुम्हारी बात सही है, आउटों को खिलाने से शायद उनका डिफेंस तितर-बितर होने लगे।' मैंने कुछ जवाब नहीं दिया, पर मैं मान गया, सरीन होशियार आदमी है।हाकी के बारे में कुछ भी न जानने के बावजूद उसने अखबारी ज्ञान खासा हासिल कर लिया है।

सरीन मैदान में गया। उसने कप्तान और अनवर को कुछ कहा। मैंने सोचा, सरीन अनवर को कह रहा है कि लेफ्ट आउट को ज्यादा खिलाओ और अनवर जवाब दे रहा है कि क्या खिलाऊँ, लेफ्ट आउट तो एकदम गड्ढा है! दूसरे पल ही मैं जान गया कि अनवर ऐसी कोई बात नहीं कह रहा था।

खेल फिर शुरू हुआ और सरीन मुझसे बीच-बीच में बात करता रहा। मैच खत्म होने को जब सात मिनट रह गए, तब राकेश ने गोल किया। वह सरासर ऑफ साइड था। मैंने गोल से पहले चिल्लाकर राकेश को कहना चाहा था कि राकेश पीछे हटो, ऑफ साइड हो, पर मैंने कुछ कहा नहीं। तभी राकेश को गेंद मिली और उसने सीधी हिट लगाकर गोल कर डाला। मैंने सोचा कि गोल का विरोध होगा, पर किसी ने विरोध नहीं किया। शायद किसी की नजर में यह बात आई ही नहीं थी कि राकेश ऑफ साइड था। सरीन ने कहा, 'कमाल का गोल था!' उसने मेरी तरफ हाथ बढ़ाया और कहा, 'मजा आ गया!'

मैंने हाथ मिलाया और मन-ही मन कहा, बाजी हार गया हूँ और अब स्थिति को और नहीं बिगाड़ूँ, मैंने कहा,'बहुत अच्छा गोल था।'

सरीन अब राकेश की तारीफ करने लगा और मुझसे पूछने लगा कि मुझे राकेश कैसा खिलाड़ी लगता है। मैंने कहा,' अच्छा है, सर!' मैंने उसी पल जान लिया कि राकेश सरीन के दिमाग में चढ़ गया है। मुझे लगा। यह मौसम तो गया और अगले मौसम में भी मैं टीम में नहीं लिया जाऊँगा। राकेश को टीम से हटाना अब मेरे बस की बात नहीं थी। मैंने सोचा, दूसरे क्लब में चला जाऊँ। पर दूसरे क्लब में जाने से नौकरी का क्या होगा? मैं घबरा रहा था। टीम के सब खिलाड़ियों सहित में बगल के रेस्तराँ में गया और खाता-पीता रहा। सात बजे के लगभग सब अपने-अपने घर चले

गए। राजेंद्र मेरे साथ चलने लगा। खबर थी कि वह इस मैच के बाद बंबई चला जाएगा। उसे बंबई में अच्छी नौकरी लगी है। राजेंद्र राइट आउट था। मैंने सोचा राजेंद्र चला गया, तो मैं राइट आउट खेल सकता हूँ। सो मैंने बहुत ही सहजता और विश्वास के साथ पूछा, 'सुना, तुम बंबई जा रहे हो?'

राजेंद्र ने बताया कि बंबई में नौकरी लगने की बात सही है और वह 28 तारीख को बंबई जा रहा है।

अगले मौसम में राइट आउट खेलने की बात मेरे मन में फैलने लगी। राजेंद्र से विदा होकर मैं सोच में पड़ गया। मैं घबरा रहा था और मुझे घबराहट से निकलने की सूरत भी नजर आ रही थी। अगर मैं तय कर सकूँ कि अगले मौसम में मुझे राइट आउट खेलना है, तो मौसम न आने तक मैं बदहवास नहीं रहूँगा। मैंने सिगरेट सुलगाई। सिगरेट सुलगाते वक्त मुझे याद आया, सिगरेट पीने से दम फूलने लगता है। पर मैंने सोचा, फूले तो फूले, अभी तो अगले मौसम को बहुत देर है। इस मौसम का तो आज ही अंतिम दिन है। मुझे आज ही फैसला कर लेना है कि अगले मौसम में राइट आउट खेलना है या नहीं?

मैंने अनवर के घर जाकर उससे बातचीत कर फैसला करना तय किया। वह घर पहुँचा होगा या नहीं और क्या पता शराब पीने निकल पड़ा हो। उसके बारे में यह बात फैली हुई थी कि वह खूब शराब पीता है और शराब की वजह से ही वह आगे नहीं बढ़ पाया। अनवर के घर मैं एक बार गया था। जकरिया स्ट्रीट पहुँचने पर मैं ढूँढ़ लूँगा, यह मैं जानता था।

बस में बैठे-बैठे जकरिया स्ट्रीट को चितपुर से चितरंजन एवन्यू तक देख लिया। नाखुदा मस्जिद के पास खड़े भिखमंगों और सड़क पर रखे हुए पराठों और कबाब की सीकों पर मेरी नजर पड़ी। मुझे घिन आने लगी। मैंने कभी भी मुसलमान फेरीवालों से कोई चीज लेकर नहीं खाई थी। उनकी गंदगी देखकर मेरा जी मितला उठता था। मैंने सोचा, अनवर मुझसे खाना खाने का आग्रह करेगा, तो मैं शाही टुकड़ा या फिरनी ले लूँगा। इनामेल के गंदे बरतनों में गंदी रोटी मुझसे खाई नहीं जाएगी। पर यह सब मैं अपने दिमाग को राहत देने के लिए सोच गया। दुख ने थोड़ी देर बाद फिर मुझे दबोच लिया।

शायद मेरी बातों का दुनिया से कोई सरोकार नहीं था। मेरा दिमाग घबराहट के कारण ऊलजलूल सोच रहा था। मैंने सोचा, दुनिया में कोई चीज स्थायी नहीं होती और अगले साल क्या होगा, किसको पता हो सकता है कि सरीन ही नौकरी से हटा दिया जाए। सरीन के हटाए जाने की उड़ती-उड़ती खबर सुनने में आई थी। इस तरह की हर बात सोचने और उसकी काट पैदा करने का कोई अंत नहीं था, पर मेरे दिमाग में यही सब हो रहा था।

मुझे एकाएक लगा कि अनवर के यहाँ बेकार जा रहा हूँ शायद वह मिले भी नहीं। अनवर क्या सलाह दे सकता है। वह मेरी हालत को क्या समझेगा। वह तो खत्म हो चुका है। वह शराबी था। बेदम आदमी। खीस निपोरने के सिवाय वह कोई सलाह नहीं दे सकता। अनवर न मिले तो हो अच्छा। पर दो दिन के सोच और चिन्ता से किसी तरह मुक्ति पाने के खयाल से मैंने सोचा, अनवर के साथ शराब पीऊँगा। और सरीन को खूब गाली निकालूँगा। अनवर चुगलखोर नहीं है, इसलिए शराब पीकर उसके सामने गाली निकालने में कोई नुकसान नहीं।

जकरिया स्ट्रीट पर अनवर का मकान मिल गया। वह कुछ दोस्तों के साथ शराब पीने जा रहा था। मैं उसके साथ हो लिया। शराब पीकर मुझे नशा आने लगा, तो सरीन की मुझे याद आने लगी। एकाएक अनवर ने कहा,' अगर तुम टीम में होते,तो आज हम यह मैच नहीं जीतते।'

मुझे बहुत गुस्सा आया और मैंने पूछा, 'कैसे?'

अनवर ने कहा 'तुम राकेश की तरह ऑफ साइड नहीं होते।'

मुझे अनवर की इस बात से बहुत खुशी हुई और मैंने सरीन से अपनी जो बातचीत हुई थी, वह उसे बतलाई और मैंने सरीन को गालियाँ निकालनी शुरू कर दी। मुझे गालियाँ बकते हुए महसूस हुआ कि मैं बेवकूफी कर रहा हूँ। अनवर को गालियों में कोई दिलचस्पी नहीं हो सकती। मैंने अनवर को देखा। उसका चेहरा सपाट था। वह शायद रोज़ पीता था और उस पर शराब का रंग बहुत धीमे चढ़ता होगा। मैं चुप हो गया। अनवर ने कहा कि वह मुझे घर तक छोड़ आएगा। मैंने कहा,' मुझे इतना नशा नहीं हुआ है। मैं तुमसे एक चीज के बारे में सलाह करने आया था।'

उसने कहा,'अब तुम जाओ, कल बातचीत करेंगे।' मैंने आग्रह नहीं किया। बस में बैठा, तो मुझे लगा कि अनवर से सलाह करना बेवकूफी होगी। मेरा दुख वह नहीं जानेगा। मैंने अपनी टाँगे पसार दीं और सोचने लगा कि अगर अगले साल मैं टीम में नहीं लिया गया, तो कोई गजब नहीं होगा बल्कि मैं सही रास्ते पर आ जाऊँगा मेरी ओलंपिक जाने की बात हवाई है। ओलंपिक का सपना टूट जाएगा और मैं इतमीनान से सिगरेट पी सकूँगा। अपनी घबराहट और दु:ख की बात मुझे किसी को नहीं बतानी है। बताने पर लोग सिर्फ मुझ पर हँसेंगे, मेरा दुख नहीं समझ सकेंगे, मैंने तय किया, कल दफ्तर में मुँह से कोई ऊलजलूल बात निकलने नहीं देनी है।

मूल्यांकन

वह जो समय और समाज था

प्रियदर्शन

समाजवादी विश्वासोंवाले बहुत सारे लोगों के लिए मित्र, दार्शनिक और पथ-प्रदर्शक रहे (इस अनुवाद का हल्के ढंग से उन्होंने खुद एक कहानी में इस्तेमाल किया है) अशोक सेकसरिया नई कहानी आंदोलन के दौर के एक परिपक्व कथाकार भी रहे, यह बात उनकी उजली कीर्ति की छाया में कुछ भुला सी दी जाती है। शायद अपने-आप को कथा-लेखक या कुछ भी मनवाने के आग्रह या इसकी इच्छा से वे जिस तरह मुक्त और निर्द्वंद्व रहे, उसको याद करते हुए यह समझना मुश्किल नहीं है कि आत्मरति और आत्मप्रचार के मारे इस हिंदी संसार ने इस बात का भी खयाल क्यों नहीं रखा कि वे उसके बीच के ही एक लेखक थे। अगर उनके कुछ मित्र न होते जिन्होंने उनके साधु स्वभाव को समझते हुए अपनी पहल पर, और उनको बताए बिना उनका संग्रह तैयार और प्रकाशित करा दिया तो शायद हिंदी पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी इन कहानियों को फिर से खोजना लगभग असंभव सा काम होता।

वाग्देवी प्रकाशन से 'लेखकी' नाम का यह संग्रह साल 2000 में छप कर आया- यानी इन कहानियों के प्रथम प्रकाशन के तीन दशक बाद। और डेढ़ दशक बाद अब इन कहानियों को पढ़ते हुए जो प्रीतिकर अनुभव होता है, उसकी वजहें एकाधिक हैं। इन कहानियों से गुजरना आज की तेज भागती और लगभग हाँफती हुई जिंदगी के बीच एक ऐसी ठहरी लगती दुनिया में जा पहुंचना है जहाँ जैसे कुछ बीतता नहीं, समय भी जैसे सोचकर आगे बढता है। जैसे पलक झपकते शय बदल देनेवाली आज की फिल्मों के मुकाबले हम कोई ब्लैक ऐंड वाइट फिल्म देख रहे हों जहाँ हर शय बहुत मंथर गति से बढ़ता है।

लेकिन शायद यही इन कहानियों का सबसे बड़ा मोल है। इन्हें पढ़ते हुए अचानक यह खयाल आता है कि आज की जो भागमभाग है, वह इतनी मशीनी और अपनी तरह की यंत्रसाधित जड़ता से भरी है कि उसमें जीवन के लिए जगह कम होती जा रही है। दूसरी तरफ बिलकुल ठहरी हुई दिखनेवाली जो पुरानी दुनिया है, वह इतने हलचलों और स्पंदनों से भरी है कि अपने सारे अभावों के बावजूद उसमें जीवन बचा हुआ है—और यह जीवन जीने वाले लोगों में इतनी मनुष्यता बची हुई है कि वे अपने जीने के अर्थ को बार-बार व्याख्यायित करते रह सकें।

यह अनायास नहीं कि अशोक सेकसरिया के सारे पात्र लगातार सोचते हुए पात्र हैं। पहली कहानी का नायक कलकत्ते में बसा एक राजस्थानी अमीर है जो बरसों बाद 'देस' लौटा है। वह उस देस को जीना चाहता है जिसके बारे में उसके पिता और पुरखे उसे बताते रहे। लेकिन यह देस काफी कुछ न बदलते हुए भी बदल गया है। इस देस से उसका एक द्वंद्व भरा रिश्ता बन पाता है। वह यहाँ जमीन खरीदने से लेकर कारोबार करने तक की सोचता है— वह दूसरों की मदद भी करने की सोचता है और एक लम्हे के लिए यहां से अपना राजनीतिक भविष्य भी देखने लगता है। लेकिन अंततः सब कुछ अगली बार के लिए मुल्तवी कर लौट जाता है।

हालाँकि आम तौर पर अशोक सेकसरिया के ज्यादातर नायक मध्यवर्गीय या उन मध्यवर्गीय परिवारों के हैं जहाँ एक छोटी सी नौकरी और आय के सहारे बँधा जीवन हिलता-डुलता, झटके खाता और आगे बढ़ता है। उनके नायकों की नौकरियाँ छूटती रहती हैं। उनके पास पैसे अक्सर घटे रहते हैं। वे घर में भी कुछ अजनबी से दिखते हैं, बाहर भी अजनबी लगते हैं। उनमें से कुछ लेखक भी बनना चाहते हैं और इसी में अपने से यह बहस भी कर लेते हैं कि लिखकर क्या होगा। संग्रह का नाम जिस कहानी से बना है, वह 'लेखकी' एक ऐसे किरदार की कहानी है जो नौकरी से छुट्टी लेकर नैनीताल जा पहुँचा है ताकि लेखन की अपनी पुरानी और अधूरी साध पूरी कर सके। वह लिखना शुरू करता है और फौरन आत्मविश्वास से भर उठता है कि जल्द ही वह एक अच्छी किताब पूरी कर लेगा। लेकिन कुछ देर बाद उसे पढ़ते हुए वह महसूस करता है कि उसके लिखे में नया कुछ भी नहीं है। यह द्वंद्व उसके भीतर तरह-तरह से घटित होता है। कभी लिखना ही उसे व्यर्थ लगता है कभी लेखन के नाम पर हो रही औसत किस्म की कलमघसीटी उसका मन मोड़ देती है। वह नैनीताल के बोर्डिंग स्कूल में पढ़ रहे अपने भांजे को अपने साथ ले आता है और तीन दिन गुजारकर, अपने पैसे खत्म करके लौट जाता है।

यह जो लगातार चलती उधेड-बुन है, यह लिखने-न लिखने, जीने-न जीने, पाने-न पाने का जो द्वंद्व है, यह जो छोटे-छोटे अभावों से बने दुख हैं, बार-बार लौटती जो आत्मदया है और इन सबको लगातार झेलते रहने का जो अभ्यास है या इन्हें अचानक झाड़कर चल देने का जो साहस है, वह इस पूरे संग्रह में जैसे बार-बार सिर उठाते हैं, पहली नजर में सपाट और सरलरेखीय प्रतीत होनेवाली कहानियों में अपनी तरह की वक्रताओं का संधान करते हुए और बताते हुए कि दूर से सरल-सपाट दिखता जीवन भीतर से कई बार कई कोलाहलों और हाहाकारों से भी भरा हो सकता है।

अशोक सेकसरिया के लेखन के संदर्भ में कुछ बातें और उल्लेखनीय हो उठती हैं। कई बार वे कहानी के भीतर छुपे किसी मर्म की उस जगह पहचान कर लेते हैं, जहाँ वह सबसे ज्यादा छुपा हुआ होता है और अचानक उसके रोशनी में आने से जैसे बाकी चीजें बदल जाती हैं। एक अनगढ़ सी लगती कहानी है– 'छुटपन के बरसों का अंतर।' एक अमीर लड़की से प्रेम, एक छोटी सी बच्ची से स्नेह और एक बॉस के प्रति कुछ हिकारत के अलग-अलग मोड़ों पर घूमती इस कहानी में एक मोड़ ऐसा आता है जब नायक अपनी रईस प्रेमिका प्रीति की राह देख रहा है और उसके साथ खरचने के लिए उसने पाँच रुपए बचा रखे हैं। तभी पार्क में उसकी नई दोस्त बनी बच्ची वीनू चली आती है और उससे चार रुपये माँगती है। नायक दुविधा में है कि वह क्या करे। वह उसे समझाने की कोशिश करता है कि अभी ये पाँच रुपए उसके लिए बेहद जरूरी हैं और सुबह वह वीनू को चार नहीं, सात-आठ रुपए दे सकता है। लेकिन वीनू को भी अभी ही रुपए चाहिए। वह पीला मुँह लिए लौट जाती है। उधर प्रीति भी नहीं आती। यह सारा कुछ कभी बाद में याद करते हुए वह सोचता है कि अगर उसने उस दिन वीनू को पैसे दे दिए होते तो शायद प्रीति से उसका साथ नहीं टूटता। कायदे से देखें तो प्रीति और वीनू के मामले बिलकुल अलग-अलग हैं। लेकिन एक किरदार के भीतर वे इस तरह गुंथे हुए हैं कि वह एक की मायूसी की सजा दूसरे के विछोह में देखता है तो अचानक उस गहराई का आभास होता है जो इन सतही से दिखनेवाले संबंधों के बीच आदमी के भीतर बन रही होती है।

ऐसी कहानियाँ और भी हैं जो आपसी रिश्तों की कशमकश से पैदा हुई हैं और जिनके बीच हम लोगों को उनकी एक नई सूरत के साथ पहचान पाते हैं। 'रंदवू' में पति-पत्नी के प्रेम के बीच चली आ रही चुप्पी है जो कई तरह की शिकायतों और उलझनों से बनी है– निहायत छोटी-छोटी बातें जिनमें कुछ ऊब है कुछ अन्यमनस्कता भी। सुसी चाहती है कि रवि टिफिन बॉक्स लेकर दफ्तर जाए, रवि को टिफिन बॉक्स पसंद नहीं है। रवि चाहता है कि उसके पुणे जाने की बात पर सुसी कुछ पूछे। लेकिन सुसी को जैसे इससे फर्क नहीं पड़ता। फिर गेटवे ऑफ इंडिया पर समंदर के किनारे बैठा रवि जैसे टिफिन बॉक्स ले जाने की बात कहता है, सुसी की एक खिलखिलाहट जैसे सारी चुप्पी को पोंछ डालती है।

इसी तरह 'बिल्डिंग' की मुन्नी और उसके भाई रमेश के दोस्त और उसी के पड़ोस में बचपन से रह रहे दिलीप के बीच का अनकहा प्रेम और अचानक शादी का प्रस्ताव एक दिलचस्प कहानी बनाते हैं-अमूमन भावुकताओं से भरी प्रेम कथाओं के मुकाबले एक ऐसी कहानी जिसमें एक अनायासता और सहजता है।

ये तरह-तरह की कहानियाँ हैं–नौकरी छोड़कर या उससे छुट्टी लेकर घर पहुँचे और वापस लौटते उन किरदारों की,जो अपने-आप को अपने घरवालों के बहुत काम का नहीं पाते- एक बेटे की, जो बीमार माँ को छोड़कर लौट रहा है और भाई के हाथ स्टेशन भिजवाया हुआ उसका पैसा अपनी जरूरत के बावजूद कुछ कसक के साथ वापस करता है, एक पिता की, जिसके बेटे को पोलियो हो गया है और जिसके बाद उसकी जिंदगी बदल गई है– उन दोस्तों की जिन्हें जमाने ने कुछ बदल दिया है और कुछ पहले सा रहने दिया है।

चूँकि ये कहानियाँ अशोक सेकसरिया की हैं, इसलिए यह पूछने की इच्छा होती है कि इन नितांत निजी कहानियों का कोई सामाजिक-राजनीतिक पक्ष भी है या नहीं? दरअसल सेकसरिया के लेखन में कहीं से यत्नपूर्वक या योजनापूर्वक लिखने का एहसास नहीं है। उनकी कहानियाँ जैसे अपने किरदारों के साथ आगे बढ़ती जाती हैं। ये किरदार कुछ कहते नहीं, लेकिन इनकी जीवन स्थितियों में वे सूक्ष्म ब्योरे मिलते हैं जो हमें उस समय के बारे में काफी कुछ कह जाते हैं। जाहिर है, यह आजादी के बाद का वह समय है जब राष्ट्र निर्माण का आरंभिक उत्साह बैठ चुका है और नौजवानों के सामने पहली बार बेघरी, विस्थापन या बेरोजगारी जैसे सवाल इतनी प्रबलता के साथ खड़े हैं। दूसरे विश्वयुद्ध की हताशा से घिरे यूरोप में अल्बेयर कामू का जो अजनबी दिखाई पड़ता है, वह अशोक सेकसरिया की कहानियों के इन पात्रों के बहुत करीब दिखाई पड़ता है- इसके बावजूद कि उसकी अनास्था भी अनभिव्यक्त है, उसकी टूटन भी अनकही है। यह नायक शायद यह उस दौर के कुछ और लेखकों की रचनाओं में भी मौजूद है, लेकिन अशोक सेकसरिया के यहाँ उसकी बुनावट अपनी सहजता के बावजूद बहुत सारे नए आयामों को उद्‌घाटित करने में सफल होती है। मिसाल के तौर पर 'राइजिंग टु दि ऑकेश्जन' नाम की कहानी का नायक प्रकाश कैंसर के अंदेशे से घिरा हुआ है। जिस रात पति-पत्नी इस अंदेशे के खिलाफ आनेवाले दिनों की रणनीति बना रहे हैं, उसी समय उसका एक अरबपति दोस्त अपनी गाड़ी भेजकर उसे बुलवा लेता है। इस हड़बड़ी में वह जाता है और पता चलता है कि उस दोस्त को अपने बेटे के लिए हिंदी में कोई उपयुक्त नाम चाहिए। आने-जाने की यह प्रक्रिया कुछ और आगे जाती है। इस बीच यह पता चल जाता है कि प्रकाश को कैंसर है हालाँकि असाध्य नहीं है। लेकिन वह इस सबके बीच अपने अरबपति दोस्त की ओर से मिला नौकरी का शानदार प्रस्ताव ठुकराकर चला आता है- उसे बिना बताए कि इन दिनों वह किस मुसीबत में घिरा है।

अशोकजी ने यह कहानी बड़ी कुशलता से लिखी है। आर्थिक तौर पर कमजोर अपने एक दोस्त के प्रति एक तरह के अधिकार भाव के बावजूद बेरुखी, सब कुछ को सेल या बाई करने के मुहावरे से भरा जीवन और एक बीमारी के बीच एक छोटे से दंपती का अपना मोर्चा– यह एक छू लेनेवाली दास्तान है।

अशोक सेकसरिया की भाषा में अपनी तरह की सूक्ष्मता और गहराई है। जीवन-व्यवहार में दिखनेवाली विडंबनाओं को वे बड़े सहज 'विट' के साथ पकड़ते है। इसके उदाहरण उनकी कहानियों में कई जगह मिलते हैं। पहली ही कहानी में चाय पीने के आग्रह और इस आग्रह को मान लेने को तकल्लुफ करार देने की हिकमत दिलचस्प है। इसी तरह अरबपति दोस्त अपने मित्र को घर बुलवाने के लिए मर्सिडीज भेजता है लेकिन वापस घर भेजने के लिए अंबैसडर गाड़ी दे देता है। 'विकल्प' में यह 'विट' और वेधक ढंग से उपस्थित है। हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए अपने बेटे का नाम जावेद रखने की सोचनेवाला नायक तब पस्त पड़ जाता है, जब पाता है कि उसका बेटा, जिसका नाम कुश हो चुका है, पोलियोग्रस्त है। यहाँ से वह एक रूपक भी खड़ा कर लेता है- यह सोचता हुआ कि 'हिंदुस्तान सही मायनों में आजाद हुआ होता तो उसका लड़का जावेद होता, पर हिंदुस्तान की आजादी अपंग थी और अपंग हिंदुस्तान भी कुश की तरह कोई ज्वलंत उदाहरण नहीं हो सकता।' दरअसल यह पूरी कहानी जैसे सांप्रदायिकता सहित कई समस्याओं से जूझते हिंदुस्तान का रूपक हो जाती है जिसमें कभी-कभी अनमनापन तारी होता है, लेकिन आस्था और अनुराग का विवेक भी बचा रहता है।

कहना न होगा, 'लेखकी' अशोक सेकसरिया के बहुमुखी व्यक्तित्व के एक छूट गए पहलू को सामने लाती है। अशोक सेकसरिया शायद अरसे तक एक उपन्यास लिखने की योजना बनाते रहे, ये उनके करीबी लोग बताते हैं। वह उपन्यास अब नहीं लिखा जाएगा, लेकिन इन कहानियों की समग्रता में अपनी तरह की औपन्यासिकता है जिसमें हम एक दौर के खदबदाते भारतीय समाज को उसकी धुकधुकियों के साथ पहचान सकते हैं।

'लेखकी' की कहानियों पर एक टिप्पणी

टी. विजयेंद्र

अशोक सेकसरिया की कहानियों के देश में छोटी-छोटी आशाएँ भी असफल होती हैं। यह वह देश है जहाँ थोड़े ही लोग सफल होते हैं और ज्यादातर असफल। उनका नायक कहीं हॉकी की टीम में चुने जाने में असफल होता है, कहीं उपन्यास लिखने में असफल होता है, कहीं किसी युवा को नौकरी दिलाने में असफल होता है; प्रेम में असफल होना तो उसकी नियति है ही। अशोक अपने नायकों के आंतरिक संसार को पूरी बारीकी से पकड़ते हैं- उनका लगातार बना हुआ आत्मसंशय, अनवरत आत्मभर्त्सना और आत्मदया के लिए अपने को लताड़ना बराबर चलता रहता है। उनके नायक प्राय: हरदम पुरुष हैं। अशोक को पढ़ते हुए पुरुष की तनाव-ग्रंथियों से पाठक रूबरू होता रहता है। समाज की मुख्यधारा हमेशा सफलता का गुणगान करती है। यथार्थवादी लेखन इस धारा का विरोध तो अवश्य करता है लेकिन अक्सर अंत में आशा की एक किरण (वह सुबह कभी तो आएगी) दिखाता है। पर अशोक की कहानियों में ऐसा कहीं नहीं दिखता। इस दृष्टि से अशोक फ्लावेयर, चेखब और लू सून की महान परंपरा के लेखक हैं, जो निर्ममता से हमारे समाज की सड़ांध का वर्णन करते हैं। उनके यहाँ किसी तरह की आशा की प्रस्तावना नहीं मिलती। किंतु साथ ही अशोक की कहानियों में एक तरह के करुण रस से हमारा साबिका होता है- असहायता और आशाहीनता का एक निरंतर राग जैसे यहाँ बज रहा हो इस दृष्टि से वे गालिब के करीब हैं। अलबत्ता गालिब की भाषा का सौंदर्य अक्सर इस असहायता और आशाहीनता को ढक लेता है। इस अर्थ में गालिब की भाषा उनके कथ्य के साथ एक तरह का धोखा भी करती है। अशोक का गद्य जैसे बिलकुल बंजर है; यहाँ ऐसा कुछ भी नहीं जो आपको चमत्कृत करे, कोई हास्य या रहस्य का पुट तक नहीं, जो आपको मुग्ध करे। अशोक पूरी तरह रोमांसवाद के खिलाफ खड़े हैं।

अशोक की कहानियों में अगर हमें छोटी-छोटी आशाओं के पीछे भागता नायक दिखता है, तो साथ ही हम जान सकते हैं कि ये मामूली उम्मीदें मुख्यधारा के मापदंडों से मानी हुई सफलताएँ हैं। यहाँ विफलता एक तरह से यह भी इंगित करती है कि यों भी ये लक्ष्य जीवन को कोई सही अर्थ नहीं दे सकते थे। वैसे यह भी लगता है कि अशोक की कहानियाँ यह बताने से रह जाती हैं कि जीवन का लक्ष्य आखिर है क्या? शायद इसका कारण यह है कि अशोक एक ऐसे समय में रह रहे थे जब समाजवादियों और मार्क्सवादियों के आंदोलन दिशाहीन हो चुके थे। कोई विकल्प उनके समान समाजवादियों को भी वह मुकाम नहीं दे पा रहा था जहाँ से चलने का रास्ता साफ दिखता हो। पर इतना जरूर है कि अशोक का नायक मुख्यधारा के खिलाफ अपनी तमाम असहायता के बावजूद-अपनी गरिमा को बचाने के लिए एक प्रतिरोध का स्वर उठाता है। इस अर्थ में वह अपनी टेक पर कायम रहता है।

एक नदी थी
वह कलकल बहती थी
कलकल क्या होता है, पता नहीं
पर वह कलकल बहती थी
वह मेरे बचपन की नदी थी
मुहल्ले में अपमानित होने पर
उसके किनारे बैठ अकेला मैं
रो सकता था
शांति प्राप्त कर सकता था
वह नदी मैंने किस पाप से खो दी?

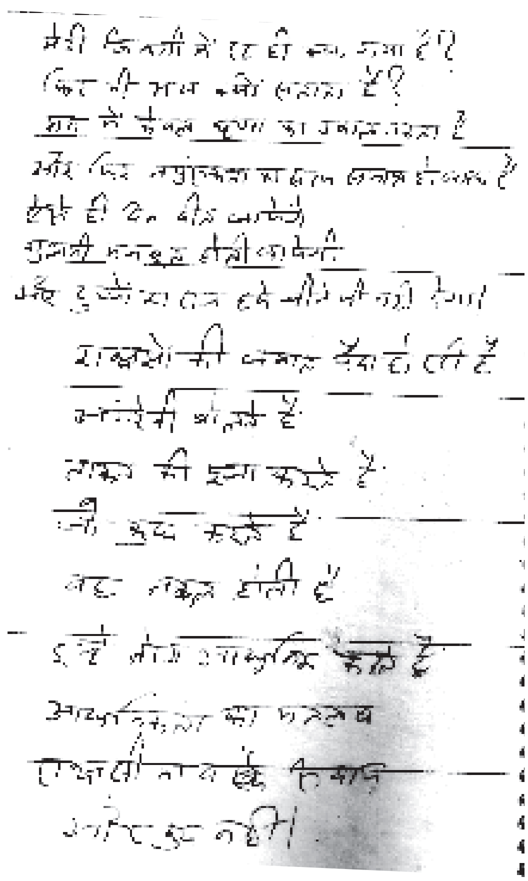

वे जो तुम्हें कूड़ा समझ
अपमानित करते हैं,
वे मनुष्य होने की पात्रता वर्षों से
खोते आ रहे हैं,
तुम उन्हें मन ही मन नपंसुक प्रतिहिंसा में
गाली देते हो
और गाली देने के श्रम से चूर निढाल हो जाते हो
फिर थकान में लेट जाते हो
और सोचते हो
क्या करोगे उनकी अमानुषिकता का
और क्या करोगे अपनी थकान का?
तुम कुछ भी समझ नहीं पाते
सिर्फ एक डरावनी तस्वीर देखते हो
तुम्हारा पाजामा पाखाने से भर गया है
तुम बदबू फैला रहे हो
दूर सहस्रों योजन तक पानी नहीं है
कि नंगे होकर अपना पाजामा साफ कर सको

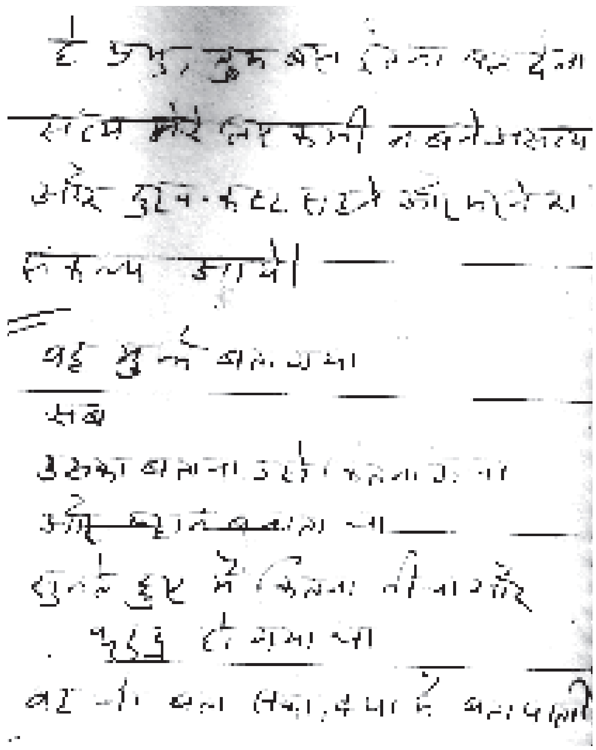

सैकड़ों डर आए और गए हैं
एक गया तो
दूसरा आ गया
कभी ऐसा नहीं हुआ कि
डर ने तुम्हारा साथ छोड़ा
और तुम ऐसे कि कभी
उससे मुँह मोड़ न पाए

अब बची नहीं कोई उम्मीद
जब नहीं हुए उम्मीदवार
तब क्यों पोसी उम्मीद
जो भगा देती है नींद

अशोक सेकसरिया को लिखे पिता सीताराम सेकसरिया के दो पत्रों के चुनिंदा अंश

चि०अशोक

तुम्हारा 16 का पत्र मिला।

कथा-समारोह के काम में नए-नए अनुभव आ रहे हैं। इसमें कोई शक नहीं कि हम बहुत हल्के लोग हैं और हमारा स्तर बहुत नीचा है। पर जो है, उनको लेकर ही काम करना पड़ेगा। यदि काम करना हो तो निराशा का होना उचित नहीं लगता। उद्देश्य अच्छा हो तो देर-जल्दी परिणाम अच्छे ही आनेवाले हैं। जितनी इमानदारी से जीवन जिया जा सके, काम किया जा सके, वह करते रहना—यही जीवन, देश-समाज के लिए आवश्यक मालूम होता है। कथा-समारोह के लिए खूब परिश्रम हो रहा है। परिणाम क्या होगा, ईश्वर जाने। काफी अच्छी तैयारी है। आशा भी अच्छी है। लोग जिस तरह का व्यवहार करते हैं, वह अच्छा नहीं लगता, पर सब बर्दाश्त करके काम करना है। हम व्यापारियों को दोष देते रहते हैं, पर यह साहित्यिक कहे जानेवाले लोग उनसे भी बहुत हल्के हैं। इसका पता लगता है, जब व्यवहार का मौका आता है। यह बात सबके लिए तो नहीं,पर ज्यादा लोगों के लिए कही जा सकती है। हाँ, कुछ लोग बहुत निष्ठावान तथा सरल हैं और सचमुच साहित्यकार हैं।

सीताराम

18-1-66

चि०अशोक

तुम्हारा 14-1 का पत्र कल शाम को मिला।श्री शास्त्रीजी चले गए। वे अपने जीवन में जितने सफल थे, मृत्यु ने उनको उससे ज्यादा सफल बना दिया। ऐसी सफल और महत्वपूर्ण मृत्यु बहुत ही कम लोगों को नसीब होती है...

डा०देवीशंकर अवस्थी का अवसान बहुत ही दुखद है। मैं उनको बिलकुल नहीं जानता था।जो कुछ परिचय है, वह इस कथा-समारोह में वे आए थे और बोले थे,इसका ही है। उनके परिवार की तथा आर्थिक कष्ट की बात लिखी, वह ठीक है, पर इसके लिए कैसे किया जाए—क्या किया जाए? यह सोचने लायक है। दो-पाँच सौ रुपए से क्या हो सकता है? संसद ने मेरे कहने से या योग देने से या उनको प्रभावित करने से एक पाँच वर्ष की योजना बनाई है, जिसमें पाँच सौ रुपया महीना या 6 हजार रुपया प्रति वर्ष हिंदी के साहित्यकारों की बीमारी आदि कष्ट के समय सहायता स्वरूप दिए जा सकते हैं। इस योजना में एक सौ रुपए महीना पाँच सौ रुपए प्रथम वर्ष तक देकर 6 हजार रुपए देना मैंने स्वीकार किया है। दो वर्ष के चौबीस सौ रुपए प्रथम वर्ष के आरंभ में ही देना है। अभी तक 6 हजार अपने और बारह-बारह हजार माधोदास मूधड़ा के हुए हैं। बारह हजार और करना है। वह हो जाएगा। इस योजना की कमेटी अभी तक नहीं बनी है तथा रूप-रेखा भी नहीं बन सकी है। इससे कुछ किया जा सकता है क्या? तुम जरा सोचकर लिखो कि क्या किया जाए, किस तरह किया जाए? जो भी हो सके वह करना मुझे अच्छा लगेगा और आवश्यक भी है ही।

...संपन्नता आज के युग में एक ऐसा शब्द है जो आदर के साथ नहीं लिया जा सकता पर यह एक दुर्भाग्य है कि कोई आदमी भी कुछ करे तो उसमें काम करनेवाले यदि बिलकुल भूखे हों तो वे या तो काम कर नहीं सके या उनमें प्रामाणिकता बहुत कम रह पाती है, परिस्थितिवश। जरा ठीक-सा जीवन जीनेवाला आदमी या जिस संस्था के पास थोड़े बहुत साधन हों वह आदर की पात्र न होकर एक ऐसी संस्था बन जाती है, जो पूँजीपति जैसी गाली की शिकार होती है। जो लोग ऐसी बातें करते या मानते हैं, उनमें ईमानदार आदमी कम होते हैं। एक बात कहूँ कि संसद ने जिन लोगों को बुलाया, और आने के लिए रुपया भेजा ओर वे न आ सके या न आा पसंद किया, या उदादसीन रहे, उनमें साहित्य के दो-चार बड़े लेखक या प्रतिष्ठित साहित्यकार हैं। इनको जो रुपया भेजा गया, वह 950 से कुछ ज्यादा है। अभी तक एक ने भी रुपए लौटाने की बात न लिखी है, न लौटाया ह। जो अपनी आवश्यकता के लिए दूसरों पर निर्भर न करके अपने साधनों से चला लेता है, उसको धनी मान लेते हैं। वह किसी तरह सौ-पचास रुपया अपने साधनों को अपने सुख को कम करके दे तो भी वहआदमी धनी लोगों की गिनती में आता है, इनकी निगाह में। और, यह धन के लिए या धन से जो कुछ मिलता है, उसे लेने के लिए इतने ज्यादा लालायित तथा इतने हल्के भी हो सकते हैं कि शायद जिसको यह धनी कहें, या जिस संस्था को संपन्न बताएँ या उसके कार्यों को मूल्यवान इसलिए न माने कि उसके पास कुछ खर्च करने के साधन हैं तो क्या किया जाए? पर वस्तुस्थिति जो है,उसे स्वीकार कर के जो हो सके, वह करते रहना जरूरी है। जो आदमी केवल विचार करता है, उसके सामने कोई कठिनाई या दिक्कत नहीं पर कुछ भी करना हो, आकाश की अपेक्षा जमीन पर चलना हो, जमीन को झाड़ना- बहारना हो, कहीं पर हो सके तो दो फूलों के पौधे भी लगा सके, तो लगाना हो, उसको सब सोच कर, जानकर सब सहते हुए चलना पड़ता है, काम करना पड़ता है। बहुत बातें हैं, कितना लिखा जाए? विचार बहुत चलते हैं, सुख-दुख भी होता है पर मैं सच कहता हूँ कि एक बात सोचकर संतोष हो जाता है कि चलो, कुछ कर रहे हैं और अपनी जान में किसी का बुरा नहीं कर रहे हैं, द्वेषवश कुछ नहीं कर रहे हैं। भूल से या ज्ञान से जो भी करते हैं, अपनी समझ में भला काम करते हैं,सबके हित का करते हैं। इससे शांति सी मिल जाती है।

खुश रहो।

शुभेच्छु
सीताराम

चंचल मुखर्जी, पाण्डेय हवेली, वाराणसी-221001 द्वारा प्रकाशित एवं रेनबो प्रिंटर्स, सिद्धगिरीबाग, वाराणसी से मुद्रित